फिरोजीलालजीने पुत्र-जन्मकी खुशीमें १० मई १९६३ को हमें दिल्ली बुलाया। डॉ० नरेन्द्रकुमारजी भी पहुँच गये थे। तय हुआ कि समयसार प्रवचनका प्रकाशन वर्णी ग्रन्थमालाके तत्त्वावधानमें लागतसे अलग वर्णी अहिंसा प्रतिष्ठान से करें और मूल प्रति पार्श्वनाथ दि० जैन उदासीनाश्रम ईसरीसे हम मँगा लें।

परन्तु कुछ महीनों बाद दुर्भाग्यवश उक्त व्यवस्था टूट गयी और हम निराश होकर चुप हो गये। दो वर्ष बाद लोगोंकी प्रेरणासे जिसमें सम्पादकजीकी प्रेरणा विशेष थी वर्णी-ग्रन्थमालासे उसे प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया। जैसा कि सम्पादकीयमें सम्पादकजीने उल्लेख किया है कि सम्पादित पाण्डुलिपिका मूल ग्रन्थसे मिलान और संशोधनका कार्य श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीने सानन्द किया है। निःसन्देह उनका यह योगदान स्तुत्य है।

अनेक ग्रन्थोंके सुयोग्य सम्पादक टीकाकार और समाजके श्रीमान् पण्डित पन्नालालजी वसन्त साहित्याचार्यने पूज्य वर्णीजीकी मेरी जीवनगाथाके दोनों भागोंकी तरह इसका भी तत्परता, परिश्रम और सूक्ष्म साहित्यिकताकी भाँति सम्पादन किया है। यद्यपि उनकी यह सम्पादित पाण्डुलिपि कुछ महीनोंमें ही तैयार हो गयी थी किन्तु ग्रन्थमालाके सामने तात्कालिक आर्थिक कठिनाई होने और नयी व्यवस्थाके जमानेमें श्रम और समय अपेक्षित होनेसे कुछ विलम्ब हो गया। साहित्याचार्यजी लिखा हुआ किसी भी हालतमें प्रकाश करना नहीं जानते। विद्वानोंकी नयी पीढ़ीमें दो ही साहित्यिक विद्वान् नजर आते हैं जो तत्परता और शीघ्रतासे साहित्यिक कार्योंको गति देते और उन्हें मूर्त रूप प्रदान करते हैं। वे हैं साहित्याचार्यजी और डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री आरा। हमें इन विद्वानोंपर गर्व है और खुशीकी बात यह है कि ग्रन्थमालाको इन दोनों विद्वानोंका सहकार प्राप्त है। डॉ० नेमिचन्द्रजी तो सहयोगी मंत्री भी हैं।

प्रस्तावनामें सम्पादकजीने कुन्दकुन्दस्वामी उनके समयसार एवं अन्य ग्रन्थों टीकाकारों टीकाग्रन्थों और ग्रन्थ विषयका विस्तारसे परिचयात्मक ऊहापोह किया है। अतः इस सम्बन्धमें और विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, एक अवधारणा दृष्टिसे कुन्दकुन्दके विदेह-गमनके प्रकाशक प्रमाणोंकी खोज निरन्तर जारी रहना चाहिए। साथ ही देवसेनके दर्शनसारगत उल्लेखपर जिसमें कुन्दकुन्दके विदेहगमनका स्पष्ट निर्देश है सन्देह नहीं किया जाना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्दका सुय केवली भणिय (१-१) विशेषण विशेष ध्यातव्य है। अमृतचन्द्रसूरिने इसका अर्थ श्रुतकेवलिभणित और केवलीभणित किया है जिसका तात्पर्य है कि कुन्दकुन्द एक समय-प्राभृतकी रचना कर रहे हैं जो श्रुत (श्रुतकेवली अथवा आगम) और केवली प्रतिपादित है। इससे जहाँ उसमें स्वरुचिविरचितत्वका परिहार किया गया है वहाँ श्रुतकेवली प्रतिपादित और केवली कथित तत्त्व होनेसे प्रामाणिकता भी प्रकट की गयी है। अतएव समीक्षकों एवं ऐतिहासिकोंके लिए कुन्दकुन्दका यह विशेषण और अमृतचन्द्रसूरि कृत उसका व्याख्यान उपेक्षणीय नहीं है। प्रमाणोंके सामने आनेपर कुन्दकुन्दके विदेहगमनपर और अधिक प्रकाश पड़ सकता है।

ऊपर कहा गया है कि वर्णी ग्रन्थमाला समाजके आर्थिक सहकारपर निर्भर है। अतएव इसके प्रकाशनकी एक योजना बनायी गयी कि यदि कुछ महानुभाव प्रस्तुत ग्रन्थकी १०० ५० २५ १० आदि प्रतियाँ खरीद लें या उतनी प्रकाशन-सहायता दे दें तो यह ग्रन्थ सरलतासे प्रकाशमें आ जायगा। तदनुसार हमने कुछ पत्र लिखे और कुछ स्थानोंपर गये। हमें प्रसन्नता है कि लगभग [illegible] ४०० प्रतियोंके पेशगी ग्राहक या सहायक हो गये। आज इन्हीं उदार सज्जनोंके सहयोगसे केवल साढ़े तीन माहमें ग्रन्थ छपकर तैयार हो गया। हम इन सभी आर्थिक सहयोगियोंके आभारी हैं।

[illegible] ला० फिरोजीलालजी जो पूज्य वर्णीजीके परमभक्तोंमें हैं और बड़े उदार प्रकृतिके हैं तथा डॉ०

प्राक्कथन

प्रस्तुत समयप्राभृत (समयसार) श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत अनुपम अध्यात्मग्रन्थ है। इसकी एक आत्मख्याति नामकी संस्कृत-टीका आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा तथा दूसरी तात्पर्यवृत्ति नामकी संस्कृत-टीका उनके बाद जयसेनाचार्य द्वारा रची गयी है। इसका सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद पण्डितप्रवर जयचन्द्रजीने किया है। यह अनुवाद अमृतचन्द्राचार्यकृत टीकापर आधृत है। इसका नाम आत्मख्याति-समयसार है।

समयसारके अध्येता उसकी रचनाकालके बादसे ही प्रायः अनेक आचार्य होते आये हैं। अनेक मनीषियोंने कुन्दकुन्दाचार्यको अपने ग्रन्थोंमें बहुमान देकर स्मरण किया है। भगवान् महावीर तथा गौतम गणधरके बाद यदि किसी आचार्यका उल्लेख मंगलाचरणमें मांगल्यप्रणेताके रूपमें किया गया है तो वह भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यका ही है।[1]

यद्यपि धर्मोपदेष्टा अन्य अनेक आचार्य भी हुए हैं तथापि श्रीकुन्दकुन्दका नाम उनके उत्तरवर्ती सभी आचार्योंकी जिह्वापर नृत्य करता आया है।

आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेनके उत्तरवर्तियोंमें इस ग्रन्थके अध्ययन करनेवालोंमें हिन्दीके कविवर बनारसीदासका नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने अपने अर्धकथानक में इसके अध्ययनकी चर्चा की है। इसके अतिरिक्त कविवरने नाटक समयसार नामसे छन्दोबद्ध रचना करके तो समयसारको हिन्दी जगतमें अमर बनाया है। हिन्दीके जैन कवियोंमें कविवर दौलतराम, द्यानतराय, भागचन्द्र आदिकी रचनाओंमें जो अध्यात्मके दर्शन होते हैं वह सब कुन्दकुन्दके समयसारका ही प्रभाव है। प्रतीत होता है कि ये विद्वान् उक्त महान् ग्रन्थके सुहृद् स्वाध्यायी थे।

पूज्य श्री १०५ वर्णी गणेशप्रसादजी महाराजने अपने जीवनके करीब ५० वर्ष इस महान् ग्रन्थके पारायणमें व्यतीत किये हैं। मेरे अध्ययनकालसे लेकर मेरा सम्पर्क पूज्य वर्णीजीसे था। यद्यपि हमारे न्यायशास्त्रके विद्यागुरु स्व० श्रीमान् न्यायाचार्य पं० अम्बादासजी शास्त्री थे जो पूज्य वर्णीजीके भी विद्यागुरु थे तथापि हम अपने सहाध्यायियोंके साथ वर्णीजीके पास भी उक्त विषय पढ़ते थे। इस नाते तथा सप्तम प्रतिमाधारी विद्वान् ब्रह्मचारी होनेके नाते भी हम सब उन्हें अपना गुरु ही मानते थे। वर्णीजीका मुझपर अत्यधिक स्नेह इस कारण भी था कि उन्होंने सप्तम प्रतिमाकी दीक्षा मेरे पूज्य पिता ब्रह्मचारी गोकुलप्रसादजीके पास ली थी। ऐसे महान् सन्तका स्नेहभाजन होना मेरा परम सौभाग्य था।

पूज्य वर्णीजीके मुखारविन्दसे समयसारके प्रवचन सुननेका अवसर प्रायः सदा मिलता था। मैं उन्हें प्रायः समयसारका ही स्वाध्याय करते पाता था। समयसार उनके लिए 'सुधानिधि' थे। वे कभी-कभी स्वप्नमें भी समयसारका स्वाध्याय किया करते थे और उनके समीप रहनेवाले उनके मुखसे सोते समय पंक्तियोंका पाठ सुनते थे।

---

१ मंगल भगवान् वीरो मंगल गौतमो गणी।
मंगलम् कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

सम्पादकीय

श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज, जिन्होंने ईसरीमें अन्तिम समय दिगम्बर मुनि-दीक्षा धारण कर श्री १०८ गणेशकीर्ति महाराज नामसे भाद्रपद कृष्ण ११ वि० सं० २०१८ को स्वर्गारोहण किया था, समयसारके माने हुए विद्वान् और कुशल प्रवक्ता थे। वे न्यायके आचार्य थे और सम्पूर्ण आगमपर पूर्ण अधिकार रखते थे। कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा विरचित समयसार आत्म तत्त्वका वर्णन करनेवाला सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। श्रीअमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्यने उसपर संस्कृत टीकाएँ लिखकर उसके गम्भीर भावको सरलतासे समझाकर जनसाधारणका बहुत उपकार किया है। यह समयसार वर्णीजी महाराजको अत्यन्त प्रिय था। जीवनके अन्तिम वर्षोंमें तो वे सर्व त्यज, एक भज के सिद्धान्तानुसार अन्य ग्रन्थोंसे अपना उपयोग हटाकर एक समयसार पर ही अपना उपयोग केन्द्रित करने लगे थे। उन्हें अमृतचन्द्रसूरि द्वारा विरचित आत्मख्याति सहित समयसार कण्ठस्थ था। उनके मुखारविन्दसे समयसारका प्रवचन सुनते समय श्रोताओंको जो आनन्द प्राप्त होता था उसका वर्णन वही कर सकता है जिसने कि उस प्रवचनको मनोयोगपूर्वक साक्षात् सुना है। समयसारका संस्कार उनके हृदयमें इतना अधिक आरूढ़ हो गया था कि वे स्वप्नमें भी इसका प्रवचन करते थे। ईसरीमें उनके समीप रहनेवाले लोगोंके मुखसे सुना है कि पूज्य वर्णीजी स्वप्नमें भी अमृतचन्द्रसूरिकी आत्मख्यातिके साथ समयसारकी कितनी ही गाथाएँ अविरल बोलते रहते थे। उनकी यह क्रिया स्वप्नमें जब कभी २०-२५ मिनिट तक अविरल चलती रहती थी।

इस समय समयसारके स्वाध्यायमें पर्याप्त वृद्धि हो रही है। जो समयसार शब्दका अर्थ नहीं समझते हैं, निश्चय और व्यवहार नयका स्वरूप नहीं जानते हैं वे भी हाथमें समयसार लिये देखे जाते हैं। कहना चाहिये कि यह समयसारका युग है। कुन्दकुन्द महाराजके हृदय-हिमालयसे जो अध्यात्मकी मन्दाकिनी प्रवाहित हुई उसकी सरस-शीतल धारामें अवगाहनकर संसार भ्रमणसे श्रान्त मानव परमशान्तिका अनुभव करें, यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। समयसारने अनगिनत जीवोंका कल्याण किया है। उसका स्वाध्याय कर अन्य अनेक धर्मी लोग शाश्वत कल्याणकारी दिगम्बर धर्ममें दीक्षित हुए हैं। कविवर बनारसीदासजी, शतावधानी रायचन्द्रजी और सोनगढ़के श्रीकानजी स्वामी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

सागरमें रहनेवाले लोगोंने पूज्य वर्णीजी महाराजसे जब इस बातका आग्रह किया कि महाराज! आप समयसारके अधिकारी विद्वान् हैं अधिकारी इसलिये कि आप न केवल हिन्दी टीकाओंके आधारसे इसके ज्ञाता हुए हैं किन्तु प्राकृत और संस्कृत भाषामें विरचित मूलग्रन्थ तथा उसकी संस्कृत-टीकाओंके एक-एक पदका विश्लेषणकर उसके ज्ञाता हुए हैं साथ ही आपकी प्रवचन-शैली भी आकर्षक एवं उच्चकोटिकी है, जिससे साधारण-से-साधारण श्रोता भी गहन तत्त्वको सरलतासे हृदयंगम कर लेता है। अतः आपके द्वारा इसकी टीका लिखी जावे—इसपर प्रवचन किये जावें, जिससे भविष्यमें भी जनता लाभान्वित होती रहे। सब लोगोंकी प्रार्थना सुनकर

बादमें इसके संपादनका कार्य शुरू किया। सम्पादन करते समय समयसारकी दोनों संस्कृत-टीकाओं तथा पं० जयचन्द्रजी कृत हिन्दी टीकाको सामने रखा गया तथा पूज्य वर्णीजीने जो लिखा है उसका उनसे मिलान किया गया। उन्होंने अपने इस प्रवचनमें अमृतचन्द्रसूरिके कलशोंपर व्याख्यान भी लिखा था—कहीं अर्थके रूपमें और कहीं भावार्थके रूपमें परन्तु मूल श्लोकोंको उद्धृत नहीं किया था। आज समयसारके अध्येताओंमें कलशोंके स्वाध्यायका भी प्रचार बढ़ रहा है। इसीकारण स्वतन्त्र टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं पर बीच-बीचमें समयसारकी गाथाओंका सम्बन्ध टूट जानेसे अपूर्णता-सी लगती है। अतः मैंने कलशोंके मूल श्लोक भी तत् तत् प्रकरणोंमें उद्धृत कर दिये तथा जहाँ जैसा आवश्यक दिखा उनका अर्थ और भावार्थको स्पष्ट कर दिया। वर्णीजीके द्वारा लिखित प्रतिमें अन्तके स्याद्वादाधिकारके प्रवचनके पृष्ठ नहीं मिले। ये पृष्ठ कहीं गुम गये या लिखे ही नहीं गये, इसका निर्णय नहीं हो सका। ग्रन्थ अपूर्ण न रहे इस भावनासे मैंने श्री जयचन्द्रजीकी हिन्दी-टीकाके आधारपर स्याद्वादाधिकारका हिन्दी-व्याख्यान स्वयं लिखकर जोड़ दिया है। वर्णीजीकी भाषा अपनी एक शैली स्वयं रखती है, उसमें यद्यपि आधुनिक खड़ी बोली और संस्कृतबहुल शब्दोंका आश्रय कम है तथापि उसमें माधुर्य है आकर्षण है और हृदयगत भावको प्रकट करनेकी अद्भुत क्षमता है। इसलिये परिमार्जनके नामपर उसमें उतना ही परिमार्जन किया गया है जितना कि अत्यन्त आवश्यक दिखा। कहीं-कहीं कुछ उदाहरण एकसे अधिक बार आ गये थे उन्हें अलग कर दिया।

इस ग्रन्थका सम्पादन करते समय अन्तरङ्गमें बड़ा आह्लाद था। ऐसा लगता था कि एक अपूर्व ग्रन्थ जनकल्याणके लिये सामने आ रहा है। इसलिये दिनभर संस्थाओंके कार्योंमें व्यस्त रहनेके बावजूद भी रात्रिके दो-दो बजे तक अथवा जब नींद खुल गई तभी यह कार्य होता रहा। ऐसा लगता था कि जैसे कोई अदृश्य शक्ति इस कार्यमें मुझे शक्ति प्रदान कर रही है।

ग्रन्थ तैयार होनेपर मुझे लगा कि इस ग्रन्थका सम्बन्ध एक ऐसे उच्च संयमी एवं ख्याति प्राप्त विद्वान् साधुसे है जो समाजमें जन जनकी श्रद्धाके भाजन थे और वर्तमानमें विद्यमान नहीं हैं। 'जीवन गाथाके' दूसरे भागको सम्पादनकर उनकी पाण्डुलिपियाँ उन्हें दिखाकर तथा अंशतः उन्हें सुनाकर अपने दायित्वसे मुक्त हो गया था। पर यह संस्करण उनके अभावमें प्रकाशित हो रहा है अतः चिन्तित था कि ग्रन्थमें कहीं कोई त्रुटि न रह जावे। फलतः मैंने इस ग्रन्थको किसीको भी दिखा देना उचित समझा। श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और पं० दरबारीलालजी कोठियाकी सम्मत्यनुसार सम्पादित पाण्डुलिपि श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनीके पास भेज दी। हर्षकी बात है कि उन्होंने पूज्य वर्णीजी द्वारा लिखित मूल प्रति तथा समयसारकी अन्य प्रतियोंको सामने रखकर आद्योपान्त उसका अवलोकन किया तथा जहाँ सुधार आवश्यक समझा उसकी एक सूची बनाई और उसे लेकर सागर पधारे। यहाँ ५ दिन रहे तथा सम्पादित पाण्डुलिपिको पूरा बाँचकर उत्साहपूर्वक आवश्यक सुधारोंको यथास्थान आयोजित कराया। मैं पण्डितजीकी इस तत्परतासे मन ही मन बड़ा प्रसन्न हो रहा था। इस तरह पण्डितजीके निरीक्षणके बाद पाण्डुलिपिकी पूर्णताके विषयमें मैं आश्वस्त हो सका। पण्डित जगन्मोहनलालजी एक-एक शब्द विचारोंको बड़ी बारीकीसे परखते हैं। समयसारका अनुभव भी आपका उत्तम है। इस कार्यमें उन्होंने जो सहयोग प्रदान किया उसके लिये मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

प्रस्तावना

प्रवचनसार श्री कुन्दकुन्दाचार्य और उनका प्रभाव

इस प्रवचनसारके अथवा समयसारके मूलकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य हैं। ये दिगम्बर जैनाचार्योंमें सर्वाधिक सम्मानप्राप्त एवं प्रसिद्धिको प्राप्त आचार्य हैं।

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

इस मङ्गलपद्यके द्वारा भगवान् महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतमके बाद कुन्दकुन्दस्वामीको मङ्गल कहा गया है। इनकी प्रशस्तिमें कविवर वृन्दावनका निम्नाङ्कित सवैया अत्यन्त प्रसिद्ध है जिसमें बतलाया है कि मुनीन्द्र कुन्दकुन्द-सा आचार्य न हुआ न है और न होगा—

जासके मुखारविन्दतें प्रकाश भास वृन्द
स्याद्वाद जैन बैन इन्दु कुन्दकुन्दसे
तासके अभ्यास तें विकास भेदज्ञान होत
मूढ़ सो लखै नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्दसे।
देत हैं असीस सीस नाय इन्दु चंद जाहि
मोह मार खंड मारतंड कुन्दकुन्दसे
विशुद्धि-बुद्धि-वृद्धिदा प्रसिद्ध-ऋद्धि-सिद्धिदा
हुए न हैं न होहिंगे मुनिंद कुन्दकुन्दसे॥

श्रीकुन्दकुन्दस्वामीके इस गुणस्तवनका कारण है उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्वका विशेषतया आत्मतत्त्वका विशद वर्णन। समयसार आदि ग्रन्थोंमें उन्होंने परसे भिन्न तथा स्वकीय गुण-पर्यायोंसे अभिन्न आत्माका जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने इसमें अध्यात्मधारारूप जिस मन्दाकिनीको प्रवाहित किया है उसके शीतल प्रवाहमें अवगाहनकर भवभ्रमण श्रान्त पुरुष आत्मशान्तिको प्राप्त करते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्यका विदेहगमन

श्रीकुन्दकुन्दस्वामीके विषयमें यह मान्यता प्रचलित है कि वे विदेहक्षेत्र गये थे और सीमन्धरस्वामीकी दिव्यध्वनिसे उन्होंने आत्मतत्त्वका स्वरूप प्राप्त किया था। विदेहगमनका सर्वप्रथम उल्लेख करनेवाले आचार्य देवसेन (वि० सं० का १० वीं शता) हैं। जैसा कि उनके दर्शनसारसे प्रकट है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥ ४३॥

दर्शनसार

इसमें कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ सीमन्धरस्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञानसे बोध न देते तो श्रमण—मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते।

इनके सिवाय रयणसार नामका ग्रन्थ भी कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा रचित प्रसिद्ध है। परन्तु उसके अन्दर पाये जानेवाले भिन्नरूप विचारसे विद्वानोंका मत है कि यह कुन्दकुन्दके द्वारा रचित नहीं है अथवा इसके अन्दर अन्य लोगोंकी गाथाएँ भी सम्मिलित हो गई हैं। इन्द्रनन्दीके श्रुतावतारके अनुसार षट्खण्डागमके आद्य भाग पर कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा रचित परिकर्म नामक टीकाका उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थका उल्लेख षट्खण्डागमके विशिष्ट व्याख्याकार आचार्य वीरसेनने अपनी टीकामें कई जगह किया है। इससे पता चलता है कि उनके समय तो यह उपलब्ध रहा परन्तु आजकल उसकी उपलब्धि नहीं है। शास्त्रभण्डारों—खासकर दक्षिणके शास्त्रभण्डारोंमें इसकी खोज की जाना चाहिये। मूलाचार भी कुन्दकुन्दस्वामीके द्वारा रचित माना जाने लगा है क्योंकि उसकी अन्तिम पुष्पिकामें (इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः । कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः) इत्यादि वसुनन्दि श्रमणका यह उल्लेख पाया जाता है।

कुन्दकुन्दस्वामीके समस्त ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। अतः उनका परिचय अनावश्यक मालूम होता है। समयसार या समयप्राभृत पाठकोंके हाथमें है अतः उसका परिचय देना आवश्यक जान पड़ता है।

समयप्राभृत (समयसार) नामकी सार्थकता

'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं' इस प्रतिज्ञावाक्यके 'मम परमविशुद्धिः शुद्ध चिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः' इस कलशाके तृतीय श्लोकमें तथा 'जो समयपाहुडमिणं पढिदूण अत्थतच्चदो णादुं' इस ग्रन्थकी अन्तिम गाथाके अनुसार प्रकृत ग्रन्थका नाम समयप्राभृत है समयसार नहीं। किन्तु पीछे चलकर नियमसार और प्रवचनसारके अनुसार इसका नाम भी समयसार प्रचलित हो गया। समयसार नाम प्रचलित होनेमें अमृतचन्द्रस्वामी द्वारा रचित आत्मख्याति टीकाके 'नमः समयसाराय' इस मङ्गलश्लोकमें समयसारशब्दका प्रयोग भी एक कारण है। अमृतचन्द्रस्वामीने समयका अर्थ जीव किया है—'टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः। समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः' अर्थात् टङ्कोत्कीर्ण चित्स्वभाववाला जो जीव नामका पदार्थ है वह समय कहलाता है। जो एक साथ समस्त पदार्थोंको जाने वह समय है ऐसी समय-शब्दकी निरुक्ति है। जयसेनाचार्यने भी 'सम्यक् अयः बोधो यस्य भवति स समयः आत्मा अथवा सम एकीभावेनायनं गमनं समयः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार समयका अर्थ आत्मा किया है। इन्हीं जयसेनाचार्यने प्राभृतका व्याख्यान करते हुए लिखा—'प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्य आत्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं अथवा समय एव प्राभृतं समयप्राभृतम्।' अर्थात् प्राभृतका अर्थ सार है, सार शुद्ध अवस्थाको कहते हैं अतः आत्माकी शुद्ध अवस्थाका नाम समयप्राभृत है। संस्कृत कोशोंमें प्राभृतका एक अर्थ उपहार या भेंट भी बतलाया गया है अतः आत्माकी जो भेंट है वह समयप्राभृत है। अथवा 'सम-एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् अयते गच्छति' अर्थात् जो अपने गुण और पर्यायोंके साथ एकीभावको प्राप्त हो वह समय है। इस निरुक्तिके अनुसार समयका अर्थ समस्त पदार्थ होता है। उनमें प्राभृत अर्थात् सारभूत पदार्थ जीवपदार्थ है। प्राभृतका एक अर्थ शास्त्र भी होता है अतः समयप्राभृतका अर्थ आत्माका शास्त्र है। 'प्रकर्षेण आ समन्तात् भृतम् इति प्राभृतम्' अर्थात् जो उत्कृष्टताके साथ सब ओरसे भरा हुआ हो—जिसमें पदार्थका पूर्वापरविरोध रहित साङ्गोपाङ्ग वर्णन हो उसे प्राभृत कहते हैं। इस ग्रन्थमें समय अर्थात् आत्मा अथवा समस्त पदार्थों—सब पदार्थोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन है इसलिये यह समयप्राभृत है।

समयके भेद

कुन्दकुन्दस्वामीने समय अर्थात् आत्माके स्वसमय और परसमय की अपेक्षा दो भेद किये हैं। जो

तात्पर्यवृत्तिके अनुसार कुछ गाथाएँ अधिक हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य सम्मत नयव्यवस्था

कुन्दकुन्दस्वामीने निश्चयनय और व्यवहारनयके भेदसे दो ही नय स्वीकृत किये हैं। वस्तुके स्वाश्रित और स्वाभिन्न—परनिरपेक्ष परिणमनको जाननेवाला निश्चयनय है और अन्य भिन्न तथा पराश्रित—परसापेक्ष परिणमनको जाननेवाला व्यवहारनय है। यद्यपि अन्य आचार्योंने निश्चयनयके शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये हैं। और व्यवहारनयके सद्भूत असद्भूत उपचरित अनुपचरित आदि भेदसे अनेक भेद स्वीकृत किये हैं। परन्तु कुन्दकुन्दस्वामीने इन भेदोंके चक्रमें न पड़कर सिर्फ उपर्युक्त दो भेद स्वीकृत किये हैं। अनन्त गुण-पर्यायोंसे अभिन्न आत्माकी परिणतिके कथनको उन्होंने निश्चयनयका विषय माना है और दूसरेके निमित्तसे होनेवाली आत्माकी परिणतिको व्यवहारनयका विषय माना है। निश्चयनय आत्मामें काम क्रोध मान माया लोभ आदि विकारोंको स्वीकृत नहीं करता। वे पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे होते हैं इसलिये उन्हें उसने पुद्गलके कह दिये हैं। इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदिके विकल्प आत्माके स्वभाव नहीं हैं अतः निश्चयनय उन्हें स्वीकार नहीं करता। इन सबको आत्माके कहना व्यवहारनयका विषय है। निश्चयनय स्वभावको विषय करता है विभावको नहीं। जो स्वमें स्वके निमित्तसे होता है वह स्वभाव है जैसे जीवके ज्ञानादि और जो स्वमें परके निमित्तसे होते हैं वे विभाव हैं जैसे जीवमें क्रोधादि। ये विभाव यतश्च आत्मामें ही परके निमित्तसे होते हैं इसलिये इन्हें कथंचित् आत्माके स्वीकृत करनेके लिये परवर्ती आचार्योंने निश्चयनयमें शुद्ध और अशुद्ध निश्चयका विकल्प स्वीकार किया है। परन्तु कुन्दकुन्द महाराज विभावको आत्माका मानना स्वीकृत नहीं करते—वे उसे व्यवहारनयका ही विषय मानते हैं।

निश्चय और व्यवहारनयमें भूतार्थग्राही होनेसे निश्चयनयको भूतार्थ और अभूतार्थग्राही होनेसे व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है। यहाँ व्यवहारनयकी अभूतार्थता निश्चयनयकी अपेक्षा है। स्वरूप और स्वप्रयोजनकी अपेक्षा नहीं। उसे सर्वथा अभूतार्थ माननेमें बड़ी आपत्ति दिखती है। श्रीअमृतचन्द्रस्वामीने ४६वीं गाथाकी टीकामें लिखा है—

व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद् भवत्येव बन्धस्याभावः। तथा रक्तद्विष्टविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः।

यही भाव तात्पर्यवृत्तिमें जयसेनाचार्यने भी दिखलाया है—

'यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यालम्बनरहित विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्वावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद् दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा निःशङ्कोपमर्दनं कुर्वन्ति जनाः। ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहित पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणम्। तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः।

इस अवतरणका भाव यह है—

उपेक्षितरूप है नयोंका नहीं अर्थात् इन्द्रियोंका विषय है और अनयपक्ष—नयातीतपनेसे जिसका मापन नहीं हो सकता।

सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूपका परिज्ञान प्राप्त करनेके लिए दोनों नयोंका आलम्बन लेता है। परन्तु पश्चात् वह अशुद्धनयके आलम्बनको हेय समझता है। यही कारण है कि वस्तु-स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान होने पर अशुद्धनयका आलम्बन स्वयं छूट जाता है। कुन्दकुन्दस्वामीने उभय नयोंके आलम्बनसे वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन किया है इसलिए वह निर्विवाद रूपसे सर्वग्राह्य है।

समयप्राभृतके अधिकारोंका प्रतिपाद्य विषय

(१) पूर्वरङ्ग—कुन्दकुन्दस्वामीने स्वयं पूर्वरङ्ग नामका कोई अधिकार सूचित नहीं किया है। परन्तु समयसारके टीकाकार अमृतचन्द्रसूरिने ३८ वीं गाथाकी समाप्ति पर पूर्वरङ्गकी समाप्तिकी सूचना दी है। इन ३८ गाथाओंमें प्रारम्भकी १२ गाथाएँ पीठिकारूपमें हैं जिनमें ग्रन्थकर्ताने मङ्गलाचरण, ग्रन्थ-प्रतिज्ञा, स्व-समय पर-समयका व्याख्यान तथा शुद्धनय और अशुद्धनयके स्वरूपका निरूपण कराया है। इन नयोंके ज्ञान बिना समयप्राभृतका समझना अशक्य है। पीठिकाके बाद १३वीं गाथासे ३८वीं गाथा तक पूर्वरङ्ग नामका अधिकार है जिसमें आत्माके शुद्ध स्वरूपका निरूपण कराया गया है। शुद्धनय आत्मामें जहाँ द्रव्यजनित विभावभावका स्वीकार नहीं करता वहाँ वह अपने गुण और पर्यायोंके साथ भेद भी स्वीकृत नहीं करता। वह इस बातको भी स्वीकृत नहीं करता कि आत्माके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये गुण हैं क्योंकि इनमें गुण और गुणीका भेद सिद्ध होता है। वह यह घोषित करता है कि आत्मा सम्यग्ज्ञानादिरूप है। आत्मा प्रमत्त है और आत्मा अप्रमत्त है इस कथनको भी शुद्धनय स्वीकृत नहीं करता क्योंकि इस कथनसे आत्मा प्रमत्त और अप्रमत्त पर्यायोंमें विभक्त होता है। वह तो आत्माको ज्ञायक ही स्वीकृत करता है। जीवाधिकारमें जीवके निज स्वरूपका कथन कर उसे परपदार्थों और परपदार्थोंके निमित्तसे जायमान विभावोंसे पृथक् निरूपित किया है। नोकर्म मेरा नहीं है, द्रव्यकर्म मेरा नहीं है और भावकर्म भी मेरा नहीं है इस तरह इन पदार्थोंसे आत्म-तत्त्वको पृथक् सिद्धकर ज्ञेयज्ञायकभाव एवं भाव्यभावकभावकी अपेक्षा भी आत्माको ज्ञेय तथा भाव्यसे पृथक् सिद्ध किया है। जिस प्रकार दर्पण अपनेमें प्रतिबिम्बित मयूरसे भिन्न है उसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञानमें आये हुए घट पटादि ज्ञेयोंसे भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण ज्वालाओंके प्रतिबिम्बसे संयुक्त होनेपर भी तज्जन्य तापसे उन्मुक्त रहता है उसी प्रकार आत्मा अपने अस्तित्वमें रहनेवाले कर्म-कर्मफलके अनुभवसे रहित है। इस तरह प्रत्येक परपदार्थसे भिन्न आत्माके अस्तित्वका श्रद्धान करना जीवतत्त्वके निरूपणका लक्ष्य है। इस प्रकरणके अन्तमें कुन्दकुन्दस्वामीने उद्गार किया है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि॥ ३८॥

अर्थात् निश्चयसे मैं एक हूँ, दर्शन-ज्ञानसे तन्मय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है।

इस सब कथनका तात्पर्य यह है कि यह जीव पुद्गलद्रव्यके संयोगसे उत्पन्न हुई संयोगज पर्यायमें आत्मबुद्धि कर उसकी इष्ट-अनिष्ट परिणतिमें हर्ष विषादका अनुभव करता हुआ व्यर्थ ही रागी-द्वेषी होता है और उनके निमित्तसे नवीन कर्मबन्धकर अपने संसारकी वृद्धि करता है। जब यह जीव परपदार्थोंसे भिन्न निज शुद्ध स्वरूपकी ओर लक्ष्य करने लगता है तब परपदार्थोंमें इसका ममत्वभाव स्वयमेव दूर होने लगता है।

का उदयकाल आता है तब इस जीवको सुख-दुःखका अनुभव होता है । परमार्थसे विचार किया जावे तो पुण्य और पाप दोनो प्रकारकी प्रकृतियोका बन्ध इस जीवको संसारमें ही रोकनेवाला है । इसलिये इनसे बचकर उस तृतीय अवस्थाको प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये, जो पुण्य और पाप दोनोके विकल्पसे परे है । इस तृतीय अवस्थामें पहुँचनेपर ही यह जीव कर्मबन्धसे बच सकता है । और कर्मबन्धसे बचनेपर ही जीव का वास्तविक कल्याण हो सकता है । उन्होने कहा है—

परमट्ठबाहिरा जे, अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणता ॥ १५४ ॥

जो परमार्थसे बाह्य है अर्थात् ज्ञानात्मक आत्माके अनुभवनसे शून्य है वे अज्ञानसे ससारगमनका कारण होनेपर भी पुण्यकी इच्छा करते है तथा मोक्षके कारणको जानते भी नही है ।

यहाँ आचार्य महाराजने कहा है कि जो मनुष्य परमार्थज्ञानसे रहित है वे अज्ञानवश मोक्षका साक्षात् कारण जो वीतरागपरिणति है उसे तो जानते नही है और पुण्यको मोक्षका साक्षात् कारण समझकर उसकी उपासना करते है । जब कि वह पुण्य संसारकी प्राप्तिका कारण है । कषायके मन्दोदयमे होनेवाली जीवकी जो शुभोपयोगरूप परिणति है उसे पुण्य कहते है, ऐसा पुण्य शुभकर्मके बन्धका करण है, कर्मक्षयका कारण नही है । परन्तु अज्ञानी जीव इस अन्तरको नही समझ पाता है । यहाँ पुण्यरूप आचरणका निषेध नही है किन्तु पुण्याचरणको मोक्षका मार्ग माननेका निषेध किया है । ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप पुण्याचरण करता है । पुण्याचरणको मोक्षका मार्ग माननेका निषेध किया है । ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके वैभवका उपभोग भी करता है । परन्तु श्रद्धामे यही भाव रहता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्षका साक्षात् कारण नही है तथा उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त हुआ है वह मेरा स्वपद नही है । यहाँ इतनी ध्यानमे रखनेके योग्य है कि जिस प्रकार पापाचरण बुद्धिपूर्वक छोडा जाता है उस प्रकार बुद्धिपूर्वक पुण्याचरण नही छोडा जाता—वह तो शुद्धोपयोगकी भूमिकामें प्रविष्ट होने पर स्वयं छूट जाता है ।

जिनागमका कथन नयसापेक्ष होता है, अत शुद्धोपयोगकी अपेक्षा शुभोपयोगरूप पुण्यको त्याज्य कहा गया है । परन्तु अशुभोपयोगरूप पापकी अपेक्षा उसे उपादेय बताया गया है । शुभोपयोगमे यथार्थमार्ग की सिद्धि [illegible] है परन्तु अशुभोपयोगमें उसकी संभावना ही नही है । जैसे प्रात काल सम्बन्धी सूर्यलालिमा-का फल सूर्योदय है और सायंकाल सम्बन्धी लालिमाका फल सूर्यास्त है । इसी आपेक्षिक कथनको अंगीकृत कर श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशमें शुभोपयोगरूप व्रताचरणसे होनेवाले देवपदको कुछ अच्छा कहा है और [illegible] होनेवाले नारकपदको बुरा कहा है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम् ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ २ ॥

चूँकि ज्ञानी जीवके राग-द्वेष और विमोहका अभाव है, इसलिये उसके बन्ध नही होता। वास्तवमें रागादिक भाव ही बन्धके कारण है।

यह आस्रवाधिकार १६४ से १८० गाथा तक चलता है।

संवराधिकार

आस्रवका विरोधी तत्त्व सवर है अत आस्रवके बाद ही उसका वर्णन किया जा रहा है। 'आस्रव-निरोध सवर' आस्रवका रुक जाना सवर है। यद्यपि अन्य ग्रन्थकारोने गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चरित्रको सवर कहा है किन्तु इस अधिकारमें कुन्दकुन्दस्वामीने भेदविज्ञानको ही सवरका मूल कारण बतलाया है। उनका कहना है कि उपयोग, उपयोगमें ही है, क्रोधादिकमें नही है और क्रोधादिक क्रोधादिकमें ही है उपयोगमें नही है। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही आत्मासे भिन्न है अत उनसे भेदज्ञान प्राप्त करनेमें महिमा नही है, महिमा तो उन रागादि भावकर्मोंसे अपने ज्ञानोपयोगको भिन्न करनेमें है, जो तन्मयीभावको प्राप्त होकर एक दिख रहे है। अज्ञानी जीव इस ज्ञानधारा और रागादिधाराको भिन्न-भिन्न नही समझ पाता, इसीलिये वह किसी पदार्थका ज्ञान होनेपर उनमें तत्काल राग-द्वेष करने लगता है। परन्तु ज्ञानी जीव इन दोनों धाराओंके अन्तरको समझता है इसलिये वह किसी पदार्थको देखकर उनका ज्ञाता दृष्टा तो रहता है परन्तु रागी, द्वेषी नही बनता। जहाँ यह जीव रागादिकको अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावसे भिन्न अनुभव करने लगता है वहीं उनके सम्बन्धसे होने वाले राग-द्वेषसे बच जाता है। राग-द्वेषसे बच जाना ही सच्चा सवर है। किसी वृक्षको उखाडना है तो उसके पत्ते नोचनेसे काम नही चलेगा, उसकी जडपर प्रहार करना होगा। इसी तरह आस्रव और बन्धको रोकना है तो मात्र क्रियाकाण्डसे काम नही चलेगा, किन्तु उसकी जडपर प्रहार करना होगा। रागद्वेषकी जड है परपदार्थोंमें आत्मीयभाव—उनको अपना मानना। अत भेद-ज्ञानके द्वारा उन्हें अपने स्वरूपसे पृथक् समझना यही उनके नष्ट करनेका वास्तविक उपाय है। इस भेद-विज्ञानकी महिमाका गान करते हुए श्रीअमृतचन्द्रसूरिने कहा है—

> भेदविज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
> अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥ ३१ ॥

जितने आज तक सिद्ध हुए है वे सब भेदविज्ञानसे ही सिद्ध हुए है और जितने ससारमे बद्ध है वे भेद-विज्ञानके अभावसे ही बद्ध है।

गौणता कर ऐसा कथन किया जाता है कि सम्यग्दृष्टिके निर्जरा ही होती है, बन्ध नहीं। इसी निर्जराधि-कारमें कुन्दकुन्दस्वामीने सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका विशद वर्णन किया है।

यह अधिकार १९३ से लेकर २३६ गाथा तक चलता है।

बन्धाधिकार

आत्मा और पौद्गलिक कर्म दोनों ही स्वतन्त्र द्रव्य है और दोनोंमें चेतन-अचेतनकी अपेक्षा पूर्व पश्चिम जैसा अन्तर है। फिर भी इनका अनादिकालसे संयोग बन रहा है। जिस प्रकार चुम्बकमें लोहेको खींचनेकी और लोहामें खिंचनेकी योग्यता है, इसी तरह आत्मामें कर्मरूप पुद्गलको खींचनेकी और कर्मरूप पुद्गलमें खिंचनेकी योग्यता है। अपनी-अपनी योग्यताके कारण दोनोंका एकक्षेत्रावगाह हो रहा है। इसी एकक्षेत्रावगाहको बन्ध कहते हैं। इन बन्धदशाके कारणोंका वर्णन करते हुए आचार्यने स्नेह अर्थात् रागभाव-को ही प्रमुख कारण बतलाया है। अधिकारके प्रारम्भमे ही वे एक दृष्टान्त देते है कि जिस प्रकार धूलि-बहुल स्थानमें कोई मनुष्य शस्त्रोंसे व्यायाम करता है, ताड तथा केले आदिके वृक्षोको छेदता भेदता है, इस क्रिया-से उसके शरीरके साथ धूलिका सम्बन्ध होता है सो इस सम्बन्धके होनेमें कारण क्या है? उस *व्यायामकर्ता*-के शरीरमें जो स्नेह—तैल लग रहा है वही उसका कारण है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव इन्द्रियविषयोंमें व्यापार करता है उस व्यापारके समय जो कर्मरूपी धूलिका सम्बन्ध उसकी आत्माके साथ होता है उसका कारण क्या है? उसका कारण भी उसकी आत्मामें विद्यमान स्नेह अर्थात् रागभाव है। यह रागभाव जीव-का स्वभाव नहीं, किन्तु विभाव है और वह भी द्रव्यकर्मकी उदयावस्थारूप कारणसे उत्पन्न हुआ है। आस्र-वाधिकारमें आस्रवके जो चार प्रत्यय—मिथ्यादर्शन, अविरमण, कषाय और योग बतलाये है वे ही बन्धके भी प्रत्यय—कारण हैं। इन्हीं प्रत्ययोंका संक्षिप्त नाम राग-द्वेष अथवा अध्यवसानभाव है। इन अध्यवसान भावोंका जिनके अभाव हो जाता है वे शुभ-अशुभकर्मोंके साथ बन्धको प्राप्त नहीं होते। जैसा कि कहा है—

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति॥ २८०॥

जैसे स्फटिक पाषाण आप शुद्ध है वह स्वयं लालिमा आदि रूप परिणमन नहीं करता परन्तु लाल आदि डंकोंके सम्पर्क आदिसे तद्रूप परिणमन करता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव आप शुद्ध है वह स्वयं राग आदि विभाव भावरूप परिणमन नहीं करता है किन्तु अन्य राग आदि दोष—द्रव्यकर्मोदय जनित विकारोंसे रागादि विभाव भावरूप परिणमन करता है।

श्री अमृतचन्द्रस्वामीने भी निम्न कलशके द्वारा उक्त भावका निरूपण किया है—

> न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः ।
> तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥ १७५ ॥

जिस प्रकार अर्ककान्त—स्फटिकमणि स्वयं ललाई आदिको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार आत्मा स्वयं रागादिके निमित्तभावको प्राप्त नहीं होता। उसमें निमित्त परद्रव्यका संयोग ही है। वस्तुका स्वभाव ही यह है किसीका किया नहीं है।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभावके अन्तरको समझता है। वह स्वभावको तो अकारण मानता है पर विभावको सकारण ही मानता है। ज्ञानी जीव स्वभावमें स्वत्वबुद्धि रखता है और विभावमें परत्वबुद्धि। इसीलिए वह बन्धसे बचता है।

यह अधिकार २३७ से लेकर २८७ गाथा तक चलता है।

मोक्षाधिकार

आत्माकी सब कर्मोंसे रहित जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्द ही इसके पूर्व होनेवाली बद्ध अवस्थाका प्रत्यय कराता है। मोक्षाधिकारमें मोक्षप्राप्तिके कारणोंका विचार किया गया है। प्रारम्भमें ही कुन्दकुन्दस्वामी लिखते हैं—जिस प्रकार चिरकालसे बन्धनमें पड़ा हुआ कोई पुरुष उस बन्धनके तीव्र मन्द या मध्यम स्वभावको जानता है तथा उसके कालको भी समझता है परन्तु यदि उस बन्धनको—बेड़ीको छेदन नहीं करता है तो वह उस बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो जीव कर्मबन्धके प्रकृति प्रदेश स्थिति और अनुभाग बन्धको जानता है परन्तु उस बन्धको छेदनेका पुरुषार्थ नहीं करता तो वह उस कर्मबन्धसे मुक्त नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भमें कुन्दकुन्दस्वामीने बड़ी उत्कृष्ट बात कही है। वह उत्कृष्ट बात है सम्यक्चारित्र। हे जीव! तुझे श्रद्धान है कि मैं कर्मबन्धनसे बद्ध हूँ और बद्ध होनेके कारणोंको भी जानता है परन्तु तेरा यह श्रद्धान और ज्ञान तुझे कर्मबन्धनसे मुक्त करनेवाला नहीं है, मुक्त करानेवाला तो यथार्थश्रद्धान और ज्ञानके साथ होनेवाला चारित्ररूप पुरुषार्थ ही है। जबतक तू इस पुरुषार्थको अंगीकृत नहीं करेगा तबतक बन्धनसे मुक्त होना दुर्लभ है। मात्र श्रद्धान और ज्ञानको लिये हुए तेरा सागरों पर्यन्तका दीर्घकाल यों ही निकल जाता है पर तू बन्धनसे मुक्त नहीं हो पाता। परन्तु उस श्रद्धान और ज्ञानके साथ जहाँ चारित्ररूप पुरुषार्थको अंगीकृत करता है वहाँ तेरा कार्य बननेमें विलम्ब नहीं लगता। यहाँ तक कि अन्तर्मुहूर्तमें भी काम बन जाता है।

हे जीव! तू मोक्ष किसका करना चाहता है? आत्माका करना चाहता हूँ। पर इस संयोगीपर्यायके अन्दर तूने आत्माको समझा या नहीं? इस बातका तो विचार कर। कहीं इस संयोगीपर्यायको ही तो तू आत्मा नहीं समझ रहा है। मोक्षप्राप्तिका पुरुषार्थ प्रारम्भ करनेके पहले आत्मा और बन्धको समझना आवश्यक है। कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं
बंधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेतव्वो ॥२९५॥

जीव और बन्ध अपने-अपने लक्षणोंसे जाने जाते हैं। सो जानकर बन्ध तो छेदनेके योग्य है और शुद्ध आत्मा ग्रहण करने योग्य है।

शिष्य कहता है भगवन्! वह लक्षण तो बताओ, जिसके द्वारा मैं आत्माको समझ सकूँ। उत्तरमें कुन्दकुन्दमहाराज कहते हैं—

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥२९६॥

उस आत्माका ग्रहण कैसे किया जावे? प्रज्ञा—भेदज्ञानके द्वारा आत्माका ग्रहण किया जावे। जिस तरह प्रज्ञासे उसे विभक्त किया था उसी तरह प्रज्ञासे उसे ग्रहण करना चाहिये।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥२९७॥

प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करने योग्य जो चेतयिता है वही मैं हूं और अवशेष जो भाव है वे मुझसे पर हैं।

इस प्रकार स्वपरके भेदविज्ञानपूर्वक जो चारित्र धारण किया जाता है वही मोक्षप्राप्तिका वास्तविक उपाय है। चारित्रकी परिभाषा करते हुए कुन्दकुन्दस्वामीने प्रवचनसारमें कहा है—

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥

चारित्र ही वास्तवमें धर्म है, और सम परिणाम धर्म है तथा मोह—मिथ्यात्व और क्षोभ—रागद्वेषसे रहित आत्माकी जो परिणति है वही साम्यभाव है।

व्रत, समिति, गुप्ति आदि इसी साम्यभावरूप चारित्रकी प्राप्तिमें साधक होनेसे चारित्र कहे जाते हैं। यह अधिकार २२८ से लेकर ३०७ गाथा तक चलता है।

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

आत्माके अनन्त गुणोंमें ज्ञान ही सबसे प्रमुख गुण है। उसमें किसी प्रकारका विकार शेष न रह जाय, इसलिए पिछले अधिकारोंमें उक्त-अनुक्त बातोंका एक बार फिरसे विचार कर ज्ञानको सर्वथा निर्दोष बनानेका प्रयत्न इस सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारमें किया गया है।

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥२२१॥

कितने ही लोग अपनी एकान्त उपादानकी मान्यताका समर्थन करनेके लिये इस कलशका अवतरण दिया करते हैं। पर वे इसमें पड़े हुए एव शब्दकी ओर दृष्टिपात नहीं करते। यहाँ अमृतचन्द्रसूरि एव शब्दके द्वारा यह प्रकट कर रहे हैं कि जो रागकी उत्पत्तिमें परद्रव्यको ही कारण मानते हैं स्वद्रव्यको कारण नहीं मानते वे मोहनदीको नहीं तर सकते। रागादिककी उत्पत्तिमें परद्रव्य निमित्त कारण है और स्वद्रव्य उपादानकारण है। जो जो पुरुष स्वद्रव्यरूप उपादानकारणको न मानकर परद्रव्यको ही कारण मानते हैं—मात्र निमित्तकारणसे उनकी उत्पत्ति मानते हैं वे मोहनदीको नहीं तर सकते। यह ठीक है कि निमित्त कार्यरूप परिणत नहीं होता परन्तु कार्यकी उत्पत्तिमें उसका साहाय्य अनिवार्य आवश्यक है। अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति होती है। जिनागमकी यह निर्विवाद मान्यता सनातन है।

ज्ञाता परका—कर्मका कर्ता नहीं है यह सिद्धकर ज्ञानी जीवको कर्मचेतनासे रहित सिद्ध किया गया है। इसी तरह ज्ञानी जीव अपने ज्ञायकस्वभावका ही भोक्ता है कर्मफलका भोक्ता नहीं है यह सिद्धकर कर्मफलचेतनासे उसे रहित सिद्ध किया है। ज्ञानी तो एक ज्ञानचेतनासे ही सहित है उसीके प्रति उसकी स्वत्वबुद्धि रहती है।

इस अधिकारके अन्तमें एक बात और बड़ी गम्भीर कही गई है। कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि कितने ही लोग मुनिलिङ्ग अथवा गृहस्थके नानालिङ्ग धारण करनेकी प्रेरणा इसलिये करते हैं कि ये मोक्षके मार्ग हैं परन्तु कोई लिङ्ग मोक्षका मार्ग नहीं है। मोक्षका मार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। इसलिये—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥ ४१२॥

मोक्षमार्गमें आत्माको लगाओ उसीका ध्यान करो उसीका चिन्तन करो और उसीमें विहार करो अन्य द्रव्योंमें नहीं।

इस निश्चयपूर्ण कथनका कोई यह फलितार्थ न निकाल ले कि कुन्दकुन्दस्वामी मुनिलिङ्ग और श्रावकलिङ्गका निषेध करते हैं। इसलिए वे लगे हाथ अपनी नयविवक्षाको प्रकट करते हैं—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे ।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

परन्तु व्यवहारनय दोनों लिङ्गोंको मोक्षमार्गमें कहता है और निश्चयनय मोक्षमार्गमें सभी लिङ्गोंको इष्ट नहीं मानता।

इस तरह विवादके स्थलोंको कुन्दकुन्दस्वामी तत्काल स्पष्ट करते हुए चलते हैं। जिनागमका कथन नयविवक्षापर अवलम्बित है यह तो सर्व सम्मत बात है। इसलिये व्याख्यान करते समय वक्ता अपनी नयविवक्षाको प्रकट करते चलें और श्रोता भी उस नयविवक्षासे व्याख्यात तत्त्वको उसी नयविवक्षासे ग्रहण करनेका प्रयास करें तो विसंवाद उत्पन्न होनेका अवसर नहीं आ सकता।

यह अधिकार ३०८ से लेकर ४१५ गाथा तक चलता है।

स्याद्वादाधिकार

यह अधिकार श्री अमृतचन्द्रस्वामीने स्वरचित आत्मख्याति टीकाके अन्तस्वरूप लिखा है। इसमें

स्पष्ट है कि समयप्राभृत अध्यात्मग्रन्थ है। अध्यात्मग्रन्थोंका वस्तुतत्त्व सीधा आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाला होता है। इसलिये इनके कथनमें निश्चयनयका आलम्बन प्रधानरूपसे लिया जाता है, परपदार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यवहारनयका आलम्बन गौण रहता है। जो श्रोता दोनो नयोंके प्रधान और गौण भावपर दृष्टि नहीं रखते हैं उन्हें भ्रम हो सकता है। उनके भ्रमका निराकरण करनेके उद्देश्यसे ही अमृतचन्द्रस्वामीने इस अधिकारका अवतरण किया है।

इस अधिकारमें उन्होंने स्याद्वादके वाच्यभूत अनेकान्तका समर्थन करनेके लिये तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक नयोंसे आत्मतत्त्वका निरूपण किया है। अन्तमें कलश-काव्योंके द्वारा इसी बातका समर्थन किया है। अमृतचन्द्रस्वामीने अनेकान्तको परमागमका जीव—प्राण और समस्त नयोंके विरोधको नष्ट करनेवाला माना है। जैसा कि उन्होंने स्वरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थके मङ्गलरूपमें कहा है—

परमागमस्य जीव निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसिताना विरोवमथन नमाम्यनेकान्तम् ॥

आत्मख्याति टीकाके प्रारम्भमें भी उन्होंने यही आकाक्षा प्रकट की है—

अनन्तधर्मणस्तत्त्व पश्यन्ती प्रत्यगात्मन ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥

अनन्तधर्मात्मक परमात्मतत्त्वके स्वरूपका अवलोकन करनेवाली अनेकान्तमयी मूर्ति निरन्तर ही प्रकाशमान रहे।

इसी अधिकारमें जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति आदि ४७ शक्तियोंका निरूपण किया है जो नयविवक्षाके परिज्ञानसे ही सिद्ध होती हैं। इन शक्तियोंका विवेचन ग्रन्थकी टीकामें किया गया है। इसी अधिकारमें उपायोपेयभावका भी विचार किया है। उसमें एक ज्ञानमात्र आत्मामें ही उपाय और उपेयभावका समर्थन किया है। वही आत्मा साधक है और वही आत्मा सिद्ध भी है। अन्तमें १ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति, ३ स्यादस्तिनास्ति, ४ स्यादवक्तव्य, ५ स्यादस्ति अवक्तव्य, ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्य और ७ स्यादस्ति-नास्ति अवक्तव्य इन सात भङ्गोंके द्वारा द्रव्यका निरूपण किया है।

संस्कृतटीकाकारोंका परिचय

अमृतचन्द्रसूरि

जैनमन्दिरके समीप उनका घर था । मन्दिरमें होनेवाली पद्मपुराणकी वचनिका सुनकर बालक गणेशप्रसादकी जैनधर्मकी ओर रुचि जागृत हुई और वह उत्तरोत्तर इतनी वृद्धिगत होती गई कि उसने इन्हें दिगम्बर मुद्रामें दीक्षित कराया ।

आपने धर्ममाता श्री चिरोंजाबाईजीके संपर्कमें आकर बहुत कुछ पाया । वाराणसी, खुर्जा, नदिया, मथुरा, आदि स्थानोंमें रहकर संस्कृतभाषा और नव्यन्यायका उच्च अध्ययन किया । गवर्नमेन्ट क्वीन्स कालेज बनारससे न्यायाचार्य परीक्षा पास की । बनारसका स्याद्वाद महाविद्यालय और सागरका गणेश दि० जैन विद्यालय स्थापित कर आपने जैन समाजमे संस्कृत तथा धार्मिक विद्याका भारी प्रचार किया ।

आप पहले वर्णी, फिर क्षुल्लक और अन्तिम समयमे दिगम्बर मुनि पदके धारक हुए । आपने अगणित मानवोंका कल्याण किया । 'मेरी जीवनगाथा' प्रथम और द्वितीय भाग स्वलेखनीसे लिखकर समाजके लिये आपने अपने जीवनकी उदात्त घटनाओंसे परिचित कराया है। समयसार आपका प्रिय विषय था । वर्षों आपने इसका मनन किया था । और उसके बाद यह टीका अपने लिखी थी । आपके हाथकी लिखी प्रति श्री ग० वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसीमें सुरक्षित है । पत्रलेखनकलामें आपकी प्रतिभा अद्भुत थी । आपने अपने भक्त-जनोंको सैकड़ों पत्र लिखे हैं, जिनमें तत्त्वका अच्छा उपदेश भरा हुआ है । उन पत्रोंके कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । आप प्रवचनकलाके पारगत विद्वान् थे । कठिन-से-कठिन विषयको इतनी सरलतासे समझाते थे कि श्रोता मन्त्रमुग्ध-से रह जाते थे । 'वर्णी-वाणी'के नामसे आपके उपदेशों, सन्देशों एव पत्रोंका चार भागोंमें प्रकाशन ग० वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसीसे हो चुका है ।

विक्रम संवत् २०१८ भाद्रपद कृष्णा ११ को ईसरीमें मुनि अवस्थामें आपका समाधिमरण हुआ । खेद है कि उनकी यह रचना उनके जीवनकालमें प्रकाशित नही हो सकी । आपका मुनि अवस्थाका नाम श्री १०८ गणेशकीर्ति महाराज था ।

सागर
भाद्र शुक्ला १०,
२०२६ विक्रमाब्द,

विनीत
पन्नालाल जैन

विषय-सूची

पुण्यपापाधिकार

आस्रवाधिकार

संवराधिकार

निर्जराधिकार

बन्धाधिकार

स्याद्वादाधिकार

आध्यात्मिक संत प्रशममूर्ति श्री गणेशप्रसाद वर्णी

द्रव्योंमे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सर्वथा शुद्ध है—इनमे कोई प्रकारका विभाव परिणमन नही होता, सर्वदा इन द्रव्योका एक सदृश परिणमन रहता है। शेष जो जीव और पुद्गल द्रव्य है वे स्वभावरूप भी परिणमते है और विभावरूप भी। जब वे जीव और पुद्गल केवल अपनी अवस्थामे (अलग-अलग) रहते है तब उनका परिणमन शुद्ध ही रहता है और जबतक जीव तथा पुद्गलकी परस्पर अनादिकालसे आगत बन्धावस्था रहती है तबतक अशुद्ध परिणमन रहता है। हाँ, इतनी विलक्षणता है कि पुद्गल द्रव्यकी अशुद्धावस्था जीवके साथसे भी होती है और पुद्गलके सम्बन्धसे भी। किन्तु जीवकी अशुद्धावस्था केवल पुद्गलके सम्बन्धसे ही होती है। अत इस ससारमे अनादिकालसे यह जीव कर्मरूप पुद्गलके सम्बन्धसे निरन्तर अशुद्धावस्थाका पात्र हो रहा है और जबतक अशुद्धावस्था रहेगी तबतक ससारका पात्र रहेगा। ससारी होनेसे ससारमे जो सुख-दुःख होता है उसका वह भोक्ता भी होता है[1]। जब इस जीवका ससार अल्प रहता है तब इस जीवको यह विचार होता है कि मेरा निज शुद्ध स्वभाव तो परको केवल देखना और जानना है, मैं जो उनको अपना इष्ट-अनिष्ट मानता हूँ यह मेरी अज्ञानता है। जैसे दर्पणमे पदार्थके प्रतिबिम्बित होनेसे दर्पण कुछ पदार्थ नही हो जाता, केवल घटपटादि पदार्थोके सम्बन्धसे दर्पणका घटपटादि प्रतिबिम्बरूप परिणमन हो जाता है। यह परिणमन दर्पणकी ही स्वच्छताका विकार है। विकारका अर्थ परिणमन ही है। इसी तरह आत्मद्रव्य ज्ञानादिगुणोका पिण्ड है। उसके ज्ञानगुणमे यह विशेषता है कि उसके समक्ष जो भी पदार्थ आता है उसके ज्ञातृत्वरूप परिणमनका वह कर्ता होता है, वह ज्ञान अन्य ज्ञेयरूप नही हो जाता। परन्तु अनादिकालीन आत्माके साथ ज्ञानशक्तिके सदृश एक विभावनामकी शक्ति है जिसके कारण आत्मामे मोहनीयकर्मके निमित्तसे अनर्थका मूल मोह उत्पन्न होता है। इसी मोहके उदयमे आत्मा विभ्रान्त दशाका पात्र होता है और उस विभ्रान्तदशामे परमे निजत्वकी कल्पना कर रागी-द्वेषी होता है और उनके वशीभूत होकर जो अनर्थ करता है वह किसीसे छिपा नही है। इसी चक्रका नाम ससार है। इस ससारसे मुक्त होनेके अर्थ महात्माओंने एक ही मार्ग निर्दिष्ट किया है। वह है निज स्वभावका आलम्बन। उसका आलम्बन होते ही जीव बन्धनसे छूट जाता है। अत जिन जीवोको आत्मकल्याणकी अभिलाषा है वे उन ससारी, जो कर्मबन्धनसे छूट गये है, उपासना कर स्व-स्वरूपकी प्राप्तिकी दिशामे बढ़ें। इसी अभिप्रायको लेकर श्रीकुन्दकुन्द महाराजने प्रथम ही इस समयप्राभृतमे सिद्धभगवान्‌को नमस्कार किया है। 'ध्रुव, अचल और अनुपम गतिको जिन्होने प्राप्त किया है ऐसे सिद्ध परमात्माको नमस्कार कर मैं श्रुतकेवलीके द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृत कहूँगा' ऐसा कहनेसे आचार्य महा-

अतएव निरुपम है। ऐसी सिद्धगतिको प्राप्त सिद्धभगवान्‌का भाववचनोके द्वारा अपने आत्मामे ध्यान कर और द्रव्यवचनो द्वारा परात्मामे ध्यान कराके श्रीकुन्दकुन्दस्वामी अपने और पराये मोहके नाशके अर्थ द्वादशाङ्गका अवयवभूत जो समयसारप्राभृत है उसका परिभाषण करते है। यह समय प्राभृत प्रमाणभूत है क्योकि यह अनादिनिधन श्रुतके द्वारा कहा गया है। इसके मूलकर्ता सर्वज्ञ है तथा उनकी दिव्यध्वनिका निमित्त पाकर श्रीगणधरदेव भी इसके प्रकटकर्ता है। वास्तवमे समयनामक पदार्थ अनादिनिधन है, ये तो सूर्यकी तरह उसके प्रकाशक है, परमतकल्पित ईश्वरकी तरह कर्ता नही है ॥ १ ॥

श्रीअमृतचन्द्र स्वामीने समयसारके ऊपर आत्मख्यातिनामक टीका लिखी है, जो श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके भावको हृदयङ्गम करानेमे अत्यन्त सहायक है। मैने इस विवरणमे उसी आत्मख्यातिका अधिकाश आश्रय लिया है। आत्मख्यातिटीकामे अमृतचन्द्रस्वामीने अनेक श्लोक लिखे है, जो कलशके नामसे प्रसिद्ध है तथा तत्त्वके निरूपण करने और अभिप्रायके निर्मल बनानेमे परम सहायक है। इस विवरणमे उन कलशोका भी विवरण है। ग्रन्थकी टीकाके प्रारम्भमे वे लिखते है—

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥ १ ॥

अर्थ—मै समयसार अर्थात् समस्त पदार्थोमे श्रेष्ठ उस आत्मतत्त्वको नमस्कार करता हूँ जो स्वानुभूतिसे स्वयं प्रकाशमान है, चैतन्यस्वभाववाला है, शुद्ध सत्तारूप है और समस्त पदार्थोका जाननेवाला है अथवा चैतन्य स्वभावसे भिन्न समस्त रागादिक विकारीभावोको नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—षड्द्रव्यात्मक ससारमे स्वपरावभासक होनेसे आत्मद्रव्य ही सारभूत है, वह आत्मद्रव्य स्वानुभूतिसे प्रकाशमान है, चैतन्यस्वभावको लिये हुए है, अनाद्यनन्त काल तक स्थित रहनेसे सत्तारूप है, तथा अपनी ज्ञायकशक्तिमे लोकालोकके समस्त पदार्थोको जाननेवाला है तथा चैतन्यस्वभावसे अतिरिक्त आत्माके जितने अन्य विकारीभाव है उन्हे पृथक् करनेवाला है। ग्रन्थके प्रारम्भमे उसी शुद्ध आत्मतत्त्वको नमस्कार किया गया है।

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

मालिनीछन्द

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

अर्थ—इस समयसारकी व्याख्यासे मेरी अनुभूतिकी परम विशुद्धता प्रकट हो। यद्यपि मेरी यह अनुभूति शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्तिसे युक्त है अर्थात् परम शान्तभावसे सहित है तथापि वर्तमानमें परपरिणतिका कारण जो मोहनामा कर्म है उसके उदयरूप विपाकसे निरन्तर रागादिकी व्याप्तिसे कल्माषित—मलिन हो रही है।

भावार्थ—आत्माका स्वभाव तो पदार्थका जानना मात्र है। परन्तु अनादिकालसे जो मोह कर्म इसके साथ लगा हुआ है जो इसको परपदार्थोंमें रागद्वेषादिरूप परिणति करानेमें निमित्त कारण है उसी मोहकर्मके उदयसे मेरी यह अनुभूति—ज्ञानपरिणति अनुभाव्य—रागादिक परिणामोंकी व्याप्तिसे मलिन हो रही है अर्थात् पदार्थोंको जानकर उनमें इष्ट-अनिष्ट कल्पना करके अशुद्ध हो रही है सो समयसारकी व्याख्यासे मेरी अनुभूतिमें परम विशुद्धता आ जावे—उसमेंसे इष्ट-अनिष्टका भाव निकल जावे यही मैं चाहता हूँ। समयसारकी व्याख्या करनेका मेरा यह प्रयोजन है।

आगे वह समय क्या है? यह कहते हैं—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

अर्थ—जो जीव दर्शन ज्ञान और चारित्रमें स्थित है उसे स्वसमय जानो और जो पुद्गल कर्मप्रदेशोंमें स्थित है उसे परसमय जानो।

विशेषार्थ—जीवका स्वभाव देखने जाननेका है क्योंकि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं वे ही पदार्थ ज्ञानमें प्रतिभासमान होते हैं अतः आत्माका ज्ञान भी सामान्यविशेषात्मक है। ज्ञान एक ऐसा गुण है जो प्रकाशकी तरह स्वपरप्रकाशक है अर्थात् परको जानता है और अपनेको जानता है। केवलीका ज्ञान अक्रमवर्ती है अर्थात् स्वपरपदार्थोंमें युगपद् प्रवर्तमान होता है परन्तु छद्मस्थोंका ज्ञान क्रमवर्ती है अर्थात् स्वपरपदार्थोंको क्रमसे जानता है। जिस समय परको जानता है उस समय उपयोग परकी ओर रहता है। ऐसा व्यवहार भी होता है कि मैं घटको जानता हूँ और जब स्वाभिमुख होता है तब स्वको जानता है अर्थात् ऐसी प्रतीति होती है कि घटमहं जानामि अर्थात् घटविषयक जो ज्ञान उसीको मैं जानता हूँ। वस्तुतः ज्ञानमें न तो घट जाता है और न घटमें ज्ञान जाता है। किन्तु अनादिकालसे आत्माके साथ पुद्गलकर्मोंका एक ऐसा विलक्षण सम्बन्ध हो रहा है कि इसके उदयकालमें परको निज मानता है और इसी मान्यताके कारण ज्ञानदर्शनस्वरूप सत्पदार्थप्रकाशक स्वकीय स्वरूपसे च्युत हो परद्रव्यके निमित्तसे जायमान रागद्वेषमोहके साथ अभेद मान कर पुद्गलादि परद्रव्योंमें आपा मान अनन्त संसारका भाजन बनता है यही परसमय है और जब

इस जीवको समारतट समीप आनेका अवसर आता है तब आप ही आप सकल पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानके उत्पादक भेदज्ञानका उदय होनेसे ज्ञानदर्शनात्मक आत्मतत्त्वके साथ एकपनेकी वृत्ति कर जो अपने ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्मामे स्थिति करता है तथा उसके होते ही अनन्त सुखका पात्र होता है, इसीका नाम स्वसमय है।

यह परसमय और स्वसमय अवस्था आत्माकी दो पर्याय है। एक पर्याय पुद्गलोके सम्बन्ध-से है और दूसरी पुद्गलोंके अभावमे। जबतक शरीरसम्बन्ध है तबतक इसे ससारी कहते है और शरीरसम्बन्धका अभाव होनेपर सिद्ध कहते है। सामान्यरूपसे न सिद्ध है और न ससारी है। आत्माकी जो दो अवस्थाएँ स्वामीने कही है वे पर्यायदृष्टिसे है। तब फिर द्रव्यदृष्टिसे आत्मा कैसा है, यह प्रश्न उठता है? इसका उत्तर है कि नित्य है। यहाँ नित्यका अर्थ कूटस्थरूप नही है किन्तु परिणमनशील है। अतएव परिणामात्मक होनेसे ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस त्रिविधरूप सत्तासे अनुस्यूत है। यह सत्ता यद्यपि जीव और अजीव दोनोमे साधारणरूपसे अनुस्यूत है, तथापि विशिष्टरूपसे जीवकी सत्ता चैतन्यस्वरूप है। इस सत्तामे ही जीवमे ज्ञान और दर्शनका उद्योत होता है। यही एक ऐसी सत्ता या शक्ति है जो आत्माको इतरपदार्थोसे भिन्न सिद्ध करती है। आत्मामे अनन्तगुण है, इन गुणोका पिण्ड होनेके कारण आत्मा एकद्रव्यरूप है। आत्मामे जो गुण है वे युगपत् आत्मामे रहते है और सदैव परिणमनशील है। इसीलिये क्रमसे रहनेवाली पर्याय और सहभावसे रहनेवाले गुण इन दोनोमे द्रव्य तन्मय हो रहा है। आत्मा दर्पणवत् है, उसकी स्वच्छतामे सब पदार्थ प्रतिभासित होते है अतएव वैश्वरूप्य होनेपर भी अपने एकत्वको नही त्यागता। अर्थात् नानात्मक होनेपर भी एकात्मक है। आत्मा, आकाशादिक जो द्रव्य है उनसे भिन्न है क्योकि चेतना-गुणवाला है। आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गलमे क्रमश अवगाहन, गतिहेतुत्व, स्थिति-हेतुत्व, वर्तना तथा स्पर्शादि गुण है। ये ही गुण इन पदार्थोको परस्परमे भिन्न करानेमे कारण होते है।

संसारमे यावत् पदार्थ है वे परिणमनशील है। यही पञ्चाध्यायीमे कहा है—

यही श्रीसमन्तभद्र स्वामीने देवागममें लिखा है—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्॥

अर्थात् सामान्यरूपसे न तो कोई द्रव्य उत्पन्न होता है और न कोई द्रव्य नष्ट होता है क्यों कि व्यक्तिरूपसे उसकी प्रतीति होती है। अब एक बालक अपनी बाल्य अवस्थाको छोड़कर युवावस्थाको प्राप्त हो गया और युवावस्थासे वृद्धावस्थाको प्राप्त हो गया। इतनेमें मनुष्यसामान्यमें कौन-सा विकार हुआ? मनुष्य तो वह एकरूपसे बना रहा। इसी प्रकार द्रव्यमें सामान्यरूपसे अन्वय रहते हुए अवस्थाओंका उत्पाद और व्यय होता रहता है। ऐसा सम्पूर्ण पदार्थोंकी व्यवस्था है। यही बात पञ्चाध्यायीकारने लिखी है—

इह घटरूपेण यथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण।
व्येति तथा युगपत् स्यादेतद्द्वयं न मृत्तिकात्वेन॥

अर्थात् इस जगत्में प्रत्येकका अनुभव है कि घटरूपसे द्वारा वस्तुका उत्पाद होता है और पिण्डरूपसे द्वारा व्यय होता है। ये दोनों युगपत् ही होते हैं। मृत्तिकापनेसे न तो उत्पाद होता है और न व्यय होता है किन्तु सर्वथा स्थिरता रहती है। इस तरह वस्तुमात्र एक ही कालमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक है।

यहाँ पर किसी वादीका कहना है कि यह सब तुम्हारी बुद्धिका अजीर्ण है। उत्पादादित्रयके माननेमें न तो कोई गुण है और न कोई हानि है? इसपर आचार्यका कहना है कि उत्पादादित्रय न माननेमें हानि है अर्थात् न माननेसे वस्तुका ही अपलाप हो जायगा। अतः इन तीनोंके माननेसे ही वस्तुका अस्तित्व बन सकता है। इसके सिवाय इनके माननेमें गुण भी है। वही दिखाते हैं—वस्तु परिणाम और परिणामी स्वरूप ही है। अब इन दोनोंमें किसे न माना जाय? यदि परिणामको नहीं मानोगे तो परिणामके अभावमें वस्तु कूटस्थरूप रहेगी तब न तो यह ही चोर बनेगा और न साहूकार बनेगा। जैसे आत्मद्रव्यको लीजिये—यदि उसमें पुण्य और पापरूप परिणाम न मानोगे तो इससे बन्धका अभाव होगा और कारणके न होनेसे संसार भी नहीं बनेगा तथा मोक्षका कारण सम्यग्दर्शनादिरूप आत्माका परिणमन न होनेसे मोक्षकी व्यवस्था नहीं बनेगी। इस तरह बन्ध और बन्धाभावके बिना न तो संसार ही बनेगा और न मोक्षतत्त्वका ही अस्तित्व रहेगा। अतः वस्तुको परिणमनशील मानना ही सुन्दर है।

अब दूसरा पक्ष लो अर्थात् परिणामीको नहीं मानोगे तो परिणमन किसमें होगा? परिणामीके न माननेसे वस्तु क्षणिक परिणाममात्र ठहरेगी और ऐसा होनेसे जो प्रत्यभिज्ञान होता है उसका अपलाप हो जायगा। अतएव श्रीसमन्तभद्र स्वामीने देवागममें लिखा है—

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसञ्चरदोषतः॥

वस्तु कथञ्चित् नित्य है क्योंकि 'यह वही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है और यह जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह अकस्मात् (बिना कारण) नहीं होता है क्योंकि अविच्छेदपना वस्तुमें निरन्तर

सद्भाव रहता है और वही वस्तु कालके भेदसे क्षणिक भी है, अन्यथा वस्तुमे जो बुद्धिसचार होता है वह नही होगा अर्थात् जैसे आत्मामे ससारी और मुक्तका जो भेद होता है वह नही होगा, अत यह मानना अत्यावश्यक है कि जो आत्मा प्रागवस्थामे कर्मोके सम्बन्धसे ससारी था वही आत्मा कर्मोके अभावमे मुक्त हो जाता है। द्रव्यदृष्टिसे आत्मा वही है परन्तु पर्यायकी अपेक्षा आत्मा ससारी भी है और मुक्त भी है। इसीसे श्री कुन्दकुन्द स्वामीने लिखा है कि जो दर्शन-ज्ञान-चरित्रमे स्थित है वही आत्मा स्वसमयशब्दसे कहा जाता है और जो राग-द्वेप-मोहके साथ एकपनका निश्चयकर पुद्गलकर्मप्रदेशोमे स्थित है वही परसमय है। सामान्यरूपसे आत्मा निर्द्वन्द्व और निर्विकल्प है, न ससारी है और न मुक्त है। इसका यह तात्पर्य है कि द्रव्यदृष्टि वस्तुका अभेदरूप वर्णन करती है और पर्यायदृष्टि भेदरूप। अत. दोनोका विपय सत्य है, यदि पर्यायदृष्टिका विपयभेद सर्वथा ही मिथ्या होता तो 'अनयो मैत्री प्रमाणम्' यह लिखना मिथ्या हो जाता, परन्तु ऐसा नही है क्योकि सामान्यविशेपात्मक जो वस्तु है वह ही प्रमाणका विपय है ॥ २॥

अब यहाँ पर कुन्दकुन्द महाराजका कहना है कि आत्मामे जो द्विविधपना है वह सुन्दर नही। यहाँ पर द्विविधपनेसे तात्पर्य स्वसमय और परसमयसे है अर्थात् आत्मामे जो परप्रत्ययसे उत्पन्न रागादि है उनके साथ एकत्वबुद्धिकर आत्मा पुद्गलकर्मप्रदेशोमे स्थित रहता है— आत्मासे भिन्न जो रागादि है उन्हे अपने मानकर उनके अनुकूल जो बाह्य पदार्थ है उनमे राग और जो उनके प्रतिकूल है उनमे द्वेप कल्पना कर अनन्तससारका पात्र बनता है—यह सकरता सुन्दर नही है—

एयत्त-णिच्छय-गओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए ।
बध-कहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

अर्थ—जो समय-पदार्थ एकत्वमे निश्चित हो रहा है वही सर्वलोकमे सुन्दर है। इसी हेतुसे एकत्वमे जो बन्धकी कथा है वह विसवादरूपिणी है अर्थात् निन्द्य है।

विशेषार्थ—प्राय लोकमे भी देखा जाता है कि जबतक यह मनुष्य छात्र-जीवनमे रह कर गुरुकुलमे विद्याध्ययन करता है तबतक सब आपत्तियोमे विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मचारी हो सानन्द जीवन अपने समयको निर्द्वन्द्व बिताता है और जब घरमे प्रवेश करता है तथा माता-पिताके आग्रहसे विवाह-बन्धनको स्वीकार करता है तब द्विपदसे चतुष्पद होता है। दैवयोगसे बालक हो गया तो षट्पद (भौंरा) हो जाता है। और अपने बालकका जब विवाह-सस्कार हो गया तब अष्टपद (मकड़ी) हो जाता है और अपने ही जालमे आप ही मरणको प्राप्त हो जाता है। अतः यह बात सिद्ध हुई कि एकता सम्बन्ध ही इस ससारमे आपत्तियोकी खानि है।

स्वरूपका परित्याग नहीं होने—कभी भी पररूप परिणमन नहीं करते इसीसे उनके अनन्त व्यक्तित्व का भी अभाव नहीं होता। सदा विरुद्ध और अविरुद्ध कार्योंमें कारण होकर विश्वका उपकार कर रहे हैं किन्तु निश्चयसे अपने स्वरूपमें ही सुन्दरताको पाते हैं। यदि इस प्रक्रियाका त्याग कर अनाद्यनन्त व्यवस्थाका नाश हो तो संकरादि दोषोंकी आपत्ति आ जावेगी। इस प्रकार यह समयका स्वरूप जानना चाहिए। उसमें जीव नामक जो पदार्थ है उसके बन्धकी कथा विसंवादिनी है क्योंकि बन्ध दो पदार्थोंमें सम्बन्धसे होता है। बन्धका यह अर्थ नहीं कि उन पदार्थोंकी सत्ताका अभाव हो जाता है किन्तु दोनों अपने अपने स्वरूपको छोड़कर एक भिन्न ही अवस्था (विकारी दशा) को प्राप्त हो जाते हैं। पुद्गलमें तो यह होता है क्योंकि जब रूखा और चिकना मिलनेसे एक स्कन्ध बन जाता है तब भिन्न ही रंग हो जाती है। कारण कि पुद्गलमें वर्णगुण सबमें रहता है, अतः उसका अवान्तर प्रकार रूप रस गन्धका होनेमें कोई बाधा नहीं। परन्तु जीव और पुद्गलका सम्बन्ध कुछ विलक्षण है। जीवके रागादि परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गलमें ज्ञानावरणादिरूप परिणमन हो जाता है और ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलका निमित्त पाकर जीवमें रागादिरूप परिणमन होता है अर्थात् जीव अपने स्वरूपसे च्युत होकर रागादिरूप परिणमता और कार्मण वर्गणाएँ ज्ञानावरणादिरूप परिणमनको प्राप्त हो जाती हैं। जीव और पुद्गलकी एक पर्याय नहीं होती। यहाँ यद्यपि ज्ञानावरणादि कर्मोंका विपाक पुद्गलमें होता है और जीवका रागादिरूप आत्मामें होता है तथापि दोनों ही अपने अपने स्वरूपसे च्युत होकर एकक्षेत्रावगाही रहते हैं। यही सिद्धान्त श्री कुन्दकुन्दस्वामीने स्पष्ट किया है—

> जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
> पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ॥
> ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
> अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि॥
> एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
> पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥

इन गाथाओंका विशदार्थ यथावसर करेंगे।

इस परिणतिमें जीवका साथ पुद्गलद्रव्यके सम्बन्धसे यह बन्ध हो रहा है सो विसंवादका जनक है। अतएव परद्रव्योंसे भिन्न और स्वकीय गुणपर्यायोंसे अभिन्न आत्माका जो एकत्वपन है वही सुन्दर है॥ ३॥

आगे आत्माका जो एकत्वपन है उसकी प्राप्ति अति कठिन है, यह कहते हैं—

> सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
> एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥ ४॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवोंको कामभोगविषयिणी बन्धकी कथा अतिसुलभ है क्योंकि निरन्तर सुननेमें आती है परिचित है तथा अनुभूत है। देखा जाता है कि बच्चा पैदा होते ही स्तनपानमें प्रवृत्ति करने लग जाता है। इसी प्रकार मैथुनादि कार्योंमें बिना ही शिक्षाके जीवोंकी प्रवृत्ति स्वयमेव हो रही है। किन्तु परमार्थसे तथा परपदार्थोंके निमित्तसे जायमान रागादि

विभावोंसे भिन्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक अभेदरत्नत्रयरूप आत्माके एकत्वकी प्राप्ति अति-दुर्लभ है।

विशेषार्थ—इस संसारमे कुम्भकारके चक्रपर जो मिट्टीका घडा बनाया जाता है वह जिस तरह दण्डके द्वारा जब भ्रमण करता है तब उस पर रखी हुई मिट्टी भी सब ओर भ्रमण करती है, उसी तरह इस संसार-चक्रके मध्यमे जो जीवलोक है वह भी निरन्तर पञ्च परावर्त्तनोंके रूपमे मोहपिशाचके द्वारा निरन्तर भ्रमण कर रहा है। जिस तरह कोल्हूका बैल घूमता है, उसी तरह यह भ्रमण कर रहा है। भ्रमण करनेसे लोक भ्रान्त हो रहा है तथा नाना प्रकारके तृष्णारूप रोगोके द्वारा नाना प्रकारकी चिन्ताओसे आतुर रहता है। उनके शमन करनेके लिये पञ्चेन्द्रियविषयोका सेवन करता है परन्तु उससे शान्तभावको नही पाता है। जैसे मृगादि मरुमरीचिकामे जलबुद्धि कर तृषाकी शान्तिके अर्थ दौड कर जाते है परन्तु वहाँ जल न पाकर फिर आगे दौडते है। वहाँ भी जल न पाकर परिश्रम करते-करते थक कर अन्तमे प्राण गमा देते है। इसी तरह यह प्राणी भी अन्तरङ्ग कषायोके शमन करनेके अर्थ पञ्चेन्द्रियविषयोकी निरन्तर सेवा करते है तथा दूसरोको भी यही उपदेश करते है। पापमे कौन पण्डित नही ? ऐसा करनेसे शान्ति तो मिलती नही, निरन्तर आकुलित हुए काल पूर्ण करते है। इस प्रकार यह कामभोगबन्धकी कथा अनादि कालसे सुननेमे आई, निरन्तर विषयोके सेवन करनेसे वह परिचित भी है और अनुभूत भी है, अत निमित्त मिलने पर एकदम स्मरणमे आ जाती है। और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रैक्यरूप आत्माका जो एकत्व है वह यद्यपि अन्तरगमे प्रकाशमान है तथापि अनादिकालीन कषायचक्रने इसे ससार अवस्थामे तिरोहित कर रखा है। जीव, स्वय तो अज्ञानी है सो कुछ जानते नही और जो आत्मज्ञानी है उनकी उपासना करते नही, अत न तो वह सुननेमे आया, न परिचयमे आया और न अनुभवमे आया ॥ ४ ॥

आगे आत्माका जो एकत्व अतिदुर्लभ है उसीको श्रीकुन्दकुन्द महाराज दिखानेकी प्रतिज्ञा करते है—

> तं एयत्त-विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
> यदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं ॥ ५ ॥

अर्थ—उस पूर्वोक्त अभेदरत्नत्रयात्मक, मिथ्यात्व-रागादिरहित, परमात्मस्वरूप आत्माका एकत्व मैं अपने निज वैभवसे आगम, तर्क, परापरगुरूपदेश तथा स्वसवेदन प्रत्यक्षके द्वारा दिखाऊँगा, यदि दिखाऊँ तो स्वसवेदन प्रत्यक्षके द्वारा उसे जाननेका प्रयत्न करना, छल ग्रहण नहीं करना।

दिखाता हूँ। यदि कही स्खलित हो जाऊँ तो आप लोगोको उचित है कि स्वीय अनुभवसे वस्तु-स्वरूपको अवगत कर प्रमाण करें, छल ग्रहण करना सर्वथा हेय है। आजकल मनुष्य अपना समय प्राय कुकथा आदिमे लगाकर अनुपम तत्त्वके खोजनेमे नही लगाते, इसीसे प्राय दु खके ही पात्र रहते है ॥ ५ ॥

अब यहाँ शुद्ध आत्माको विषय करनेवाली द्रव्यदृष्टिसे प्रश्न होता है कि आत्मद्रव्य क्या वस्तु है ? इसका श्री स्वामी उत्तर देते है तथा दूसरी गाथाके अवतरणमें यह प्रश्न था कि समय क्या पदार्थ है ? वहा पर स्वामीने यह उत्तर दिया था कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्रमे स्थित है वही स्वसमय है और जो पुद्गलकर्मप्रदेशमे स्थित है वह परसमय है, इन दोनो पर्यायोंका जो आधार है वही तो समय है—यह बात इस गाथासे स्पष्ट हो जाती है—

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥ ६ ॥

अर्थ—जो ज्ञायकभाव है वह अप्रमत्त भी नही और प्रमत्त भी नही, इस प्रकार उसे शुद्ध कहते है। वह जो ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है, अन्य नही है।

विशेषार्थ—यहाँ पर आत्माके उस सामान्यभावका ग्रहण किया गया है जो कालत्रयव्यापी रहता है। आत्माकी यो तो अनन्त अवस्थाए होती है किन्तु वे सब प्रमत्त और अप्रमत्तमे अन्तर्गत हो जाती है। आत्माद्रव्य अनादिकालसे पुद्गलके साथ सम्बद्ध होकर चला आया है और इसीसे इसकी यह नाना पर्यायें ससारमे होती है। आत्माकी ससार और मुक्त ये दो अवस्थाएँ मुख्य है। इनमें ससार अवस्था कर्मोंके विपाकके निमित्तसे नाना प्रकारकी होती है और मुक्तावस्था कर्मोंके अभावसे एक ही प्रकारकी है। अत जब सामान्यकी अपेक्षा निरूपण किया जाता है तब इस परमार्थसे यह कथन होता है कि जो आत्मा है वह अनादि और अनन्त है, नित्य ही उद्योतरूप है, एक ज्ञायकस्वभाव है। इसी आत्माका जब पर्यायोंकी दृष्टिसे निरूपण किया जाता है तब कथन होता है कि यह ससार दशामें अनादिकालीन बन्धपर्यायके द्वारा दुग्ध और जलकी तरह कर्म-पुद्गलके साथ एक हो रहा है। यद्यपि वर्तमानमे आत्माका कर्मपुद्गलोके साथ क्षीर-नीरके समान एकक्षेत्रावगाह हो रहा है तथापि द्रव्यदृष्टिसे यही बात कथनमे आती है कि द्रव्य ही अन्तमें

तब म्लेच्छभाषाके सदृश व्यवहारी मनुष्यको बोध करानेके लिए व्यवहारनयका अवलम्बन लेना चाहिये। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि ब्राह्मणको म्लेच्छरूप हो जाना चाहिये।

लोकमे भी परमार्थ पदार्थके समझानेके लिए ऐसे अवलम्बन लिये जाते है। जैसे सेनामे जो रगरूट भरती होता है उसे बाण द्वारा लक्ष्यवेध सिखाया जाता है। यद्यपि वहाँ पर उस लक्ष्यवेधसे किसी साध्यकी सिद्धि नही, तथापि रणक्षेत्रमे जब शत्रुओपर बाण छोडनेका काम पडता है तब यह विद्या उपयोगमे आती है। अथवा जिस तरह बचपनमे छोटी-छोटी लडकियाँ मिट्टीका आटा गूँदकर उसकी रोटियाँ बनाती है तथा मिट्टीकी हण्डियाँ बनाकर उनमे छोटे-छोटे कंकड डालकर दाल बनानेका व्यवहार करती है। यद्यपि यह सब उनका खेल है परन्तु बडी अवस्थामे यथार्थ कार्य करनेमे उसकी उपयोगिता होती है। इसी तरह परमार्थका यथार्थ बोध करानेके व्यवहारनयका आलम्बन लेना आवश्यक है। इसी तरहके और भी लौकिक उदाहरण है—जैसे किसीने श्रीपरमगुरुसे पूछा कि—भो प्रभो! मेरे लिये आत्मज्ञानकी शिक्षा दीजिये—आत्मा क्या है? यह बतलानेकी कृपा कीजिये। श्रीगुरुने कहा कि—हमारे सामने बहनेवाली गङ्गा नदीमे एक मगर रहता है। उसे अच्छी तरह आत्मज्ञान करा दिया है। वह तुम्हे अच्छी तरह आत्मज्ञानका उपदेश देगा, उससे पूछ लो। श्रीगुरुके ऐसे वचन सुनकर वह सरलप्रकृतिका शिष्य गुरु-वाक्यको प्रमाण करता हुआ सन्निहित गङ्गा नदीके तीर गया और उस मगरसे बोला—भाई! हमारे गुरुमहाराजने तुम्हारे पास आत्मज्ञानके उपदेशके अर्थ भेजा है। मगरने उसके वाक्य सुनकर प्रसन्नतापूर्वक उत्तर कहा—महानुभाव! मै इस समय तृषासे अति-आतुर हूँ, आप एक लोटा पानी [illegible] लाकर मुझे पहले पिला दीजिये, मै पश्चात् निश्चिन्त होकर आपको उपदेश करूँगा। यह सुनकर शिष्य मन-ही-मन उसकी मूढतापर पश्चात्ताप करता हुआ मगरसे बोला—भाई! तुम बडे अज्ञानी हो, पानीमे सर्वाङ्ग डूबे हुए भी हमसे जल माँगनेकी चेष्टा करते हो, तुम क्या आत्मज्ञान-का उपदेश करोगे? मगर बोला—महानुभाव! आपका कहना अक्षरश सत्य है किन्तु अपने अज्ञानको भी तो देखो। तुम स्वय आत्मा होकर आत्मज्ञानकी बात पूछते हो। यही बात तो तुम्हारे अज्ञानकी बाधक है। ऐसा सुनकर वह स्वय प्रतिबोधको प्राप्त हुआ। इस प्रकार और दृष्टान्तोंसे व्यवहारके द्वारा निश्चयका उपदेश दिया जाता है॥ ८॥

आगे परमार्थ और व्यवहारनयसे श्रुतकेवलीका स्वरूप कहते हैं—

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोय-प्पईवयरा॥ ९॥
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा॥ १०॥

अर्थ—ऋषीश्वरोंने व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है और शुद्धनयको भूतार्थ। जो जीव भूतार्थको आश्रित करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है।

विशेषार्थ—सम्पूर्ण ही व्यवहारनय अभूत अर्थको प्रकाशित करता है। यही बात दृष्टान्त द्वारा दिखाई जाती है। जैसे मेघोंसे बरसनेवाला जल यद्यपि निर्मल रहता है परन्तु भूमिमें पड़ते ही धूलि आदि विजातीय पदार्थोंके सम्बन्धसे उसकी स्वाभाविक निर्मलता तिरोहित हो जाती है। उस कर्दम मिश्रित जलको पीनेवाले जो पुरुष हैं उन्हें कर्दम और जलका भेदज्ञान नहीं है। भेदज्ञानके अभावमें उस जलकी निर्मलताका उन्हें अनुभव नहीं होता, वे मिश्रित जलको ही जल समझते हैं। परन्तु जिन पुरुषोंने मिश्रजलमें कतकफलको घिसकर डाल दिया है तथा अपने पुरुषकार अर्थात् पुरुषार्थसे उसकी स्वच्छताको प्रकट कर लिया है वे वास्तविक जलका पान करते हैं और विवेकी कहलाते हैं। इसी तरह प्रबल कर्मके विपाक द्वारा आत्माका जो सहज ज्ञायकभाव है वह तिरोहित हो जाता है उस समय जो जीव आत्मा और कर्मके भेदज्ञान करनेमें असमर्थ रहता है वह व्यवहारसे ही मोहित नाना प्रकारकी इष्टानिष्ट परिणतिका अनुभवन करता है, यदि मन्दकषायका उदय हुआ तो शुभ परिणामोंका अनुभव करता है और तीव्र कषायका उदय हुआ तो अशुभ परिणामोंका अनुभव करता है परन्तु जो भूतार्थको देखनेवाले हैं वे अपने [illegible] विवेकसे शुद्धनयके द्वारा आत्मा और कर्मोंको पृथक्-पृथक् करते हुए अपने पुरुषकार अर्थात् पुरुषार्थके द्वारा सहज ज्ञायकभावको प्रकटकर उसीका अनुभव करते हैं। इसीसे जो भूतार्थका आश्रय करनेवाले हैं वे ही सम्यग्दृष्टि होते हैं और जो इनसे भिन्न हैं अर्थात् मात्र अभूतार्थका आश्रय करते हैं वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। अतः कतकफलसम होनेसे शुद्धनयका आश्रय करना उचित है और असत् अर्थको कहनेवाला जो व्यवहारनय है वह आश्रय करने योग्य नहीं है।

[illegible] है [illegible] सुवर्ण [illegible] है [illegible] [illegible] है [illegible] और [illegible] है [illegible] [illegible]।

[illegible] हमारा तात्पर्य [illegible]। जबतक [illegible] है—[illegible] किसी कालमें [illegible] व्यवहार नय भी प्रयोजनवान् है ॥११॥

आगे आचार्य निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंकी उपयोगिता दिखाते हैं—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥ १२ ॥

अर्थ—जो परमभावके देखनेवाले हैं उनके द्वारा तो शुद्ध तत्त्वका कथन करनेवाला शुद्ध नय जानने योग्य है और जो अपरमभावमें स्थित हैं उनके लिये व्यवहारनयका उपदेश कार्यकारी है।

विशेषार्थ—लोकमें ऐसा देखा जाता है कि जिन्होंने सुवर्णको शुद्ध करते-करते अन्तके पाकसे शुद्ध सुवर्णकी प्राप्ति कर ली है उन जीवोंको प्रथमादि पाकोंसे कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि सुवर्णको शुद्ध करनेके लिए सोलह बार तावकी आवश्यकता होती है जिन्होंने सोलह ही ताव देकर शुद्ध सुवर्णकी प्राप्ति कर ली उन जीवोंको पन्द्रह तक किसी भी तावकी आवश्यकता नहीं रहती। इसी तरह जो जीव अन्तिम तावसे उतरे हुए शुद्ध सुवर्णके समान परमभाव—उत्कृष्ट आत्मस्वभावका अनुभव करते हैं उन जीवोंके प्रथम द्वितीय आदि अनेक तावोंकी परम्परासे पच्यमान सुवर्णके समान अपरमभाव—अनुत्कृष्ट मध्यमादि आत्मस्वभावके अनुभवकी शून्यता रहती है। अतः शुद्धद्रव्यका ही कथन करनेवाला जिसने कभी स्खलित नहीं होनेवाला एक आत्मस्वभाव ही सम्मुख प्रकाशित किया है ऐसा शुद्धनय ही उनके लिये प्रयोजनवान् है किन्तु जिस तरह जो जीव अभी प्रथम द्वितीयादि पाकसे सुवर्णकी जघन्य, मध्यमादि अवस्थाओंको ही प्राप्त हो रहे हैं उन जीवोंको जबतक शुद्ध सुवर्णका लाभ न हो तबतक अपने योग्य ताव (आँच) देनेकी आवश्यकता है क्योंकि उन्हें अभी पर्यन्तपाकसे निष्पन्न शुद्ध सुवर्णका लाभ नहीं हुआ है। इसी तरह जिन जीवोंको जबतक अन्तिम तावसे उतरे हुए शुद्ध सुवर्णके समान आत्माके परमभावका अनुभव नहीं हुआ है अर्थात् शुद्ध आत्माका लाभ नहीं हुआ है तबतक विचित्रवर्णमालिकाके तुल्य [illegible] अनेक अवस्थाओंका कथन करनेवाला व्यवहारनय उनके लिये प्रयोजनवान् है क्योंकि तीर्थ और तीर्थफलकी प्रवृत्ति इसी प्रकार होती है। जैसा कि कहा गया है—

जइ जिणमयं पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

अर्थ—यदि जिनेन्द्र भगवान्के मतकी प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय—दोनो ही नयोंको मत त्यागो, क्योकि यदि व्यवहार नयको त्याग दोगे, तो तीर्थकी प्रवृत्तिका लोप हो जावेगा अर्थात् धर्मका उपदेश ही नही हो सकेगा। फलत धर्मतीर्थका लोप हो जावेगा। और यदि निश्चयनयको त्याग दोगे, तो तत्त्वके स्वरूपका ही लोप हो जावेगा, क्योकि तत्त्वको कहनेवाला तो वही है। इसी अर्थको श्री अमृतचन्द्र स्वामीने बहुत ही सुन्दर पद्योमे कहा है—

मालिनीछन्द

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा.।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥ ४ ॥

अर्थ—निश्चय और व्यवहारनयोंके विषयमे परस्पर विरोध है क्योकि निश्चयनय अभेदको विषय करता है और व्यवहारनय भेदको ग्रहण करता है, किन्तु इस विरोधका परिहार करनेवाला स्यात्पदसे अङ्कित श्रीजिनप्रभुका वचन है। उस वचनमे, जिन्होने स्वय मोहका वमन कर दिया है वे ही रमण करते हैं और वे ही पुरुष शीघ्र ही उस समय समय-सारका अवलोकन करते है जो कि अतिशयसे परमज्योतिस्वरूप है, नवीन नही अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, [केवल कर्मके सम्बन्धसे तिरोहित था, भेदज्ञानके बलसे जब मोहादिसम्बन्ध दूर हो गया तब पर्यायरूपमे व्यक्त हो गया] और अनय पक्ष—एकान्त पक्षसे जिसका खण्डन नही हो सकता।

मालिनीछन्द

व्यवहरणनय स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदाना हन्त हस्तावलम्ब ।
तदपि परमम र्थं चिच्चमत्कारमात्र
परविरहितमन्त पश्यता नैष किञ्चित् ॥ ५ ॥

इसी तरह वस्तु, द्रव्यके भेदाभेदकी अपेक्षा दो अशरूप है, उन दोनो अशोकी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। यहाँ पर केवल शुद्धनयकी मुख्यतासे कथन है, इसीसे उसके द्वारा जानी हुई शुद्ध आत्माकी श्रद्धाको सम्यग्दर्शन कहा है। शुद्धनयसे सम्यग्दर्शनका स्वरूप कहनेका प्रयोजन यह है कि शुद्धनयके द्वारा प्रतिपाद्य जो आत्माकी शुद्ध अवस्था है वह उपादेय है और व्यवहारनयके द्वारा प्रतिपाद्य जो अशुद्ध अवस्था है वह हेय है। आत्मद्रव्य शुद्धाशुद्ध अवस्थाओका पिण्ड है, अत उन सब अवस्थाओ को लक्ष्यमे रखने पर आत्मद्रव्यकी पूर्णता है। आत्मा सर्वथा शुद्ध ही है अथवा सर्वथा अशुद्ध ही है ऐसी श्रद्धा एक अशकी श्रद्धा है। अथवा सम्यग्दर्शन तो निर्विकल्प गुण है। उसके होते ही आत्मा-का जो ज्ञान है वह यथार्थ हो जाता है और उसीको उपचारसे सम्यग्दर्शन कहते है। यही कहा है—

मिथ्याभिप्रायनिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्ट हि दर्शनम् ।
ज्ञानत्व चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्व कर्महन्तृता ॥

अर्थ—जब आत्माका विपरीत अभिप्राय चला जाता है तब उसके ज्ञानको दर्शन कहते है और अर्थकी विज्ञप्तिको ज्ञान कहते है तथा कर्मके नाश करनेकी शक्तिका नाम ही चारित्र है।

अत शुद्धनयायत्त प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्वगतत्वेऽपि यदेकत्व न मुञ्चति ॥ ७ ॥

अर्थ—अत शुद्धनयके द्वारा परपदार्थसे भिन्न और अपने स्वरूपसे अभिन्न आत्मज्योतिका प्रकाश होता है। वह आत्मज्योति यद्यपि नवतत्त्वके साथ मिल रही है तथापि अपना जो [illegible] उसे नही त्यागती है।

आत्मा परपदार्थके सम्बन्धसे नवतत्त्वोमे सम्बद्ध होनेके कारण यद्यपि नाना प्रकार दीखता है तथापि जब उसका पृथक् विचार किया जाता है तब अपने चैतन्यचमत्कारलक्षणके कारण यह [illegible] है। जैसे नट नानाप्रकारके स्वाग रखकर भी अपने मनुष्यपनसे एक ही है ॥ १२ ॥

आगे भूतार्थनयसे जीवाजीवादि पदार्थोंका जानना सम्यग्दर्शन है, यह कहते है—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण-पाव च ।
आसव-सवर-णिज्जर-बधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

और अन्य समयमे निर्जरा कर आत्मा मोक्षका लाभ करता है। इस तरह ये नव तत्त्व पदार्थद्वय—जीव-अजीवके सम्बन्धसे होते है। बाह्य दृष्टिसे जीव और पुद्गलकी जो अनादि कालसे बन्धपर्याय प्रवाहरूपसे चली आ रही है यदि उसकी अपेक्षासे विचार किया जावे तो एकपनसे अनुभूयमान होने वाले ये नव तत्त्व सत्यार्थ है और मिश्रितावस्थाको छोडकर केवल जीवद्रव्यके स्वभावकी ओरसे विचार किया जावे तो अभूतार्थ है। केवल न जीवद्रव्य नवरूप हो सकता है और न केवल अजीव (पुद्गल) द्रव्य ही नवरूप हो सकता है। जैसे नमक, मिर्च, खटाई, यदि इनको मिलाया जावे तो नमक-मिर्च, नमक-खटाई, मिर्च-खटाई और तीनोको मिलाया जावे तो नमक-मिर्च-खटाई इस तरह अनेक स्वाद हो जाते है। यदि तीनोको पृथक्-पृथक् रखा जावे तो मिश्रमे जो स्वाद आता है वह केवलमे नही आ सकता। इसी तरह जीवमे जो आस्रवादि होते है वे पुद्गलसम्बन्धसे ही है केवल जीवमे तो एक ज्ञायकभाव ही है और अन्तमे पुद्गलका सम्बन्ध विच्छेद होने पर वही रह जाता है। अत एव केवल जीवके अनुभवमे ये नव तत्त्व अभूतार्थ है। इसीलिये इन नव तत्त्वोमे भूतार्थनयसे विचार किया जावे तो केवल एक जीव ही भूतार्थ है तथा अन्तर्दृष्टिसे ज्ञायकभाव जीव है। जीवके विकारका कारण अजीव है, जब ऐसी व्यवस्था है तब जीवके विकार पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षरूप है और ये अजीवके विकारके कारण है। इसी तरह अजीवरूप भी पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष है और ये जीवके विकारके कारण है। ये जो नौ तत्त्व है इनका यदि जीवद्रव्यके स्वभावको छोडकर स्वपरनिमित्तक एकद्रव्यपर्यायरूपसे अनुभव किया जावे तो ये भूतार्थ है और सकल कालमे अपने स्वभावसे स्खलित न होने वाले जीवद्रव्यके स्वभावको लेकर विचार किया जावे तो अभूतार्थ है। इसीसे यह निष्कर्ष निकला कि इन नव तत्त्वोमे भूतार्थनयके द्वारा एक जीव ही प्रद्योतमान है क्योंकि वह द्रव्य है। द्रव्य स्थास्नु (नित्य) है, पर्याय अस्थास्नु (अनित्य) है अतएव नश्वर है। इस प्रकार [illegible] द्योतमान जीव शुद्धनयके द्वारा अनुभवका विषय होता है और जो यह अनुभूति है वही आत्मख्याति है तथा आत्मख्याति ही सम्यग्दर्शन है, इस रीतिसे यह समस्त कथन निर्दोष है। अमृतचन्द्रस्वामीने कहा है—

> चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
>
> कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
>
> अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
>
> प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८ ॥

है किन्तु मन पर्ययज्ञान संयमीके ही होता है। इनमे अवधिज्ञान भी देशावधि, परमावधि और सर्वावधिके भेदसे तीन प्रकारका होता है। अवधिज्ञान सामान्यरूपसे मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनोके ही होता है किन्तु मन पर्ययज्ञान ऐसा नही है, वह तो संयमीके ही होता है।

परोक्षज्ञान मति और श्रुतके भेदसे दो प्रकारका है। इनमे मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है। असंज्ञी जीवोंके इन्द्रियजन्य ही मतिज्ञान है परन्तु संज्ञी जीवोंके इन्द्रिय और मन दोनोंसे उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान है। संज्ञी जीवोका श्रुतज्ञान भी मन तथा इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है और असंज्ञी जीवोंके इन्द्रियो द्वारा ही होता है। 'श्रुतमनिन्द्रियस्य' यह जो सूत्र है वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञानके अर्थ है। यह श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। जहाँ श्रुतज्ञानसे श्रुतज्ञान होता है वहाँ परम्परासे, विचार किया जावे तो, मतिपूर्वक ही श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति होती है।

यदि इन दोनो ज्ञानोका प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयकी विवक्षासे विचार किया जावे तो भूतार्थ है अर्थात् दोनो ही प्रमाण हैं और सम्पूर्ण भेद जिसमे गौणताको प्राप्त हो गये हैं ऐसे जीवके स्वभावको लेकर विचार किया जावे तो अभूतार्थ है।

नय दो प्रकारका है—एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक, क्योंकि इनका प्रतिपाद्य पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। इन दो अंशोमे जो सामान्य अंशको कहनेवाला है वह द्रव्यार्थिकनय है। द्रव्यार्थिकनय सामान्यको विषय करनेवाला है, इसका यह तात्पर्य है कि इस नयका विषय सामान्य है, यह तात्पर्य नही कि विशेष कोई वस्तु ही नही है। हाँ, वह अवश्य है, पर यह नय उसे विषय नही करता किन्तु उसकी अपेक्षा रखता है, इसीसे आचार्यने लिखा है—'सापेक्षो हि नयवाद'।

श्रीसमन्तभद्र स्वामीने भी देवागम स्तोत्रमे ऐसा ही कहा है—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति न ।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥

अर्थ—निरपेक्ष अर्थात् एकान्त धर्मका कथन करनेवाले जो नय हैं वे सब मिथ्या हैं, उनका समूह भी मिथ्या ही है और जो नय सापेक्षताको लेकर कथन करते हैं वे सम्यग् नय हैं और उनका समूह ही वस्तु है जो अर्थक्रिया करनेमे समर्थ है।

श्रीसमन्तभद्रस्वामीने भगवान्की स्तुतिमे स्वयम्भूस्तोत्रमे भी कहा है—

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नया ।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहिते ॥

इसमें संयुक्तपन भूतार्थ ही है क्योंकि विजातीय द्रव्यके सम्बन्धको पाकर ही आत्मा और कर्मोंका अनादिकालसे संयोग चला आ रहा है, इस स्थितिमें आत्मामें जो संयुक्तपन है वह भूतार्थ है। और जब एकान्तसे केवल स्वयंबोधस्वरूप जीवके स्वभावको लेकर विचार किया जाता है तब वह संयुक्तपन अभूतार्थ है। इसी भावको श्रीअमृतचन्द्र स्वामी निम्न कलशा द्वारा दरशाते हैं—

मालिनीछन्द

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्ताज्-
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥ ११ ॥

अर्थ—यह जगत् मोहरहित होकर अर्थात् मिथ्यात्वके आवरणको दूरकर सब ओरसे प्रकाशमान उसी एक आत्मस्वभावका अनुभव करे, जिसमें ये बद्ध, स्पृष्ट आदि भाव तैरते हुए भी प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ—स्वामी कहते हैं कि ये जो बद्ध, स्पृष्ट आदि भाव हैं वे आत्मस्वरूपके साथ मिलकर एकमेक नहीं हो जाते, ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं, ऐसा सब ओर विकासरूप जो आत्मस्वभाव है उसीका अनुभव करो। आत्मस्वभाव जगत्के ऊपर ही रहता है, अनुभवमें भी यही आता है कि जगत्में जितने पदार्थ हैं वे सब अपनी-अपनी सत्ता लिये हुए अपने अखण्डरूपसे विराजमान हो रहे हैं। एक अंश भी अन्यका अन्यमें नहीं जाता। यदि एक पदार्थ अन्य रूप हो जावे तो समार-ता[illegible]हो जावे।

इस आत्माका अनुभव कब और किस जीवको होता है, यह कलश द्वारा स्वामी दिखाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

भूतं भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥

भिन्न है और लवणखिल्यकी लीलाका आचरण करता हुआ जो सदा एकरसका आलम्बन करता है अर्थात् सदा एक ज्ञायकभावसे भरा रहता है वह विज्ञानघन परमतेज हमारे हो।

आगे सिद्धिके अभिलाषी पुरुषोंको इसी आत्माकी उपासना करना चाहिये, यह कलशद्वारा कहते हैं—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभि: ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैक: समुपास्यताम् ॥१५॥

अर्थ—जो पुरुष सिद्धि—मोक्षके अभिलाषी हैं उन्हें इसी ज्ञानघन आत्माकी निरन्तर उपासना करना चाहिये। यह आत्मा यद्यपि साध्य और साधकके भेदसे दो प्रकारका है तथापि परमार्थसे एक है।

भावार्थ—आत्मा वास्तवमें तो द्रव्यदृष्टिसे एक है, परन्तु कर्मजभावोंसे विशिष्ट जो आत्मा है वह संसारी है और कर्मजभावोंसे अतीत जो आत्मा है वह मुक्त है, ऐसा उसमें द्विविधपना है। जिन जीवोंको काललब्धि आदि निमित्त मिल जाते हैं वे सम्यग्दर्शनको प्राप्तकर साधनावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं और वही साधनावस्था वृद्धिगत होते-होते एकदिन पूर्ण सामग्रीको पाकर अभीष्ट [illegible]सिद्धिका लाभ करानेमें समर्थ हो जाती है ॥१५॥

आगे दर्शन, ज्ञान और चारित्र साधकभाव हैं, अतः साध्यकी सिद्धिके लिए इनकी उपासना करना चाहिये, यह कहते हैं—

दंसण-णाण-चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ १६ ॥

अर्थ—साधु पुरुषोंको निरन्तर दर्शन, ज्ञान और चारित्र सेवन करने योग्य हैं। निश्चयसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ही आत्मा हैं।

विशेषार्थ—जीवकी मुक्त अवस्था साध्य है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उसके साधन [illegible] साधु पुरुषोंको इन्हींकी निरन्तर उपासना करना चाहिये। तत्त्वदृष्टिसे ये तीनों आत्मा [illegible] भिन्न नहीं हैं, इसलिये अभेद दशामें आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधन है। [illegible] इसी अभिप्रायको [illegible] कहा है—

सम्मद्दंसण-णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥

नाना प्रकारके दुःखोंका पात्र बना रहता है। इस प्रकार जब तक परम आत्मानुभूति है तब तक यह जीव अज्ञानी ही है।

अब आचार्य दृष्टान्त द्वारा इसके पृथक् होनेकी पद्धति बतलाते हैं जिससे यह प्रतिबुद्ध हो सकता है। जैसे दर्पण एक पदार्थ है, उसमें पुद्गलका ऐसा परिणमन है कि वह स्व और परका अवभास कराता है। इसीसे कहते हैं कि दर्पणमें ऐसी स्वच्छता है जो स्वपरके अवभासन करानेमें समर्थ है। जब दर्पणमें अग्निका प्रतिबिम्ब पड़ता है तब उसमें अग्नि झलकती है, इसका यह अर्थ नहीं कि दर्पणमें अग्निका प्रवेश हो गया। अन्यथा दर्पणमें उष्णता और ज्वालाका भी सद्भाव होना चाहिये सो तो है नहीं। वह दर्पणकी स्वच्छताका ही विकार है जो अग्निरूप प्रतीत होता है। उष्णता और ज्वाला अग्निमें ही है। इसी प्रकार नीरूप आत्मामें स्वपरका अवभासन करानेवाली ज्ञातृता है और पुद्गलद्रव्यमें कर्म-नोकर्म हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा ज्ञातृद्रव्य है। उसके अन्दर एक चातुर्यविशेष ऐसा है जिसके द्वारा वह स्वरूप और पररूपको जानता है। जिस समय आत्माका ज्ञान पदार्थोंके जाननेमें उपयोग लगाता है उस समय ज्ञानकी ऐसी स्वच्छता रहती है कि सब उसमें भासमान होने लगता है। यद्यपि जो ज्ञेय भासमान हो रहा है वह ज्ञानका ही परिणमन है ज्ञेयका नहीं परन्तु ज्ञेयसे सहित है अतः उसे ज्ञेयाकार कहते हैं। कुछ वह ज्ञान ज्ञेयाकार नहीं है, ज्ञान तो ज्ञान ही है जैसा था वैसा ही है। यह आकार-व्यवहार भी ज्ञेयके स्वगुणकी मुख्यतासे होता है। जब रस गन्ध और स्पर्शका ज्ञान होता है तब कौन-सा आकार होता है? अनादिकालसे आत्मामें मोहाभिभावका उदय होनेसे हमारी ऐसी विपरीत बुद्धि हो रही है कि यह ज्ञेय आत्मामें प्रविष्ट हो गये। जैसे जिस समय हम दर्पणमें मुख देखते हैं तब ऐसा भान होता है कि दर्पणमें मुख है इत्यादि।

जब अपने आप या परके निमित्तसे भेदविज्ञानमूलक अनुभूतिकी उत्पत्ति होती है तब यह बोध होता है कि ये कर्म और नोकर्म पुद्गलके हैं, हमारी आत्मामें ज्ञातृता है—जाननेकी शक्ति है। इसलिये दर्पणमें अग्निके सदृश वे आत्मामें भासमान होते हैं—कुछ आत्माके नहीं हैं। जब ऐसी अनुभूति होती है तभी आत्मा प्रतिबोधको प्राप्त हो जाता है—प्रबुद्ध कहलाने लगता है। जब तक आत्मा यह जानता है कि मैं कर्म और नोकर्म हूँ तथा कर्म और नोकर्म मुझमें हैं तब तक यह अज्ञानी कहा जाता है। जैसे कोई सीपको चाँदी मान रहा था उसे लोकमें मिथ्याज्ञानी कहते हैं और जिस समय यह ज्ञान हो जाय कि यह चाँदी नहीं है, सीप है उसी समय उसका अभाव हुए ज्ञानी कहा जाता है—इसी तरह जिस समय कर्म-नोकर्मसे आत्मा जुदा है ऐसा ज्ञान होने लगता है उसी समय मिथ्याज्ञानके अभावमें आत्मा ज्ञानी हो जाता है। अतः ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे कर्म-नोकर्ममें अहंबुद्धि न हो।

इसी भावको श्रीअमृतचन्द्रस्वामी कलशके द्वारा दर्शाते हैं—

मालिनीछन्द

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः सन्ततं स्युस्त एव ॥२१॥

करता है अर्थात् मेरे यह सब पदार्थ होंगे अथवा मैं इन सब पदार्थोंरूप होऊंगा इस तरह परद्रव्यमें आत्माको माननेवाला और आत्मामें परद्रव्यको माननेवाला अज्ञानी है।

अब यहां वस्तुस्वरूपका विचार करते हैं—अग्नि जो है वह ईंधन नहीं है क्योंकि अग्निपर्याय अन्य है और ईंधनपर्याय अन्य है। अग्नि, अग्नि ही है और ईंधन ईंधन ही है। इनका परस्परमें पदार्थकी तरह भेद है। इसी तरह अग्निका ईंधन नहीं है और ईंधनका अग्नि नहीं है। अग्निका ही अग्नि है और ईंधनका ही ईंधन है। इसी तरह अतीतकालमें भी अग्निका ईंधन नहीं था और ईंधनका अग्नि नहीं था, अग्निका ही अग्नि था और ईंधनका ही ईंधन था। इसी प्रकार जो आनेवाला भविष्यत्काल है उसमें भी अग्निका ही अग्नि होगा तथा ईंधनका ही ईंधन होगा। इस तरह जिस प्रकार किसी ज्ञानी जीवके अग्निमें अग्नि और ईंधनमें ईंधनका सद्भूत विकल्प होता है और उसके कारण वह प्रतिबुद्ध—ज्ञानी कहलाता है। इसी प्रकार किसी ज्ञानी जीवके मैं यह नहीं हूं यह परवस्तु मुझरूप नहीं है ये परपदार्थ मेरे नहीं हैं मैं इन परपदार्थोंरूप नहीं हूं अतीतकालमें ये परपदार्थ मेरे नहीं थे मैं इन परपदार्थोंरूप नहीं था और आगामी कालमें भी ये परपदार्थ मेरे नहीं होंगे तथा मैं इन परपदार्थोंरूप नहीं होऊंगा इस प्रकारके सद्भूत विकल्प होते हैं तथा इन्हींके कारण आत्माको आत्मा और परको पर जानता हुआ वह प्रतिबुद्ध—सम्यग्ज्ञानी कहलाता है। ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव ही संसारके बन्धनोंसे छूटनेका पात्र होता है। परद्रव्यमें आत्माकी कल्पना करना होता मिथ्याज्ञानीका लक्षण है। जैसे रज्जुमें सर्पको माननेवाला मिथ्याज्ञानी है और उस मिथ्याज्ञानजन्य दुःखको भोगता है। इसी प्रकार शरीरको आत्मा माननेवाला मिथ्याज्ञानी है और उसका फल जो अनन्त संसार है उसको वह भोगता होता है। परमें आत्मबुद्धि करनेवाला मोहकर्म है। उसके दो भेद हैं—एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। दर्शनमोहके उदयसे यह जीव स्वरूपका भ्रम करके परको आत्मरूप और आत्माको पररूप मानने लगता है। तथा चारित्रमोहके उदयसे परको आत्माका और आत्माको परका मानने लगता है। ये अहंकार और ममकार दोनों ही विकारी भाव हैं। इनसे सहित हुए जीव अज्ञानी कहलाता है और इनके निकल जानेपर ज्ञानी कहा जाता है।

श्री अमृतचन्द्रस्वामी कलशा द्वारा उन विकारीभावोंके जनक मोहको दूर करनेका उपदेश देते हैं—

मालिनीछन्द

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्॥

अर्थ—हे जगत्! हे संसारके प्राणियो! आजन्मसे व्याप्त जो मोह है उसे अब तो त्यागो और सत्पुरुषोंके रसिकजनोंको रुचनेवाला तथा उदयको प्राप्त जो ज्ञान है उसका रसास्वाद करनेमें उद्यत होओ। इस लोकमें किसी प्रकार किसी कालमें आत्मा अनात्माके साथ एक होकर तादात्म्य भावको प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ—इस आत्माकी दृष्टिसे आत्मा परद्रव्यके साथ किसी क्षेत्र व किसी कालमें एकताको

६

विशेषार्थ—यहाँ पर निश्चयसे पूर्वप्रक्रियाके द्वारा जो आत्मा अपने आश्रित मोहको निरस्त करके प्रकट हुए ज्ञानस्वभावसे युक्त आत्माका अनुभव करता हुआ जितमोह होता है वही स्वभावभावकी भावनाकी कुशलताके वशसे जब मोहकी सन्ततिका इस तरह अत्यन्त नाश करता है कि जिस तरह वह फिर उत्पन्न न हो सके, तब उसका मोह क्षीण हो चुकता है अर्थात् सत्तासे पृथक् हो जाता है और वह भाव्यभावकभावका अभाव होनेसे एकत्वभावमें स्थित होता हुआ टङ्कोत्कीर्ण परमात्म अवस्थाको प्राप्त होकर क्षीणमोह जिन कहलाने लगता है। इस प्रकार तृतीय निश्चयस्तुति जानना चाहिये।

इसी प्रकार मोहपदको बदलकर राग द्वेष क्रोध मान माया लोभ कर्म नोकर्म मन, वचन काय श्रोत्र चक्षु घ्राण रसना और स्पर्शन इन पदोंके सूत्रोंकी व्याख्या करना चाहिये?

पहले सामान्यरूपसे उपशम था अर्थात् मोहादिप्रकृतियोंके उपशम करनेका प्रयास था। और अब सत्तामें नाश कर क्षीणमोह होनेका रूप है। इसी तरह और भी जान लेना चाहिये। व्यवहारनयसे शरीर और आत्मामें एकपन कहा जाता है। निश्चयसे आत्मा और शरीर एक नहीं है अतः शरीरका स्तवन करनेसे ही आत्माका स्तवन नहीं हो सकता किन्तु निश्चयसे आत्माका स्तवन करनेसे ही आत्माका स्तवन हो सकता है। अतः आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। इस विवेचनसे जो यह शङ्का की गयी थी कि शरीरका स्तवन करनेसे आत्माका स्तवन होता है उसका निरसन हो जाता है ॥३३॥

यही भाव श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशामें प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः ॥२७॥

अर्थ—शरीर और आत्मामें एकपन व्यवहारसे है निश्चयसे नहीं, अतः शरीरकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति व्यवहारसे है निश्चयसे नहीं। निश्चयसे तो आत्माकी स्तुति आत्माकी स्तुतिसे ही हो सकती है। इस तरह तीर्थङ्करकी स्तुति विषयक प्रश्नका जो उत्तर दिया था उसके बलसे आत्मा और शरीरमें एकपन सिद्ध नहीं किया जा सकता ॥२७॥

मालिनीछन्द

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्याऽत्यन्तमुच्छादितायाम् ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥

अर्थ—इस तरह तत्त्वके अभ्यासी मुनियोंके द्वारा नयविभागकी योजनासे जब आत्मा और शरीरकी एकताका बिलकुल निराकरण कर दिया गया, तब स्वरसके वेगसे खिंचकर एक स्वरूप

भिन्न दर्शनमें आता है उस आत्माको आत्मा और परको जाननेवाला सम्यग्ज्ञानी जीव मोहसे निर्मम—ममता रहित कहता है।

मैं यथार्थरूपसे ऐसा जानता हूँ कि यह जो मोह है वह मेरा कुछ भी नहीं है। जब तक मोहकर्म सत्तामें रहता है तब तक तो आत्मा कुछ भी विकार भाव करनेमें समर्थ नहीं होता किन्तु जब उसका विपाककाल आता है तब आत्मामें भाव्यभाव—रागादिक होते हैं और उन भावोंके उत्पन्न होनेमें मोहकी विपाक अवस्था निमित्तभूत है। इसीसे फलदानकी सामर्थ्यसे जब यह उदयमें आता है तब आत्मामें जो रागादिक उत्पन्न होते हैं वे इसीके द्वारा होते हैं। जब उन रागादिकोंका उत्पादक यह मोहनीय पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म ही है यही भावक कहलाता है। आत्मा टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव वाला है। अतः परमार्थसे विचार किया जाय तो यह भाव आत्माका स्वभावभाव नहीं है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि पुद्गलद्रव्यात्मक मोहकर्म जिसका उत्पादक है ऐसा मोह मेरा कुछ भी नहीं है क्योंकि परमार्थसे परभावके द्वारा पर नहीं हो सकता है। ज्ञानी मनुष्य ऐसा विचार करता है—जिसकी प्रतापरूप संपदा स्वयं ही विश्वके समस्त पदार्थोंके प्रकाश करनेमें चतुर है तथा निरन्तर विकासरूप है ऐसे चैतन्यशक्तिरूप स्वभावके द्वारा भगवान् आत्माका ही अवबोध होता है। मैं एक ज्ञायकस्वभाव वाला हूँ परन्तु समस्त द्रव्योंका जो परस्पर साधारण एकक्षेत्रावगाह हो रहा है उसकी अनिवार्यता—निवारण किये जानेकी असमर्थता—से परस्परमज्जित अवस्था भी हो रही है अर्थात् आत्मा और रागादिक विकारी भाव परस्पर मिलकर एक हो रहे हैं। परन्तु जिस प्रकार दही और खांड परस्पर मिलकर यद्यपि एकरूप प्रतीत होते हैं तथापि विवेकी जनोंको दही और खांडका स्वाद पृथक्-पृथक् अनुभवमें आता है उसी प्रकार आत्मा और रागादिककी मज्जितावस्थामें भी सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंको आत्मा तथा रागादिकोंका स्वाद पृथक्-पृथक् अनुभवमें आता है। अतः मैं मोहके प्रति निर्मम ही हूँ। आत्मा चैतन्यगुणके द्वारा भिन्न ही अनुभव होता है और मोहात्मक रागादिकोंका आकुलतामय अनुभव भिन्न रूपसे होता है। अतः आत्मा सदा अपने एकत्वमें तन्मय स्थितिको धारण करता हुआ स्थित है तथा मोह उससे भिन्न पृथक् ही पदार्थ है।

वास्तवमें मोहकर्म पुद्गलात्मक है। इसका जब विपाककाल आता है तब आत्माके उपयोग सम्बन्धी स्वच्छताकी विकाररूप परिणति हो जाती है और उसी परिणतिमें ये रागादिक कलुष भाव अवतीर्ण होते हैं। मिथ्यात्वके निमित्तसे यह आत्मा उन्हें अपने मानने लगता है। फलस्वरूप कभी अपनेको क्रोधी कभी मानी, कभी मायावी और कभी लोभी बनाता है। इन्हीके द्वारा अनर्थपरम्पराका पात्र होता है। परन्तु जब भेदज्ञानका अवलम्बन करता है तब इन्हें विकृत भाव जान इनसे भिन्न अपने ज्ञानानन्द स्वभावका अनुभव करता हुआ अनर्थपरम्पराको समूल उन्मूलन कर देता है। इस तरह भावक और भाव्यका विवेक प्रकट होता है॥ ३६॥

अब श्री अमृतचन्द्रस्वामी इसी भावको कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

स्वागताछन्द

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥ ३० ॥

भावार्थ—इस आत्मामें ज्ञानरूपी सागर मिथ्याज्ञानरूपी परदाके भीतर छिपा है। इसीसे संसारके समस्त प्राणी बाह्य पदार्थोंमें अहंकार-ममकार करते हुए निरन्तर अशान्त रहते हैं। जब उस मिथ्याज्ञानरूपी परदाको अत्यन्त दूरकर यह भगवान् भेदविज्ञानरूपी सागर प्रकट हुआ है तो इसके शान्त रसमें—आह्लादात्मक परिणतिमें संसारके समस्त प्राणी एकसाथ अच्छी तरह अवगाहन करें। संसारके अन्य समुद्रोंका रस अर्थात् जल तो क्षाररूप होनेसे अवगाहनके योग्य न था परन्तु इस भेदविज्ञानरूपी सागरका रस अर्थात् जल अत्यन्त शान्त है आह्लादकारक है और शान्तता ही इसका रस है। अतः अवगाहनके योग्य है। यहाँ आचार्य महाराजने यह भावना प्रकट की है कि संसारके सब प्राणी विभ्रम अर्थात् मिथ्यात्वको नष्टकर भेदज्ञानी होते हुए शान्तिका अनुभव करें क्योंकि बिना भेदज्ञानके परम समता नहीं हो सकती और परम समताके बिना शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता।

आत्मख्यातिटीकाके रचयिता श्री अमृतचन्द्र स्वामीने इस समयसारको नाटकके रूपमें प्रकट किया है। नाटकके प्रारम्भमें एक पूर्वरङ्ग नामका प्रकरण होता है जिसमें नट रङ्गभूमि सम्बन्धी विघ्नोंकी शान्तिके लिये स्तवन आदि करते हैं। यहाँ पूर्वरङ्ग[1] नामक प्रकरणको समाप्त करते हुए अमृतचन्द्राचार्यने भेदज्ञानका स्तवन किया है ॥ ३८ ॥

अब आगे जीव और अजीव दोनों एक होकर प्रवेश करते हैं। सो उन दोनोंमें भेदको दिखलाता हुआ जो ज्ञान है उसकी प्रशंसामें कलश-काव्य लिखते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदा-
नासंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ।
आत्माराममनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ॥३३॥

अर्थ—जो जीव और अजीवके भेदको दिखलानेवाली विशाल दृष्टिसे सभासदोंको भिन्न द्रव्यकी प्रतीति कराता है, जो अनादि संसारसे बँधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाश करनेसे शुद्ध है, निजात्मरूप है, आत्मामें ही रमण करता है, अनन्त तेजःस्वरूप है, प्रत्यक्ष तेजसे नित्य उदित है, धीर है, उदात्त है, आकुलतासे रहित है और मनको आह्लादित करनेवाला है ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान सभाको आनन्दरूप करता हुआ विलासरूप उदित होता है। अनादि

---

1 यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥ —साहित्यदर्पण परिच्छेद ६ ।
सभापतिः सभा सभ्या गायका वादका अपि ।
नटी नटश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरञ्जनात् ॥
अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्वं यत्र प्रकल्पते ।
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्भिरुच्यते ॥ —भावप्रकाशिका ।

अर्थ—वर्णादिकसे लेकर गुणस्थानपर्यन्त जितने भाव हैं और जो ऐसा जीव का कहा भाव है और वर्णादिक जितने भी भाव हैं वे सभी पुद्गलमय हैं।

भावार्थ—आगमका व्यवहार नयकी विवक्षा करता है। जितने भी भाव हैं वे सब पुद्गलद्रव्यके द्वारा पुद्गलमय होते हैं उनमें आत्माको अभिन्न मानना व्यवहार नय है। यहाँ ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म तथा शरीर आदि नोकर्म पुद्गलद्रव्यका परिणमन होनेसे पौद्गलिक हैं परन्तु रागादिक भावकर्म भी पुद्गलके निमित्तसे होनेके कारण पौद्गलिक कहे हैं। यह निमित्तकी मुख्यता करता है। उपादानकी मुख्यतासे वे आत्माके ही विकारी भाव हैं ॥४६॥

आगे इसीका विशेष विवरण आचार्य छह गाथाओंमें कहते हैं—

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ॥५०॥
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५१॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥५२॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५३॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५४॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥
(षट्कम्)

अर्थ—जीवके न वर्ण है न गन्ध है न रस है न स्पर्श है न रूप है न शरीर है, न संस्थान है न संहनन है। जीवके न राग है न द्वेष है न मोह है न प्रत्यय (आस्रव) हैं न नोकर्म हैं। जीवके न वर्ग है न वर्गणा है न स्पर्धक हैं न अध्यात्मस्थान हैं, न अनुभागस्थान हैं। जीवके न कोई योगस्थान हैं न बन्धस्थान हैं न उदयस्थान हैं न मार्गणास्थान हैं। जीवके न स्थितिबन्धस्थान है, न संक्लेशस्थान हैं न विशुद्धिस्थान हैं न संयमलब्धिस्थान हैं। जीवके न जीवस्थान हैं और न गुणस्थान हैं क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्यके परिणमन हैं।

विशेषार्थ—जो वस्तु जिसका परिणाम होती है वह उसी रूप होती है यह नियम है। अतः ये वर्णादिक जब पुद्गलके परिणाम हैं तब पुद्गल ही इनसे तन्मय है, इन्हें जीव मानना न्यायपथका अनुसरण नहीं करना है।

जो काला, हरा, पीला, लाल, सफेद वर्ण है वह रूपगुणका परिणमनविशेष है। रूपगुण

के साथ व्याप्ति है और संसार अवस्थामें वर्णादिककी व्याप्तिकी कभी सूचना भी रही है तो भी मोक्ष अवस्थामें ऐसा नहीं है जो वर्णादिककी व्याप्तिका आभास करती हो। क्योंकि मोक्षमें जीवकी ऐसी अवस्था है जिसमें वर्णादिकका सम्बन्ध नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य सम्बन्ध किसी भी तरह नहीं है ॥६१॥

आगे, यदि जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य सम्बन्ध माननेका दुराग्रह है तो उसमें यह दोष आवेगा यह कहते हैं—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥

अर्थ—यदि तू ऐसा मानता है कि ये वर्णादिक सब भाव जीव हैं तो तेरे मतमें जीव और अजीवमें कोई विशेषता नहीं रह जावेगी।

विशेषार्थ—पुद्गलके जो वर्ण, रस आदि गुण हैं उनमें क्रमसे अनेक परिणतियोंका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। जैसे आमका वर्ण अपक्व अवस्थामें हरा रहता है और पक्व *अवस्थामें पीला हो जाता है, अपक्व अवस्थामें उसका रस आम्ल रहता है और पक्व अवस्थामें* मधुर हो जाता है। इस प्रकार वर्णादिक प्रकट और अप्रकट अवस्थाको प्राप्त हुई अपनी उन-उन परिणतियोंसे पुद्गलद्रव्यका अनुगमन करते हुए जिस तरह पुद्गलद्रव्यके वर्णादिकके साथ तादात्म्य सम्बन्ध प्रसिद्ध करते हैं उसी तरह वर्णादिक भाव, अपनी प्रकट और अप्रकट अवस्थाको प्राप्त हुई उन-उन परिणतियोंसे जीवका अनुगमन करते हुए जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य सम्बन्ध प्रसिद्ध करते हैं ऐसा जिसका अभिप्राय है उसके मतमें शेष द्रव्योंसे असाधारण वर्णादिमत्त्व जो पुद्गलद्रव्यका लक्षण था उसे जीवद्रव्यने स्वीकृत कर लिया अतः जीव और पुद्गलमें अविशेषताका प्रसङ्ग आ जावेगा अर्थात् दोनों एक समान हो जावेंगे। इस स्थितिमें पुद्गलद्रव्यसे भिन्न जीवका अस्तित्व समाप्त होनेसे जीवका अभाव हो जायगा। अतः जीवका वर्णादिकके साथ तादात्म्य सम्बन्ध माननेमें मूलोच्छेद दोष आता है ॥६२॥

आगे संसार अवस्थामें यदि जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य माना जावे तो क्या आपत्ति है? इसका भी गुरु उत्तर देते हैं—

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥६३॥
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥६४॥
(युगल)

अर्थ—यदि तेरे मतमें संसारस्थ जीवोंका वर्णादिकके साथ तादात्म्य है ऐसा माना जावे, तो संसारस्थ जीव रूपीपनेको प्राप्त हो जावेंगे ऐसा माननेपर पुद्गलद्रव्य ही जीव सिद्ध हुआ और पुद्गलके समान लक्षण होनेसे हे मूढमते! निर्वाणको प्राप्त हुआ पुद्गल द्रव्य ही जीवपनेको प्राप्त हुआ।

वसन्ततिलकाछन्द

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम्।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥४३॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्वकथित लक्षणसे अजीव जीवसे भिन्न है ऐसा ज्ञानीजन स्वयं उल्लसित ज्ञानद्वारा अजीवतत्त्वका अनुभव करते हैं। परन्तु अज्ञानी जीवका निरवधि-निरन्तर वृद्धिको प्राप्त हुआ यह मोह क्यों बार-बार अतिशयरूप नृत्य कर रहा है यह आश्चर्य और खेदकी बात है।

भावार्थ—जीव और अजीव दोनों ही अपने अपने लक्षणोंसे भिन्न-भिन्न हैं ऐसा ज्ञानी जीव स्वयं अनुभव करते हैं। परन्तु अज्ञानी जीवका मोह अर्थात् मिथ्यात्व इतना अधिक विस्तारको प्राप्त हुआ है कि वह उसे स्पष्ट सिद्ध जीव और अजीवका भेदज्ञान नहीं होने देता। इसीलिये वह शरीरादि अजीव पदार्थोंमें जीवबुद्धि कर चतुर्गतिमें भ्रमण करता है ॥४३॥

आचार्य कहते हैं कि अज्ञानीका यह मोह भले ही नृत्य करो परन्तु ज्ञानीको ऐसा भेदज्ञान होता ही है—

वसन्ततिलकाछन्द

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध—
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥४४॥

अर्थ—यहाँ इस अनादिकालसे बहुत बड़ा अविवेकका नाट्य हो रहा है उसमें वर्णादिमान् पुद्गल ही नृत्य करता है अन्य नहीं क्योंकि यह जीव रागादिक पुद्गलके विकारोंसे विरुद्ध शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्तिसे संयुक्त है अर्थात् वीतरागविज्ञान इसका स्वरूप है।

भावार्थ—अनादि कालसे इस जीवका पुद्गलके साथ परस्परावगाहरूप सम्बन्ध हो रहा है इसलिये अज्ञानी जीवोंको इसमें एकत्वका भ्रम उत्पन्न हो रहा है। उसी भ्रमको दूर करनेके लिये आचार्य इन दोनोंके भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाते हुए कह रहे हैं कि जीव तो रागादिक पुद्गलके विकारोंसे रहित शुद्ध चैतन्यधातुका पिण्ड है और पुद्गल वर्णादिमान् है। इस अविवेक अर्थात् अभेदज्ञानरूप नाट्यमें सारी भूमिका पुद्गलकी ही है। वही राग द्वेष मोह प्रत्यय कर्म और नोकर्म आदिका रूप रखकर अपने नाना स्वांग दिखला रहा है। जीव तो सब अवस्थाओंमें एक चैतन्यका ही पिण्ड रहता है ॥४४॥

इस तरह भेदज्ञानकी प्रवृत्तिसे ही ज्ञायक आत्मतत्त्व प्रकट होता है यह कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।

रूप परिणमन करता है, उसे विकार्य कर्म कहते हैं। जब मृत्तिका घटरूप परिणमनको प्राप्त होती है। यहाँ मृत्तिकाका घटाकार परिणमन तो अपूर्व हुआ, परन्तु पिण्डावस्थारूप परिणमन नष्ट हुआ। इसीसे इसे विकार्य कर्म कहते हैं। प्रकृतमें प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य भेदसे त्रिविध कर्मरूप जो पुद्गलका परिणमन है वह व्याप्य है उसमें पुद्गलद्रव्य अन्तर्व्यापक होकर आदि मध्य अन्त अवस्थाओंमें व्याप्त होता हुआ उसे ग्रहण करता है उस रूप परिणमन करता है और उसमें उत्पद्यमान होता है। इस प्रकार पुद्गलद्रव्यके द्वारा कर्मकी उत्पत्ति होती है। उस कर्मको नाना यद्यपि जानता है तो भी आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर बाह्यमें रहनेवाले परद्रव्योंके परिणामको मृत्तिका-कलशकी तरह आदि मध्य और अन्त अवस्थाओंमें व्याप्त होकर न तो ग्रहण करता है न उस रूप परिणमता है और न उसमें उत्पन्न होता है। इस तरह परद्रव्यके परिणमनरूप व्याप्य लक्षणवाले कर्मको नहीं करनेवाला तथा पुद्गलकर्मको जाननेवाला जो ज्ञानी जीव है उसका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है। तात्पर्य यह है कि जीव अपनेसे भिन्न जो पुद्गलद्रव्य है उस रूप कभी परिणमन नहीं करता है क्योंकि जीव चेतन है और पुद्गलद्रव्य अचेतन है चेतन अचेतनरूप परिणमन नहीं कर सकता। इसी तरह जीव पुद्गलको ग्रहण नहीं करता क्योंकि जीव अमूर्तिक है और पुद्गल मूर्तिक है और परमार्थसे जीव पुद्गलको उत्पन्न नहीं करता है क्योंकि चेतन अचेतनको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यसे शून्य है। इस तरह पुद्गल जीवका कर्म नहीं है और जीव पुद्गलका कर्ता नहीं है। जीवका स्वभाव ज्ञाता है अतः वह ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ पुद्गलद्रव्यको जानता भर है। इस तरह जाननेवाले जीवका पुद्गलके साथ कर्तृकर्मभाव कैसे हो सकता है? ॥७६॥

आगे स्वकीय परिणामको जाननेवाला जो जीव है उसका क्या पुद्गलके साथ कर्ता-कर्म भाव हो सकता है या नहीं, इस आशङ्काका उत्तर देते हैं—

> ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
> णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥७७॥

अर्थ—ज्ञानी अनेक प्रकारके स्वकीय परिणामको जानता हुआ भी परद्रव्यकी पर्यायरूप न परिणमन करता है, न उसे ग्रहण करता है और न उस रूप उत्पन्न ही होता है।

विशेषार्थ—प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य भेदसे भेदत्रयको प्राप्त जो आत्मपरिणामरूप कर्म है वह व्याप्य है, आत्मा अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओंमें व्याप्त होता हुआ उस आत्मपरिणामको ग्रहण करता है उस रूप परिणमन करता है और उस रूप उत्पन्न होता है। अतः आत्मा कर्ता है और उसके द्वारा किया हुआ आत्मपरिणाम कर्म है। ज्ञानी जीव उस आत्मपरिणामरूप कर्मको यद्यपि जानता है तो भी स्वयं अन्तर्व्यापक होकर बाह्य स्थित परद्रव्यके परिणामको मृत्तिका-कलशके समान आदि मध्य और अन्त अवस्थाओंमें व्याप्त होकर न ग्रहण करता है न उस रूप परिणमन करता है और न उस रूप उत्पन्न होता है। अतएव प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य भेदसे त्रिरूपताको प्राप्त जो परद्रव्यका परिणामरूप कर्म है उसका कर्ता नहीं है किन्तु स्वकीय परिणामको जानता है। इस तरह परद्रव्यके परिणामस्वरूप कर्मको नहीं करनेवाला तथा स्वकीय परिणामको जाननेवाला जो ज्ञानी है उसका पुद्गलद्रव्यके साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है।

सिद्धान्त है। इसका आशय यह है कि मृत्तिका जिस तरह कलशरूप पर्यायका कर्ता नहीं, इसी तरह जीव भी पुद्गलपरिणामोंका कर्ता कदाचित् भी नहीं हो सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवका अपने परिणामोंके साथ ही कर्तृ कर्मभाव और भोक्तृ भोग्यभाव है।

कार्योत्पत्तिकी प्रक्रियामें उपादानकारण और निमित्तकारण ये दो कारण होते हैं। उपादान कारण वह है जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है। जैसे घटका उपादान कारण मिट्टी। और निमित्त कारण वह है जो उपादानकी कार्यानुकूल परिणतिमें सहायक होता है। जैसे घटकी उत्पत्तिमें कुम्भकार, दण्ड, चक्र चीवरादि। यहाँ आचार्यने उपादानकारणकी मुख्यतासे कथन किया है। उपादानकी मुख्यतामें विवक्षा यह है कि जीव और पुद्गल दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं। अतः दोनोंका परस्पर एकद्रव्यरूप परिणमन नहीं हो सकता। स्वकीय परिणमनका स्व ही उपादानकारण हो सकता है ऐसा नियम है। अतः पुद्गलद्रव्यमें जो कर्मरूप परिणमन होता है उसका उपादानकारण पुद्गल ही है। इसी तरह जीवमें जो रागादिकरूप परिणमन है उसका उपादान कारण जीव ही है। जीव और पुद्गलका यह परिणमन सर्वथा परनिरपेक्ष नहीं है क्योंकि यदि सर्वथा परनिरपेक्ष माना जायगा तो अकारणवान् होनेसे उसमें नित्यत्वका प्रसङ्ग आ जावेगा परन्तु जीवके रागादिक परिणाम और पुद्गलके कर्मरूप परिणमन नित्य नहीं हैं। जब अनित्य हैं तब किसी कारणसे ही उनकी उत्पत्ति होना चाहिये। इस स्थितिमें निमित्तकारणकी अपेक्षा आवश्यक रहती है। निमित्तकारण स्वयं कार्यरूप परिणत नहीं होता। इसलिये भिन्न द्रव्यके निमित्त बननेमें आपत्ति नहीं है। अतः पुद्गलके कर्मरूप परिणमनमें जीवका रागादिभाव निमित्तकारण है और जीवके रागादिभावरूप परिणमनमें पौद्गलिक कर्म निमित्तकारण है। उपादानोपादेयभाव एकद्रव्यमें बनता है और निमित्त नैमित्तिकभाव दो द्रव्योंमें बनता है। यहाँ प्रकरण कर्तृ-कर्मभावका है। परमार्थसे कर्तृ-कर्म उन्हींमें बनता है जिनमें व्याप्यव्यापकभाव होता है और चूंकि व्याप्यव्यापकभाव एक ही द्रव्यमें हो सकता है। अतः रागादि भावोंका कर्ता जीव ही है पौद्गलिक कर्म नहीं और ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्ता पुद्गल ही है जीव नहीं है ॥८०।८१।८२॥

यही दिखाते हैं—

> णिच्छयणयस्स एव आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
> वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३॥

अर्थ—निश्चयनयका यह सिद्धान्त है कि आत्मा आत्माको ही करता है और आत्मा आत्माको ही भोगता है यह तू जान॥

विशेषार्थ—जैसे वायुके सञ्चरणका निमित्त पाकर समुद्रकी उत्तरङ्ग अवस्था हो जाती है अर्थात् जब वायुका वेग होता है तब समुद्रमें कल्लोलें उठने लगती हैं और जब वायुका वेग मन्द हो जाता है तब समुद्रकी निस्तरङ्ग अवस्था हो जाती है। अर्थात् वायुके वेगके अभावमें कल्लोलों का उठना स्वयमेव [illegible] है। [illegible] सञ्चरण और असञ्चरणरूप निमित्तको पाकर यद्यपि समुद्रकी [illegible] निस्[illegible] जाती है तो भी वायु और समुद्रका परस्परमें [illegible] है। [illegible] [illegible] अभावमें कर्तृकर्मभावकी भी असिद्धि है। उस [illegible] [illegible] होकर आदि, मध्य और अन्त [illegible] र कभी उत्तरङ्गरूप आत्मा [अपने]

अर्थ—यदि आत्मा इस पुद्गलकर्मको करता है और उसी पुद्गलकर्मको भोगता है तो वह दो क्रियाओंसे अभिन्न ठहरता है सो यह जिनदेवको अस्वीकृत है।

विशेषार्थ—इस लोकमें जितनी भी क्रियाएँ हैं वे सब परिणामस्वरूप होनेके कारण परिणामसे भिन्न नहीं हैं और क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु हैं अतः परिणाम परिणामीसे भिन्न नहीं है। इस तरह जो भी क्रिया होती है वह सब क्रियावान्से भिन्न नहीं होती। अतएव वस्तुस्थितिके अनुसार क्रिया और कर्ताकी अभिन्नता सिद्ध होती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जैसे व्याप्यव्यापकभावसे जीव अपने परिणामको करता है और भाव्य भावकभावसे उसीका अनुभव करता है। यदि इसी प्रकार व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलकर्मको भी करने लगे और भाव्यभावकभावसे उसीका अनुभव करने लग जाय तो स्व और परके रहनेवाली दो क्रियाओंमें अभेदका प्रसङ्ग आ जायगा और उस स्थितिमें स्व तथा परके बीच परस्परका भेद समाप्त हो जानेसे एक आत्मा अनेकरूप हो जायगा तथा एक आत्माको अनेकरूपसे अनुभव करनेवाला आत्मा मिथ्यादृष्टि हो जायगा, सो यह सर्वज्ञ भगवान्को अभिमत नहीं है।

यहाँ कर्ता जीव और पुद्गल दो द्रव्योंकी है। जीव चेतनद्रव्य है और पुद्गल जड द्रव्य है। दोनों द्रव्योंकी क्रियाएँ वस्तुमर्यादाके अनुसार भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् जीवकी क्रिया जीवमें होती है और पुद्गलकी क्रिया पुद्गलमें होती है। इसी सिद्धान्तके अनुसार जीव जीवपरिणामोंका कर्ता है और जीवपरिणामोंका ही भोक्ता है। इसी तरह पुद्गल पुद्गलपरिणामोंका कर्ता है और पुद्गलपरिणामोंका ही भोक्ता है। इस वस्तुस्थितिका उल्लङ्घन कर व्यवहारनय जीवको पुद्गल कर्मोंका कर्ता और भोक्ता बतलाता है। सो इस निरूपणमें जीवमें दो क्रियाओंका समावेश हो जायगा—एक जीवकी अपनी क्रियाका तथा दूसरी पुद्गलकी क्रियाका। और क्रियाका क्रियावान्से अभेद होता है। इसलिए जीवका उपर्युक्त दोनों क्रियाओंके साथ अभेद होनेसे जिस प्रकार उसमें जीवत्व रहता है उसी प्रकार पुद्गलत्व भी रहने लग जायगा। इसलिए जीवद्रव्य जो पहले जीवत्वकी अपेक्षा एकरूप था अब वह पुद्गलका भी कर्ता मान लेनेपर पुद्गलरूप होनेके कारण अनेकरूप हो जायगा। और इस विपरीत तत्त्वश्रद्धाको माननेवाला मिथ्यादृष्टि हो जायगा। यही कारण है कि भगवान्ने इस सिद्धान्तको असम्मत (अस्वीकृत) किया है॥ ८५॥

आगे दो क्रियावादी किस तरह मिथ्यादृष्टि होता है, इसीको गाथा द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥८६॥

अर्थ—जिस कारण जीव आत्मभाव तथा पुद्गलभाव दोनोंको करते हैं इसलिए दो क्रियावादी लोग मिथ्यादृष्टि होते हैं।

विशेषार्थ—क्योंकि द्विक्रियावादी अर्थात् दो क्रियाओंका कर्ता एक होता है ऐसा कथन करनेवाले लोग आत्माको आत्मपरिणाम और पुद्गलपरिणाम दोनोंका करनेवाला मानते हैं इसलिए वे मिथ्यादृष्टि हैं यह सिद्धान्त है। यह कदापि नहीं हो सकता कि एकद्रव्यके द्वारा दो द्रव्योंके परिणाम हो जावें। जैसे कुम्हार जब घट बनाता है तब जिस प्रकारका घट बनना है उसके अनुरूप ही अपने व्यापार व परिणामका कर्ता होता है और उस कुम्हारका वह परिणाम

अर्थ—निश्चयसे दो द्रव्य एकरूप परिणमन नहीं करते, न दो द्रव्योंका एकरूप परिणाम होता और दो द्रव्योंकी एक परिणति नहीं होती, क्योंकि जो अनेक हैं वे सदा अनेक ही रहते हैं ॥५४॥

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥५४॥

अर्थ—एक कर्मके दो कर्ता नहीं होते, एक कर्ताके दो कर्म नहीं होते और एक द्रव्यकी दो क्रियाएँ नहीं होतीं, क्योंकि जो एक है वह अनेक नहीं हो सकता।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥५५॥

अर्थ—अहो ! निश्चयसे इस संसारमें मोही जीवोंके जबसे संसार है तभीसे 'मैं परद्रव्यका कर्ता हूँ' ऐसा अहंकार रूप दुर्निवार महान् अन्धकाररूपी अन्धकार चला आ रहा है। सो वह अन्धकार यथार्थनयके ग्रहण करनेसे यदि एक बार भी विलयको प्राप्त हो जावे तो फिर ज्ञानघन आत्माके बन्ध क्या हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

भावार्थ—संसारमें अज्ञानी जीव अनादिकालसे अपने आपको परका कर्ता मानकर कर्मोंका बन्ध कर रहा है। अपने आपको परका कर्ता मानना ही मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व ही कर्मबन्धका प्रमुख कारण है। यहाँ मिथ्यात्वको दुर्निवार अन्धकारका रूपक दिया गया है। वस्तुका परमार्थ स्वरूप समझनेसे वह मिथ्यात्वरूपी अन्धकार यदि एक बार भी नष्ट हो जाता है तो फिर यह जीव अनन्त संसार तक बन्धनका पात्र नहीं रह सकता, क्योंकि मिथ्यात्वका क्षय कर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति उसी जीवको होती है जिसका संसारका काल अधिक-से-अधिक अर्धपुद्गल परावर्तनमात्र रह गया हो।

अनुष्टुप्छन्द

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥५६॥

अर्थ—आत्मा सदा आत्मभावोंको ही करता है और परद्रव्य परभावोंको ही करता है। आत्माके भाव आत्मा ही हैं और परके भाव पर ही हैं।

भावार्थ—संसारका प्रत्येक द्रव्य सदा अपने-अपने भावोंका कर्ता है, इस सिद्धान्तसे आत्मा आत्मभाव ही भावोंका कर्ता है और आत्माके अतिरिक्त जो परद्रव्य हैं वे अपने भावोंके कर्ता हैं। भाव और भाववान्‌में परमार्थसे कोई भेद नहीं है, इसलिये आत्माके जो भाव हैं वे आत्मा ही हैं और परके जो भाव हैं वे पर ही हैं ॥५६॥

मोहकी प्रकृतियाँ तथा आत्माके ज्ञानको घातने वाली मिथ्यात्व आदि प्रकृतियाँ अथवा मतिज्ञानावरणादि ज्ञानावरणकी प्रकृतियाँ ये सब अजीव हैं क्योंकि पौद्गलिक हैं। और इन उपर्युक्त प्रकृतियोंके विपाककालमें जायमान जो विपरीताभिनिवेश अथवा अतत्त्वश्रद्धानरूप श्रद्धागुणकी विपरीतपरिणति, आत्मप्रदेशोंमें प्रकम्पकारी शक्तिरूप भावयोग, अविरतिरूप चारित्रगुणकी विपरीतपरिणति तथा मतिज्ञानादिगुणोंकी अज्ञानरूप विपरीतपरिणति है वह सब जीव हैं क्योंकि उपयोगस्वरूप होनेसे ये जीवकी ही विशिष्ट परिणतियाँ हैं ॥ ८८ ॥

अब मिथ्यादर्शनादि भाव चैतन्यपरिणामके विकार कैसे हैं ? यही दिखाते हैं—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥८९॥

अर्थ—मोहयुक्त उपयोगके अनादिसे तीन तरहके परिणाम होते हैं। वे परिणाम मिथ्यात्व अज्ञान और अविरतिरूप जानने योग्य हैं ॥

विशेषार्थ—वास्तविकदृष्टिसे देखा जावे तो सब ही पदार्थ—स्वकीय-स्वकीय परिणामरूप परिणमनेमें समर्थ हैं। यह सब पदार्थोंका वास्तविक स्वभाव-सामर्थ्य है कोई स्वकीय परिणमनमें उपादानरूपसे किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं करता है। उपयोगमें स्वभावसे समस्त वस्तुओंके आकार परिणमनेकी सामर्थ्य है। अतएव उसके साथ अनादिकालसे वस्त्वन्तरभूत जो मोहका सम्बन्ध है उसके निमित्तसे मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और अविरतिरूप तीन तरहका उस उपयोगका विकाररूप परिणमन हो जाता है और यह बात असंभव नहीं, क्योंकि ऐसा होता देखा गया है—जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे स्वच्छ है किन्तु निमित्त पाकर उसकी स्वच्छता विकाररूप हो जाती है, यही दिखाते हैं—

स्फटिककी स्वच्छता अपने स्वरूपरूप परिणमनमें सकल सामर्थ्यशालिनी है। किन्तु जब उसके साथ नील-हरित-पीत-तमाल-कदली-काञ्चनपात्रकी उपाधिका सम्बन्ध हो जाता है तब उसके तीन तरहके नील-हरित-पीतविकाररूप परिणमन हो जाते हैं यह सबके दृष्टिगोचर कथा है। इसी तरह उपयोगका वस्त्वन्तरभूत मोहके साथ सम्बन्ध होनेसे मिथ्यादर्शन अज्ञान और अविरतरूप तीन तरहका परिणामविकार देखा जाता है। इसका आशय यह है कि जैसे स्फटिक मणि स्वभावसे स्वच्छ है परन्तु उस स्फटिकमणिको जिस रङ्गकी डाक लगाई जाती है उसी तरहका उसका परिणाम हो जाता है। इसी प्रकार आत्माका जो उपयोग है वह स्वच्छ है परन्तु जब उसके साथ मिथ्यादर्शनादि उपाधिका सम्बन्ध रहता है तब वह मिथ्यादर्शनादिरूप परिणामको प्राप्त हो जाता है ॥ ८९ ॥

आगे आत्मामें तीन प्रकारके परिणामोंका कर्तृत्व है, यही दिखाते हैं—

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९०॥

अर्थ—यद्यपि उपयोग आत्माका शुद्ध निरञ्जन भाव है तो भी इन मिथ्यादर्शन, अज्ञान

होनेके कारण कर्मरूप परिणमन करनेकी योग्यता है। अतः अन्तरङ्गमें उस योग्यताके तथा बहिरङ्गमें आत्माके मिथ्यादर्शनादि विभावभावके निमित्तसे पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करता है। यहाँ आत्मा और पुद्गल दोनोंमें विद्यमान वैभाविकशक्तिसे जायमान योग्यताको लक्ष्यमें रखकर कथन करते हुए कहा गया है कि आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन स्वयं करता है और पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन स्वयं करता है। जब आत्मा और पुद्गलकी उस योग्यताको गौण कर बहिरङ्ग निमित्तकी प्रधानतासे कथन किया जाता है तब कहा जाता है कि पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मरूप पुद्गलके निमित्तसे आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन करता है और आत्माके मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमनके निमित्तसे पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करता है। यहाँ मन्त्रसाधकके दृष्टान्तसे भी यही बात प्रकट की गई है क्योंकि मन्त्र सिद्ध करने वाला पुरुष ध्यानविषयक योग्यताको स्वयं रखता है उस योग्यतासे ही वह ध्यानरूप परिणमन करता हुआ ध्यानका कर्ता कहलाता है उधर सर्पादिकके विषमें दूर होनेकी योग्यता स्वयं है। अतः जब मन्त्रसाधक और सर्पादिकके विष दोनोंकी अपनी अपनी योग्यताओंको लक्ष्यमें रखकर कथन होता है तब कहा जाता है कि मन्त्रसाधक स्वयं ध्यानरूप परिणमन करता है और सर्पादिकका विष स्वयं दूर होता है। परन्तु जब उनकी उस योग्यताको गौणकर बाह्य निमित्तकी प्रधानतासे कथन होता है तब कहा जाता है कि अमुक मन्त्रसाधकके ध्यानके प्रभावसे सर्पका विष दूर हो गया अमुक व्यक्तिके वशीकरण मन्त्रसे स्त्रियाँ विडम्बनाको प्राप्त हो गईं तथा अमुक व्यक्तिकी मन्त्रसाधनाकी महिमासे बन्धन खुल गये। यहाँ इस बात ध्यानमें रखनेकी और है कि बहिरङ्ग निमित्त साध्यभावकी अनुकूलतासे ही निमित्तपनेको प्राप्त होता है क्योंकि साध्यभावकी अनुकूलताके बिना केवल निमित्तसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती ॥९१॥

अब यह बात कहते हैं कि अज्ञानसे ही कर्म होते हैं—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥ ९२ ॥

अर्थ—अज्ञानमय जीव परको अपना और आपको पर करता हुआ कर्मोंका कर्ता होता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे यह आत्मा अज्ञानभावके द्वारा पर और आत्माका भेदज्ञान नहीं कर सकता है और भेदज्ञानके अभावमें परको तो अपना करता है और अपनेको पररूप करता है अतः स्वयं अज्ञानमय होता हुआ कर्मोंका कर्ता प्रतिभासमान होता है। यहाँ 'प्रतिभाति' क्रिया देनेका यह तात्पर्य है कि परमार्थसे कर्ता तो नहीं है किन्तु भासमान होता है। उसीको स्पष्ट रूपसे दिखाते हैं—राग द्वेष सुख दुःख आदि पुद्गलपरिणामकी अवस्थाएँ हैं और ये अवस्थाएँ मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ इस प्रकारके अनुभव करानेमें समर्थ हैं। परन्तु जैसे शीत उष्ण पुद्गलपरिणामकी अवस्थाएँ हैं और वे शीत, उष्णके अनुभव करानेमें समर्थ हैं तथा पुद्गलसे अभिन्न हैं उसी तरह राग द्वेष, सुख दुःखादि अवस्थाएँ भी पुद्गलसे अभिन्न हैं और इन अवस्थाओंके निमित्तसे जो अनुभव होता है वह अनुभव आत्मासे अभिन्न तथा पुद्गलसे नित्य ही भिन्न है किन्तु इस अनुभवकी और रागादिरूप अवस्थाओंकी अज्ञानसे परस्पर भेदज्ञान न होने पर दोनोंमें एकत्वका अध्यास हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा शीत, उष्णरूप परिणमन करानेमें असमर्थ है उसी प्रकार

भावार्थ—ज्ञानमें ही ऐसी सामर्थ्य है कि वह अग्निमें उष्णता और जलमें शीतताकी व्यवस्था करता है। ज्ञान ही इस बातका बोध कराता है कि यह उष्णता स्पर्श है और यह शीतलता स्पर्श है। और ज्ञान ही रसगुणके विकारसे गुणादिक लवणपिण्ड और क्रोधादिक भेदको ज्ञान कराता है तथा कर्तृभावके भेदका भेदन करता हुआ आत्माके अकर्तापनका ज्ञान कराता है।

अग्निका सम्बन्ध जल जब गरम हो जाता है तब ज्ञानकी ही यह महिमा है कि वह इसका बोध करता है कि जलमें जो यह उष्णताकी प्रतीति हो रही है वह नैमित्तिक है परमार्थसे जलकी नहीं किन्तु अग्निका निमित्तक उष्णता परिणमन है परमार्थसे जल शीत है। इसी तरह भोजनमें लवणके सम्बन्धसे क्षारपनेका स्वाद आता है। तत्त्वदृष्टिसे विचार किया जाय तो क्षारपन भोजनका नहीं लवणका है लवणके निमित्तसे भोजनमें क्षारपनेका स्वाद आ रहा है। इसी प्रकार चैतन्यरूप आत्मामें जो क्रोधादिककी प्रतीति हो रही है वह वास्तवमें मोहनीय नामक पुद्गलकर्मके निमित्तसे है आत्माका चैतन्यगुण तो स्वभावसे स्वच्छ है॥ ६०॥

आगे आत्मा आत्मभावका कर्ता है परका नहीं यह कहते हैं—

अनुष्टुप

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा।
स्यात्कर्तात्माऽऽत्मभावस्य परभावस्य न क्वचित्॥ ६१॥

अर्थ—परमार्थसे ज्ञानरूप आत्माको मोहादिक कर्मोके निमित्तसे अज्ञानरूप करता हुआ आत्मा आत्मभावका ही कर्ता हो सकता है परभावका कर्ता कभी नहीं हो सकता।

भावार्थ—तत्त्वदृष्टिसे आत्मा ज्ञानरूप ही है परन्तु मोहकर्मके विपाककालमें वह रागादिरूप परिणति होनेके कारण अज्ञानरूप जान पड़ता है। उस अज्ञानदशामें आत्मा कर्ता होता है परन्तु कर्ता भी आत्मभावका ही कर्ता होता है परभावका कर्ता नहीं होता॥ ६१॥

आगे आत्मा परभावका कर्ता कैसा कहा है? इसका उत्तर देते हैं—

अनुष्टुप

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥ ६२॥

अर्थ—आत्मा ज्ञान है, जब आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है तब ज्ञानसे भिन्न अन्य किसको करे? आत्मा परभावका कर्ता है, यह कहना व्यवहारी जनोंका मोह है—अज्ञान है।

भावार्थ—गुण और गुणीकी अभेददृष्टिसे जब कथन होता है तब जो गुण है वही गुणी है और जो गुणी है वही गुण है। इस तरह आत्मा और ज्ञान दोनों एक ही हैं। जब आत्मा स्वयं ज्ञान हो गया तब वह ज्ञानके सिवाय अन्य किसको करे? यद्यपि आत्मामें रागादिक भाव प्रतिभासमान होते हैं पर भेदज्ञानके उन्हें मोहजन्य होनेके कारण आत्मासे पृथक् कर दिया। अब आत्माके पास ज्ञानके सिवाय रहा ही क्या जिसका वह कर्ता हो सके? इस स्थितिमें आत्माको परभावका कर्ता कहना यह व्यवहारी जीवोंका मोह ही है—अज्ञान ही है॥६२॥

अर्थ—जो वस्तु जिस द्रव्य और गुणमें वर्तता है वह वस्तु अन्य द्रव्य व गुणमें संक्रमणरूप नहीं होता अर्थात् अन्यरूप परिवर्तित नहीं होता। वह वस्तु जब अन्यमें संक्रमण नहीं करता है तब अन्य द्रव्यको कैसे परिणमा सकता है?

विशेषार्थ—इस लोकमें जितनी कुछ वस्तुएँ विद्यमान हैं वे सब अपने चेतनस्वरूप अथवा अचेतनस्वरूप द्रव्य और गुणमें सहज स्वभावसे अनादिसे ही वर्त रहे हैं। वस्तुस्थितिकी इस अचलित मर्यादाको कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इसलिये जो वस्तु जिस द्रव्य और गुणरूप अनादिसे है वह उसी द्रव्य और गुणरूप सदा रहती है, अन्य द्रव्य और अन्य गुणमें उसका संक्रमण नहीं हो सकता अर्थात् परस्पर अन्यरूप नहीं हो सकता। जब अन्य द्रव्य और अन्य गुणमें उसका संक्रमण नहीं तब वह उन्हें अन्यरूप कैसे परिणमा सकता है? इससे यह निश्चय हुआ कि परभाव किसीके द्वारा नहीं किया जा सकता है॥१०३॥

अब निश्चित हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्मोंका कर्ता नहीं है यही दिखाते हैं—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥

अर्थ—आत्मा पुद्गलमय ज्ञानावरणादिकर्ममें न तो अपने द्रव्यको करता है और न गुणको करता है। जब वह उसमें द्रव्य-गुण—दोनोंको नहीं करता तब वह उसका कर्ता कैसे हो सकता है?

विशेषार्थ—जैसे निश्चयसे मृत्तिकामय कलश कर्ममें, मृत्तिका द्रव्य और मृत्तिकाके स्पर्श रस गन्ध वर्णरूप गुणोंमें स्वभावसे विद्यमान रहता है क्योंकि वस्तुकी मर्यादासे भिन्न द्रव्य और भिन्न गुणोंका भिन्न द्रव्य और भिन्न गुणमें प्रवेश निषिद्ध है। अतः कुम्भकार उस कलशमें न तो अपने आपको प्रविष्ट कराता है और न अपने गुणोंको ही प्रविष्ट कराता है। अन्य द्रव्यमें प्रवेश किये बिना अन्य वस्तुको परिणमाना अशक्य है। इसलिये जब कुम्भकार कलशमें अपने द्रव्य और अपने गुणोंको धारण नहीं कर सकता तब तत्त्वदृष्टिसे वह उसका कर्ता प्रतिभासमान नहीं होता। ऐसे ही पुद्गलमय ज्ञानावरणादिकर्म पुद्गलद्रव्य और उसके गुणोंमें स्वभावसे ही रह रहा है। क्योंकि अन्यद्रव्यको अन्यद्रव्यमें और अन्यगुणको अन्यगुणमें प्रवेश नहीं कराया जा सकता, इसलिये आत्मा उस ज्ञानावरणादिकर्ममें न तो अपने आत्माको धारण करता है और न अपने गुणोंको धारण करता है। अन्य द्रव्यमें प्रवेश किये बिना अन्यवस्तुको परिणमाना अशक्य है। इसलिये जब आत्मा ज्ञानावरणादिकर्ममें अपने द्रव्य और गुणोंको धारण नहीं कर सकता तब तत्त्वदृष्टिसे वह उनका कर्ता कैसे प्रतिभासित हो सकता है। अतः परमार्थसे यही सिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्मोंका कर्ता नहीं है॥१०४॥

आगे इससे अन्य जो कथन है वह उपचार है, यह कहते हैं—

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

अर्थ—यह जीव जब रागादिभावरूप परिणमन करता है तब जीवके निमित्तको पाकर

ये प्रत्यय (कारण) गुणस्थाननाम वाले हैं तथा क्योंकि ये ही कर्मोंको करते हैं, इसलिये जीव अकर्ता है। ये गुणस्थान इन कर्मोंको करते हैं।

विशेषार्थ—निश्चयसे पुद्गलकर्मका कर्ता एक पुद्गलद्रव्य ही है। उसीके विशेष मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग हैं जो सामान्यरूपसे बन्धके चार हेतु कहे गये हैं। ये चार हेतु ही भेद करनेपर मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त तेरह प्रकारके हैं। ये तेरह गुणस्थान पुद्गलकर्मोंके उदयसे विकल्परूप होनेसे अत्यन्त अचेतन हैं और अचेतन पुद्गलकर्मोंके साथ इनका व्याप्यव्यापकभाव बन जाता है। इस स्थितिमें यदि ये किसी पुद्गलकर्मको करें तो करें, इससे आत्माका क्या आया ? अर्थात् जब अचेतन गुणस्थान अचेतन पुद्गलकर्मोंके कर्ता यदि होते हैं तो हों उनसे कर्तृत्व जीवमें कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कदाचित् यह तर्क किया जावे कि पुद्गलमय मिथ्यात्वादि भावोंका वेदन करता हुआ जीव स्वयमेव मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है सो निश्चयसे यह अज्ञान है क्योंकि आत्माका उन पुद्गलमय भावोंके साथ भाव्यभावक भावका अभाव है। इस स्थितिमें जब आत्मा पुद्गलमय मिथ्यात्व आदि भावोंका वेदक ही नहीं है तब पुद्गलमय मिथ्यात्वादि कर्मोंका कर्ता किस प्रकार हो सकता है ? इससे यह सिद्धान्त आया कि पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्य प्रत्ययोंके विकल्परूप तथा गुणस्थानके नामसे व्यवहृत होनेवाले जो तेरह प्रकारके विशेष प्रत्यय हैं वे अकेले ही अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपसे निरपेक्ष रहकर ही कर्मोंको करते हैं। इस तरह जीव पुद्गलकर्मोंका अकर्ता है उक्त तेरह गुणस्थान ही पुद्गलकर्मोंके कर्ता हैं और ये गुणस्थान पुद्गलद्रव्यके विपाकसे जायमान होनेके कारण पुद्गलद्रव्य ही हैं। इससे सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्मोंका कर्ता एक पुद्गलद्रव्य ही है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगके निमित्तसे आत्माके गुणोंमें जो तारतम्य होता है उसे गुणस्थान कहते हैं। ये गुणस्थान यद्यपि आगममें चौदह बतलाये गये हैं परन्तु चौदहवाँ गुणस्थानमें भाव और योग दोनोंका अभाव हो जानेसे कर्मबन्धका कुछ भी कारण नहीं है इसलिये यहाँ बन्धके विशेष प्रत्ययोंमें मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त तेरह गुणस्थान ही बतलाये हैं। ये गुणस्थान आत्माकी शुद्ध परिणतिरूप नहीं हैं तथा पुद्गलमय अचेतन कर्मोंके उदयसे उत्पद्यमान होनेके कारण निमित्तप्रधानदृष्टिसे कथंचित् अचेतन हैं। यहाँ अचेतनताका घटपटादिकके समान सर्वथा जडरूप हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये किन्तु आत्माकी शुद्ध चैतन्य परिणतिसे भिन्न हैं ऐसा आशय समझना चाहिये। ये गुणस्थान ही कर्मोंके कर्ता हैं गुणस्थान क्योंकि पुद्गलात्मक हैं इसलिये पुद्गल ही पुद्गलकर्मोंका कर्ता है जीव नहीं है यह बात सिद्ध हो जाती है। इस तरह जीव यदि पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं तब इस प्रकरणमें जो यह आशंका उठाई गई थी कि यदि जीव पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं है तो फिर उसका कर्ता कौन है ? इस आशंकाका उत्तर देते हुए कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान ही कर्मोंके कर्ता हैं तथा ये गुणस्थान पुद्गलकर्मके विपाकसे होनेके कारण पुद्गलरूप हैं ॥ १०९-११२ ॥

आगे जीव और प्रत्ययोंमें एकपना नहीं बन सकता यह दिखाते हैं—

> जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
> जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥११३॥

अथ पुद्गलद्रव्य परिणमनशील है यह सांख्यमतके अनुयायी शिष्यके प्रति कहते हैं—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥११६॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥११७॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा ॥११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११९॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पुग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥

अर्थ—यदि तुम्हारा यह मत हो कि यह जीव न तो अपने आप कर्ममें बद्ध है और न स्वयं क्रोधादिरूप परिणमन करता है तो यह अपरिणामी हो जायगा और जब जीव क्रोधादि भावरूप स्वयं परिणमन नहीं करेगा तब संसारका अभाव हो जायगा अथवा सांख्यसिद्धान्तकी आपत्ति उपस्थित होगी। इसका वारण करनेके लिये यदि ऐसा माना जाय कि पुद्गलकर्म क्रोधादि (द्रव्यकर्म) जीवको क्रोधादिरूप (भावकर्मरूप) परिणमाते हैं तो सहज ही यह आशङ्का होती है कि पुद्गलकर्म क्रोध अपने आप क्रोधादिरूप परिणमन करनेवाले जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता है? या नहीं परिणमन करनेवाले जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता है? प्रथम पक्षमें स्वयं क्रोधादिरूप न परिणमते हुए जीवको पुद्गलकर्म क्रोधादि तद्रूप कैसे परिणमा सकता है? और द्वितीय पक्षमें जीव स्वयं क्रोधादिरूप परिणमन करता है ऐसी यदि तुम्हारी बुद्धि है तो फिर पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता है यह कहना नितान्त मिथ्या हो जावेगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि जब आत्मा क्रोधमें उपयुक्त होता है तब स्वयं क्रोध है, जब मानमें उपयुक्त होता है तब स्वयं मान है, जब मायामें उपयुक्त होता है तब स्वयं माया है और जब लोभमें उपयुक्त होता है तब स्वयं लोभ है।

विशेषार्थ—जीव कर्मके साथ न तो स्वयं बधा है और न स्वयं क्रोधादिरूप परिणमन करता है यदि ऐसा माना जाय तो जीव अपरिणामी हो ठहरता है और ऐसा होनेपर संसारके अभावका प्रसङ्ग आता है। इसके निवारणके लिए यदि यह तर्क उपस्थित किया जाय कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक जीवको क्रोधादिभावरूप परिणमाता है इससे संसारका अभाव नहीं होगा तो यहाँ यह आशङ्का होती है कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक, अपने आप न परिणमन हुए जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता है? या अपने आप क्रोधादिरूप परिणमन हुए जीवको क्रोधादिरूप परिणमाता है? प्रथम पक्षमें स्वयं क्रोधादिरूप नहीं परिणमता हुआ जीव अन्य-पुद्गलकर्मके द्वारा तद्रूप कैसे परिणमाया जा सकता है? क्योंकि जो शक्ति पदार्थमें स्वयं नहीं है वह अन्यके द्वारा नहीं की जा सकती। द्वितीय पक्षमें यदि स्वयं परिणमनशील जीवको पुद्गलद्रव्य क्रोधादि क्रोधादिभावरूप परिणमाता है ऐसा माना जाय तो ठीक नहीं है क्योंकि स्वयं परिणमनशील पदार्थ अन्य परिणमन करानेवालेकी अपेक्षा कभी नहीं करता। जो वस्तुकी शक्तियाँ हैं वे दूसरोंकी अपेक्षा कभी नहीं करती हैं अतः यह सिद्ध हुआ कि जीवद्रव्य स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है। ऐसा होनेपर जिस प्रकार मन्त्रका साधक जब गरुडका ध्यान करता है तब वह गरुडके ध्यानरूप परिणत होनेसे स्वयं गरुड हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानस्वभाव क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमन हो रहा है ऐसा जीव स्वयं क्रोधादिरूप हो जाता है। इस तरह जीवद्रव्य परिणामस्वभाववाला है यह सिद्ध हुआ ॥ १२१-१२५ ॥

यही भाव श्रीअमृतचन्द्रस्वामी कलशमें प्रकट करते हैं—

उपजातिछन्द

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया
    स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
    यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥६५॥

उत्पन्न होता है, इसलिए अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भाव ही होते है।

विशेषार्थ—जिस कारण निश्चयकर अज्ञानमय भावसे जो कोई भी भाव होता है वह सम्पूर्ण भाव अज्ञानरूपताका अतिक्रमण न करता हुआ अज्ञानमय ही होता है, इस कारण अज्ञानी जीवके जितने भाव है वे सब अज्ञानमय ही होते है और जिस कारण ज्ञानमय भावसे जो कुछ भी भाव होता है वह सम्पूर्ण भाव ज्ञानरूपताका अतिक्रमण न करता हुआ ज्ञानमय ही होता है, इस कारण ज्ञानी जीवके सभी भाव ज्ञानमय ही होते है ॥१२८-१२९॥

इसी भावको कलशामे दिखाते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥६७॥

अर्थ—ज्ञानी जीवके सब भाव ज्ञानसे ही निष्पन्न होते हैं और अज्ञानी जीवके सब भाव अज्ञानसे ही रचे जाते है ॥६७॥

आगे इसी सिद्धान्तका दृष्टान्तसे समर्थन करते है—

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३०॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥

अर्थ—जैसे सुवर्णमय भावसे सुवर्णात्मक ही कुण्डलादिक होते है और लोहमय भावसे लोहरूप ही कडे आदि उत्पन्न होते है वैसे ही अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भावसे सम्पूर्ण अज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होते है और ज्ञानी जीवके ज्ञानमय भावसे सम्पूर्ण भाव ज्ञानमय ही उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ—जैसे निश्चयसे यद्यपि पुद्गल स्वय परिणामस्वभाववाला है तो भी 'कार्योकी उत्पत्ति कारणोंके अनुसार ही होती हैं' इस सिद्धान्तसे सुवर्णमय भावसे सुवर्ण जातिका अतिक्रमण नही करनेवाले सुवर्णमय कुण्डलादिक पर्याय ही उत्पन्न होते है, लोहनिर्मित कडे आदि नही। और लोहरूप भावसे लोहजातिका अतिक्रमण नही करने वाले लोहमय कडे आदिक पर्याय ही उत्पन्न होते है, सुवर्ण निर्मित कुण्डलादिक नही। ऐसे ही जीवपदार्थ यद्यपि स्वय परिणामस्वभाव वाला है तो भी 'कार्योकी उत्पत्ति कारणोके अनुसार ही होती है' इस सिद्धान्तसे अज्ञानी जीवके स्वय अज्ञानमय भावसे अज्ञानजातिका अतिक्रमण नही करने वाले नानाप्रकारके अज्ञानमय भाव ही होते है, ज्ञानमय नही। और ज्ञानी जीवके स्वय ज्ञानमय भावसे ज्ञानजातिका अतिक्रमण नही करने वाले सब ज्ञानमय ही भाव होते है, अज्ञानमय नही ॥१३०-१३१॥

यही भाव कलशामे प्रकट करते है—

अनुष्टुप्छन्द

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।
द्रव्यकर्मनिमित्ताना भावानामेति हेतुताम् ॥६८॥

अर्थ—अज्ञानी जीव अज्ञानमय भावोंकी भूमिकाको व्याप्त कर द्रव्यकर्मके निमित्त जो अज्ञानमय भाव हैं उनके हेतुपनेको प्राप्त होता है।

भावार्थ—अज्ञानी जीवके मोह, राग तथा द्वेषरूप अज्ञानमय भावोंके निमित्तसे आगामी द्रव्यकर्मोंका बन्ध होता है ॥६८॥

आगे अज्ञानमय भाव द्रव्यकर्मके हेतु किस प्रकार हैं ? यही दिखाते हैं—

अण्णाणस्स स उदओ जं जीवाणं अतच्च-उवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥१३१॥
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥१३३॥
तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

(पञ्चकम्)

अर्थ—जीवोंके जो अतत्त्वोपलब्धि [अन्यथा पदार्थका जानना] है वह अज्ञानका उदय है अर्थात् जीवोंके जब अज्ञानका उदय होता है तब उन्हें यथार्थ पदार्थका भान नहीं होता है इसीका विपर्ययज्ञान कहते हैं। जब जीवोंके मिथ्यात्वका उदय होता है तब तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं होता है। जब असंयमका उदय होता है उस कालमें अंशमात्र भी त्याग नहीं होता इसीका नाम अविरमण है। जब जीवोंके कषायोंका उदय होता है तब उपयोग कलुषित हो जाता है। जो जीवोंका शुभ अथवा अशुभ करने योग्य अथवा न करने योग्य चेष्टाका उत्साह है उसे योगोंका उदय जानो। हेतुभूत इन सब भावोंके रहते हुए अर्थात् इन उक्त भावोंका निमित्त पाकर कार्मण वर्गणारूपसे आया हुआ जो द्रव्य है वह ज्ञानावरणादि भावोंसे आठ प्रकारका परिणमता है। कार्मणवर्गणारूपसे आया हुआ द्रव्य जब जीवके साथ बन्धको प्राप्त होता है तब जीव अपने अज्ञानादि भावोंका कारण होता है।

विशेषार्थ—अतत्त्वोपलब्धिरूपसे जीवमें जो स्वाद आता है वह अज्ञानका उदय है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगके जो उदय हैं वे ही कर्मबन्धके कारण मिथ्यात्वादि अज्ञानमय चार भाव हैं। तत्त्वका श्रद्धान न होनेसे ज्ञानमें जो अतत्त्वश्रद्धानरूप स्वाद आता है यही मिथ्यात्वका उदय है। अविरमणभावसे जो ज्ञानमें स्वाद आता है यही असंयमका उदय है। कलुषित उपयोगरूपसे ज्ञानमें जो स्वाद आता है यही कषायका उदय है और शुभाशुभ प्रवृत्ति निवृत्तिरूप व्यापारसे ज्ञानमें जो स्वाद आता है यही योगका उदय है। ये मिथ्यात्वादिकके उदयरूप चारों भाव पुद्गल हैं तथा आगामी कर्मबन्धके कारण हैं। इनके रहते हुए कार्मणवर्गणारूपसे जो पुद्गल

द्रव्य आता है वह ज्ञानावरणादि आठ प्रकाररूप स्वय परिणम जाता है। वही कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जव जीवके साथ निवद्ध होता है अर्थात् वन्धरूपताको प्राप्त होता है तव यह जीव स्वय अज्ञानके कारण पर और आत्मामे एकत्वका अध्यासकर अपने मिथ्यात्वादिक अज्ञानमय परिणामोंका हेतु होता है ॥ १३२-१३६ ॥

आगे जीवका परिणाम पुद्गलद्रव्यसे पृथक् ही है, यह दिखाते हैं—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा ॥१३७॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥ १३८ ॥

(युग्मम्)

अर्थ—यदि जीवके रागादिक परिणाम कर्मके साथ ही होते है ऐसा माना जावे, तो ऐसा माननेसे जीव और कर्म दोनो ही रागादिक भावोको प्राप्त हो जावेगे। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिरूपसे एक जीवका ही परिणाम होता है अर्थात् केवल एक जीव ही रागादिक परिणामोके द्वारा परिणमन करता है और वह परिणाम कर्मोदयरूप हेतुके विना केवल जीवका ही परिणाम है।

विशेषार्थ—रागादिक अज्ञान भावोके होनेमे विपच्यमान (उदयागत) मोहादिककर्म ही कारण है, इसलिए उनके साथ ही जीवका रागादिक परिणाम होता है अर्थात् मोहादिक कर्म और जीवकी मिश्रितावस्था ही रागादिरूप परिणत हो जाती है, यदि ऐसा माना जावे तो जैसे चूना और हल्दीके मिलापसे दोनोका एक लाल रङ्गरूप परिणमन हो जाता है, ऐसे ही मोहादिक कर्म और जीवके मिलापसे दोनोका रागादिरूप परिणाम होता है ऐसा मानना पडेगा, यह एक दुर्निवार आपत्ति होगी। अत उस आपत्तिके वारणके लिए केवल जीवका ही रागादिक परिणाम होता है, ऐसा मानना ही श्रेयस्कर है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवका रागादिरूप परिणाम अपने हेतुभूत पुद्गलकर्मके विपाकसे पृथक् ही है।

पहले निमित्तकी प्रधानतासे कहा था कि जीवके रागादिकभाव पुद्गलकर्मके उदयसे होनेके कारण पुद्गलरूप है। यहाँ उपादानकी प्रधानतासे कहा गया है कि रागादिकभाव जीवके ही परिणाम है, परन्तु पुद्गलकर्मके उदयसे जायमान होनेके कारण जीवके स्वभाव नही है किन्तु विभावरूप है ॥ १३७।१३८ ॥

आगे पुद्गलद्रव्यका परिणाम भी जीवसे पृथक् ही है, यह कहते हैं—

जह जीवेण सह च्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।
एवं पुग्गल जीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ॥१३९॥
एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४०॥

(युग्मम्)

जीवमे कर्म बँधे है वह, "जीवमे कर्म नही बँधे है" इस पक्षका अतिक्रमण करता हुआ भी, विकल्प-का अतिक्रमण नही कर सकता हे। और जो जीवमे कर्म नही बँधे है, ऐसा विकल्प करता है वह "जीवमे कर्म बँधे है" इस पक्षका अतिक्रमण करता हुआ भी उक्त विकल्पका अतिक्रमण नही कर सकता है। और जो जीवमे कर्मबद्ध भी है और अबद्ध भी है ऐसे दो विकल्प करता है वह, दोनो पक्षोका अतिक्रमण करता हुआ भी उक्त दोनो विकल्पोका अतिक्रकमण नही कर पाता है। इससे जो समस्त नयपक्षोका अतिक्रमण करता है वही पुरुप समस्त विकल्पोका अतिक्रमण करता हे और जो समस्त विकल्पोका अतिक्रमण करता है वही वास्तवमे समयसारको प्राप्त होता हे। इसका तात्पर्य यह है कि साधक अवस्थामे ही नाना प्रकारके विकल्पजाल है, मोहका अभाव होनेपर जब यह आत्मा स्वकीय स्वरूपमे लयको प्राप्त हो जाता हे तव इन नयोके द्वारा होनेवाले नाना विकल्प अपने आप अभावरूप हो जाते है। यदि ऐसा हे तो कौन पुरुप इन नयपक्षोके त्यागकी भावना नही करेगा ? अर्थात् सभी करेंगे ॥१३२॥

यही अभिप्राय श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलश-काव्योमे प्रकट करते है—

उपेन्द्रवज्राछन्द

य एव मुक्त्वा नयपक्षपात स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृत पिवन्ति ॥६९॥

अर्थ—जो महापुरुप नयपक्षको छोडकर स्वरूपमे लीन होते हुए निरन्तर अपने आपमे निवास करते हैं वे ही विकल्पजालसे च्युत होकर शान्त चित्त होते हुए साक्षात् अमृतका पान करते है ॥६९॥

उपजातिछन्द

एकस्य वद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥७७॥

अर्थ—चेतन—आत्माके विपयमे एक नयका कहना है कि वह कर्मोसे वद्ध है और दूसरे नयका कहना है कि वह कर्मोसे वद्ध नही हे। इस तरह दो नयोके ये दो पक्ष है। जो इस पद्धति का अनुसरण करते है अर्थात् इन दोनो नयोमे अन्यतर नयके पक्षपाती है वे तत्त्वज्ञानी नही है, जो तत्त्ववेदी है वे उक्त पक्षपातसे शून्य हे। उनके सिद्धान्तमे तो चेतन—आत्मा चिन्मात्र ही है ॥७०॥

एकस्य मूढो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥७१॥

अर्थ—एक नयका तो यह पक्ष है कि आत्मा मोही है और दूसरे नयका कहना है कि आत्मा मोही नही है। इस तरह एक ही आत्मामे मोही और अमोही ये दो नयोके दो पक्षपात है। जिनके पक्षपात नही, वह तत्त्वज्ञानी है तथा उसके सिद्धान्तमे चैतन्यस्वरूप आत्मा नित्य ही निश्चयसे चिन्मात्र ही है ॥७१॥

एकस्य रक्तो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७२॥

अर्थ—एक नयका पक्ष है कि आत्मा रागी है और दूसरे नयका कहना है कि आत्मा रागी नहीं है। इस तरह एक ही आत्माके विषयमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। परन्तु जो पक्षपातसे रहित है वह तत्त्वज्ञानी है, उसके सिद्धान्तमें चैतन्यस्वरूप आत्मा निश्चयसे नित्य ही चिन्मात्र ही है ॥७२॥

एकस्य द्विष्टो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७३॥

अर्थ—एक पक्षका कहना है कि आत्मा द्वेषी है और इसके विपरीत पक्षका कहना है कि आत्मा द्वेषी नहीं है। इस तरह एक ही आत्मामें दोनों के पक्षपात हैं। और जिसका नयपक्षपात मिट गया वह तत्त्ववेदी—तत्त्वज्ञानी है उसके सिद्धान्तमें आत्मा नित्य ही चिन्मात्र ही है ॥७३॥

एकस्य कर्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७४॥

अर्थ—एक पक्षका कहना है कि आत्मा कर्ता है और इससे विरुद्ध पक्षवालेका कहना है कि आत्मा अकर्ता है। इस तरह एक चेतनामें दो नयवालोंके दो पक्ष हैं। और जो पक्षपातके जालसे च्युत तत्त्वज्ञानी हैं उनका कहना है कि इन औपाधिक भावोंको त्यागकर देखा जावे तो आत्मा नित्य ही चिन्मात्र है ॥७४॥

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७५॥

अर्थ—एक नयवालेका कहना है कि आत्मा भोक्ता है और इससे इतर पक्षवालेका यह कहना है कि आत्मा भोक्ता नहीं है। इस पद्धतिसे एक ही चेतनामें दो नय माननेवालोंके भिन्न भिन्न तरहके दो पक्षपात हैं। परन्तु जो इन नयविकल्पोंके जालसे मुक्त है वह तत्त्वज्ञानी है। उसका यह सिद्धान्त है कि चेतना तो नित्य चेतना ही है ॥७५॥

एकस्य जीवो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७६॥

जाता है, परन्तु जो विकल्पजालसे परे है तथा तत्त्वज्ञानका आस्वादी है उसका कहना है चित्-आत्मा तो चिद्रूप ही है, यह विकल्प केवल शिष्य-सम्बोधनके अर्थ है ॥८४॥

एकस्य नाना न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥

अर्थ—एक नयका इस प्रकार कथन है कि आत्मा नाना है क्योंकि अनेक प्रकारसे उसमे नाना प्रकारके धर्मोका कथन होता है। इसमे भिन्न नयका कथन है कि आत्मा नाना नही है क्योकि अनेक प्रकारसे कथन होनेपर भी वह एकरूपताको नही छोडता। इस तरह एक ही आत्मामे अनेक और एक धर्मोका दो नयो द्वारा निरूपण किया जाता है। परन्तु जो विकल्पजालसे च्युत है तथा तत्त्वज्ञानी है उनका कहना है कि आत्मा तो चिद्रूप ही है ॥८५॥

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा चेत्य है—जाननेके योग्य है और अपरनयका कहना है कि आत्मा इससे भिन्नरूप है, ऐसा उभयनयोका चेत्य और अचेत्य रूपसे कथन होता है। परन्तु जो विकल्पजालके फन्देसे निकल गया है तथा तत्त्वको जानता है वह कहता है कि इन विकल्पोको छोडो। वह चेतनात्मक आत्मा तो चिद्रूप ही है ॥८६॥

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा दृश्य है क्योकि अन्तर्मुखाकारतया प्रतिभासमान हो रहा है और अन्य नयका कहना है कि आत्मा दृश्य नही है क्योकि वहि पदार्थको विषय करनेवाले ज्ञानका विषय नही है। इस रीतिसे एक ही आत्मामे दृश्य और अदृश्य दो तरहके धर्मोका प्रतिपादन करनेवाले दो नय है। किन्तु जिसकी तत्त्वज्ञानदृष्टिसे यह विकल्पजाल छिन्न-भिन्न हो गया है उसका कहना है कि आत्मा तो आत्मा ही है ॥८७॥

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८८॥

अर्थ—एक नयका कहना है कि आत्मा वेद्य है, क्योकि स्वसवेदनका विषय है। इससे भिन्न नयका कहना है कि आत्मा वेद्य नही है। ऐसे एक ही आत्माको वेद्य और अवेद्यरूपसे निरू-

चित कहनेवाले दो नय हैं। परन्तु जो विकल्पजालसे पृथक है और तत्त्वज्ञानके मधुर स्वादका अनुभव करता है वह कहता है कि इन विकल्पोंके छोड़ने आत्मा तो आत्मा ही है ॥८८॥

एकस्य भातो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८९॥

अर्थ—एक नय ऐसा कहता है कि आत्मा भात है अर्थात् प्रत्यक्षभासमान है और अन्य नय ऐसा कहता है कि आत्मा भात नहीं है अर्थात् प्रत्यक्षभासमान नहीं है। ऐसे दो नयों द्वारा तो तत्त्वका भात अभात कथन होता है। परन्तु जो महान् पुरुष इस विकल्पजालसे पृथक् छूट गया है और तात्त्विक ज्ञानवान् है उसका यह कहना है कि चिद् चिद्रूप ही है ॥८९॥

वसन्ततिलकाछन्द

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥९०॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानी पुरुष जिसमें स्वेच्छासे समन्तात् नाना प्रकारके विकल्पजाल उत्थित हो रहे हैं ऐसी विशाल नयपक्षरूपी अटवीको लाँघकर भीतर और बाहर एक वीतराग परिणति ही जिसका स्वभाव है, ऐसे अनुभूतिमात्र अद्वितीय निजभावको प्राप्त होता है ॥९०॥

रथोद्धताछन्द

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥९१॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानी मनुष्य ऐसा विचार करता है कि मैं चिन्मात्र वह तेज हूँ कि जिसकी चमक उठते हुए बहुत भारी विकल्पोंकी परम्परासे सुशोभित इस प्रकारके इस समस्त इन्द्रजालको तत्काल नष्ट कर देता है ॥

भावार्थ—स्वार्थ और परार्थके भेदसे ज्ञानके दो भेद हैं। इनमें मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये चार ज्ञान स्वार्थ ही हैं। अर्थात् इनका प्रयोजन स्वकीय अज्ञानका अपहरण करना ही है। और श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है तथा परार्थ भी। परार्थका अर्थ अन्यके अज्ञान-तिमिरको दूर करना है। नय इसी परार्थ श्रुतज्ञानके विकल्प हैं। आचार्योंने परकीय अज्ञानको दूर करनेके लिए नाना प्रकारसे वस्तुस्वरूपोंका प्रतिपादन किया है। वस्तुस्वरूपके प्रतिपादनकी इसी पद्धतिसे आत्मामें बद्ध-अबद्ध, मूर्त-अमूर्त, रागी-विरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्त्ता-अकर्त्ता, भोक्ता-अभोक्ता, जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण-अकारण, कार्य-अकार्य, भाव-अभाव, एक-अनेक, सान्त-असान्त, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चेत्य-अचेत्य, दृश्य-अदृश्य, वेद्य-अवेद्य और भात-अभात ये नयपक्ष दिख

लाये है। नय, वस्तुस्वरूपको समझने और समझानेका एक साधन मात्र है, वस्तु नही है, वस्तु तो नयपक्षोंके विकल्पसे दूर है। इसलिये तत्त्वज्ञानी मनुष्य इन नयपक्षोको, जो कि एक बडी अटवीके समान है, उलङ्घकर शुद्ध स्वभावकी ही शरणको प्राप्त होता है। उस शुद्ध स्वभावकी शरणको प्राप्त करनेके लिए ज्ञानी जीव निरन्तर ऐमा चिन्तन करता है कि मै तो चिन्मात्र तेजका वह पुञ्ज हूँ जिसकी एक ही कौद नयपक्षोंके आश्रयसे उठने वाले नाना विकल्पोके इन्द्रजालको तत्काल नष्ट कर देती है। इस प्रकारके चिन्तनसे ज्ञानी जीव स्वीय स्वभावको प्राप्त होता ॥९१॥

आगे पक्षातिक्रान्त पुरुषका क्या स्वरूप है ? यही दिखाते हैं—

दोह्ण वि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिह्णदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

अर्थ—शुद्ध आत्मस्वरूपमे लीन रहने वाला जो पुरुष दोनो नयोके कथनको जानता तो है, किन्तु किसी नयपक्षको ग्रहण नही करता है वही नयपक्षसे रहित है अर्थात् पक्षातिक्रान्त है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार केवली भगवान् विश्वके साक्षीभूत अर्थात् समस्त पदार्थोंके ज्ञाता होनेसे श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहारनय और निश्चयनयके पक्षका केवल स्वरूप जानते है परन्तु किसी भी नयपक्षको ग्रहण नही करते, क्योकि केवली भगवान् निरन्तर उदयरूप स्वभाविक निर्मल सकल केवलज्ञान स्वभाववाले है, इसीलिये नित्य ही अपने आप विज्ञानघनस्वभाव है और इसीसे श्रुतज्ञानकी भूमिकासे अतिक्रान्त होनेके कारण समस्त नयपक्षोके ग्रहण करनेसे दूर हैं। इसी प्रकार जो श्रुतज्ञानी हैं वे भी श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार और निश्चयनयके पक्षको केवल जानते हैं, किसी नयपक्षको ग्रहण नही करते। यद्यपि उनके श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे जायमान श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उठते हैं परन्तु परपदार्थोंके ग्रहण-विषयक उत्सुकताके दूर हो जानेसे वे उन विकल्पोकी ओर लक्ष्य नही देते। श्रुतज्ञानी नयपक्षको ग्रहण नही करते, इसका कारण यह है कि वे अत्यन्त तीक्ष्ण दृष्टिसे गृहीत-निरुपाधि, नित्योदित एव चैतन्यमय शुद्ध आत्मस्वरूपमे प्रतिबद्ध होनेके कारण उस कालमे अपने आप विज्ञानघनस्वरूप हो रहे है तथा श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्प और बहिर्जल्परूप समस्त विकल्पोकी भूमिकासे परे होनेके कारण समस्त नयपक्षके परिग्रहमे दूरीभूत है। निश्चयसे ऐसा श्रुतज्ञानी समस्त विकल्पोसे अत्यन्त परे है, वही परमात्मा है, वही ज्ञानात्मा है, प्रत्यग्ज्योतिस्वरूप भी वही है, आत्मख्यातिस्वरूप भी वही है और वही अनुभूतिमात्र समयसार है। यहाँ कहनेका यह तात्पर्य है कि जैसे केवली भगवान् सब नयोंके ज्ञाता-द्रष्टा हैं, परन्तु मोहका अभाव होनेसे किसी भी पक्षको ग्रहण नही करते, केवल उनके दिव्यज्ञानमे सम्पूर्ण पदार्थ अनायास प्रकाशित हो रहे है। ऐसी श्रुतज्ञानी भी जब वस्तुस्वरूपको सर्वनयपक्षका त्याग कर शुद्धरूपमे अनुभवता है तब नयपक्षका ज्ञाता ही है। सम्यग्दृष्टि जीव सविकल्पदशामे भी एक नयपक्षको ग्रहण नही करता है। यदि सर्वथा एक पक्षका ग्रहण करे तो मिथ्यादृष्टि हो जावे, क्योकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, न तो सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है किन्तु नित्यानित्यात्मक है, जो कि प्रमाणका विषय है। अत श्रुतज्ञानी भी यथार्थ वस्तुका अवगमन करनेसे नयपक्षरहित ही है ॥१४३॥

आगे श्रुतज्ञानी जैसा अनुभव करता है वह कलशाके द्वारा दिखलाते हैं—

स्वागताछन्द

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ॥९२॥

अर्थ—श्रुतज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है कि मैं समस्त बन्धपद्धतिको त्यागकर उस अपार समयसारका अनुभव करता हूँ जो चैतन्यस्वभावके समूहसे होनेवाले भाव—उत्पाद अभाव—व्यय और भाव—ध्रौव्यसे परमार्थतया एक है।

भावार्थ—यद्यपि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यके कारण समयसारमें त्रिरूपता आती है परन्तु वह उत्पादादिकका त्रिक एक चैतन्यस्वभावमें होता है इसलिये समयसारकी एकरूपता खण्डित नहीं होती ॥९२॥

आगे पक्षातिक्रान्त ही समयसार है, यह स्थिर हुआ, यही दिखाते हैं—

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥

अर्थ—जो सम्पूर्ण नयपक्षसे रहित है वही समयसार कहा गया है। विशेषता यह है कि यह समयसार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इस नामको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—समस्त नयपक्षोंके द्वारा अक्षुण्ण होनेके कारण जिसमें समस्त विकल्पोंका व्यापार विश्रान्त हो चुका है ऐसा जो आत्माका परिणाम है वही समयसार है। यह समयसार एक होकर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इस संज्ञाको प्राप्त होता है क्योंकि प्रथम ही श्रुतज्ञानके बलसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय कर तदनन्तर शुद्धात्मतत्त्वकी अनुभूतिके लिए परख्याति—परद्रव्याभूतिके कारणभूत समस्त इन्द्रिय और मन सम्बन्धी बुद्धिको तिरस्कृत कर जिसने मतिज्ञानतत्त्वको आत्माके सम्मुख किया है तथा नानाप्रकारके नयपक्षोंके आलम्बन द्वारा अनेक विकल्पोंसे आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञानरूप बुद्धिको भी गौणकर जो श्रुतज्ञानके तत्त्वको भी आत्माभिमुख करता हुआ जो अत्यन्त निर्विकल्प हो गया है ऐसा आत्मा ही स्वभावसे शीघ्र प्रकट होनेवाले आदि मध्य और अन्तसे विमुक्त आकुलतारहित एक होनेपर भी समस्त विश्वके ऊपर तैरते हुएके समान स्थित अखण्ड प्रतिभासमय सच्चित् विज्ञानघन तथा परमात्मस्वरूप समयसारको प्राप्त करता हुआ सम्यक् प्रकारसे देखा जाता है—श्रद्धान किया जाता है तथा जाना जाता है। इसलिये जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है वह समयसार ही है ॥१४४॥

अब इसी भावको कलशकाव्य द्वारा प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम् ।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ॥९३॥

अर्थ—नयोंके पक्षके बिना अविनाशी, अविकल्पभावको प्राप्त, निश्चल, मनुष्योंके द्वारा

स्वय अनुभवमे आनेवाला तथा विज्ञानस्वरूप एकरससे युक्त जो यह समयसार सुशोभित हो रहा है वही यह भगवान् है, वही सनातन पुण्यपुरुष है, उसे चाहे ज्ञान कहो, चाहे दर्शन कहो, अथवा जो चाहो सो कहो, वह एक ही इन शब्दोसे व्यपदेशको प्राप्त होता है।

भावार्थ—यहाँ आत्माकी शुद्धपरिणतिरूप उस समयसारकी महिमा गाई गई है जिसमे नयोका पक्ष छूट जानेसे स्थायी अविकल्पदशाकी प्राप्ति हो जाती है, विकल्पजालसे रहित, निश्चल, मनुष्योको जिसका अनुभव स्वय होने लगता है, तथा जिसमे रागादिविकारी भावोकी पुट निकल जानेसे एक ज्ञानरूप रस ही शेष रह जाता है। इसी समयसारको भगवान् कहते हैं, यही पुण्य पुराणपुरुष अर्थात् परमात्मा कहलाता है, गुण और गुणीमे अभेद दृष्टि होनेसे इसे ही ज्ञान कहते हैं, दर्शन कहते हैं, अथवा सुख तथा वीर्य आदिकी प्रधानतासे जिस गुणरूप कहना चाहे, कह सकते हैं। इस तरह नामोकी विभिन्नता होनेपर भी यह प्रतिपाद्यरूपसे एक ही है ॥९३॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

दूर भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघ बलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हर-
न्नात्मन्येव सदा गतानुगततामायात्यय तोयवत् ॥९४॥

अर्थ—यह आत्मा अपने गुणोके समूहसे च्युत हो बहुत भारी विकल्पोंके जालरूपी वनमे दूरतक भ्रमण कर रहा था—भटक रहा था, सो विवेकरूपी निचले मार्गमे गमन करनेसे बलपूर्वक बड़ी दूरसे लाकर पुन अपने गुणोके समूहमे मिला दिया गया है, इसमे एकविज्ञानरस ही शेष रह गया है, यह एक विज्ञानरूपी रसके रसिक मनुष्योकी आत्माको हरण करता है तथा जलके समान सदा आत्मामे ही लीनताको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जब यह आत्मा मोहके वशीभूत हो अपने चित्पिण्डसे च्युत होकर बहुत प्रकार विकल्पजालके वनमे भ्रमण करने लगा तब उस विज्ञानरसके जो रसिक थे उन्होने विवेकरूप निम्नमार्गसे लाकर बलपूर्वक अपने चित्पिण्डमे ही मिला दिया। जैसे समुद्रका जो जल वाष्पादि द्वारा मेघ बनकर इतस्तत बरसता है। पश्चात् वही जल निम्नगामिनी नदियोके द्वारा अन्तमे समुद्रका समुद्रमे मिल जाता है। ऐसे ही आत्माकी परिणति मोहकर्मके विपाकसे रागद्वेष द्वारा निखिल परपदार्थोमे फैल जाती है और जब मोहका अन्त हो जाता है तब भेदज्ञानके बलसे परसे विरक्त हो अपने ही चित्पिण्डमे मिल जाती है ॥९४॥

अनुष्टुप्छन्द

विकल्पक परं कर्ता विकल्प कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥९५॥

अर्थ—विकल्प करनेवाला केवल कर्ता है, और विकल्प केवल कर्म है। विकल्पसहित मनुष्यका कर्तृकर्मभाव कभी नष्ट नही होता।

भावार्थ—स्वभावसे आत्मा ज्ञायक है, मोही, या रागी, द्वेषी नही है। परन्तु अनादिकालसे इसके ज्ञानके साथ जो मोहकी पुट लग रही है उसके प्रभावसे यह नानाप्रकारके विकल्प उठाकर

उसका सना बन रहा है तथा कर्मी विकल्प इसमें कम हो रहे हैं। जब ज्ञानसे मोहकी पुट दूर हो तब इसका कर्तृकर्मभाव नष्ट हो। इसीलिये कहा गया है कि मोहजन्य उत्पन्न जिसकी आत्मामें नाना विकल्प उठ रहे हैं उसका कर्तृकर्मभाव कभी नष्ट नहीं होता ॥९५॥

रथोद्धताछन्द

यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥९६॥

अर्थ—जो करता है वह केवल करता ही है और जो जानता है वह केवल जानता ही है। जो करता है वह कभी जानता नहीं है और जो जानता है वह कभी करता नहीं है।

भावार्थ—यहाँ आत्माकी शुद्ध दशा तथा मोहमिश्रित अशुद्ध दशाका युगपत् वर्णन किया गया है। आत्माकी शुद्ध दशा वह है जिसमें मोहका प्रभाव बहिर्भूत हो गया है। और अशुद्ध दशा वह है जिसमें मोहका प्रभाव सर्वजित है। आत्मा स्वभावसे ज्ञायक ही है कर्ता नहीं। उसमें जो कर्तृत्वका भाव आता है वह मोहनिमित्तक ही है। इसीलिये यहाँपर कहा गया है कि जो करता है वह करता ही है जानता नहीं है अर्थात् मोहमिश्रित दशा कर्तृत्वका अहंकार ही लाती है पदार्थको जानना नहीं है। जो जानता है वह जानता ही है करता नहीं है अर्थात् शुद्ध दशामें कर्तृत्वका भाव निकल जाता है केवल ज्ञायकभाव शेष रह जाता है ॥९६॥

इन्द्रवज्राछन्द

ज्ञप्तिः करोतौ नहि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥९७॥

अर्थ—जाननेरूप जो क्रिया है वह करनेरूप क्रियाके अन्तमें भासमान नहीं होती है और जो करनेरूप क्रिया है वह जाननेरूप क्रियाके मध्यमें प्रतिभासमान नहीं होती है क्योंकि करोति और ज्ञप्ति क्रियाएं भिन्न-भिन्न हैं। इससे यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है।

भावार्थ—*यह जीव अनादिकालसे मोहमिश्रित दशाका अनुभव कर रहा है अर्थात् इस जीव* की ज्ञानधारा अनादिकालसे मोहधारासे मिश्रित हो रही है। ज्ञानधाराका कार्य पदार्थका जानना है और मोहधाराका कार्य आत्माको परका कर्ता धर्ता बनाकर उनमें इष्टानिष्टबुद्धि उत्पन्न करना है। यहाँ इन दोनों धाराओंका पृथक्-पृथक् कार्य बताया गया है अर्थात् ज्ञानधाराका कार्य जो जानना है उसमें मोहधाराका कार्य जो कर्तृत्वका भाव है वह नहीं है और मोहधाराके कार्यमें ज्ञानधाराका कार्य नहीं है। सम्यग्ज्ञानी जीव इन दोनों धाराओंके अन्तरको समझता है इसलिये वह पदार्थका ज्ञाता तो होता है परन्तु कर्ता नहीं होता ॥९७॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम् ॥९८॥

तब उसके साथ संसर्ग और राग करना छोड देता है। इसीतरह स्वभावमे रत रहनेवाले ज्ञानी जीव कर्मप्रकृतिके शील—स्वभावको कुत्सित जानकर उसके साथ संसर्ग और रागको छोड देते हैं।

विशेषार्थ—जैसे कोई अत्यन्त चतुर वनका हाथी अपने बाँधनेके लिये समीप आनेवाली चञ्चलमुखी हस्तिनीरूपी कुट्टिनीको चाहे वह सुन्दरी हो और चाहे असुन्दरी, कुत्सित स्वभाववाली जानकर उसके साथ न तो राग ही करता है और न संसर्ग ही करता है। वैसे ही रागरहित ज्ञानी पुरुष स्वकीय बन्धनके लिये उद्यत कर्मप्रकृतिको, चाहे वह शुभरूप हो और चाहे अशुभरूप हो, कुत्सित स्वभाववाली जानकर उसके साथ राग और संसर्ग दोनो ही त्याग देता है ॥१४८-१४९॥

अब दोनो कर्म बन्धके कारण हैं तथा प्रतिषेध करने योग्य हैं, यह आगमके द्वारा सिद्ध करते हैं—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

अर्थ—रागी जीव कर्मोंको बाँधता है और विरागको प्राप्त हुआ जीव कर्मोंको छोडता है, यह श्री जिनेश्वरका उपदेश है, इससे कर्मोंमे राग नही करो।

विशेषार्थ—निश्चयसे जो रागी है वह अवश्य ही कर्मको बाँधता है और जो विरक्त है वही कर्मोंसे छूटता है, यह आगमका उपदेश है। यह आगमोपदेश सामान्यरूपसे रागीपनका निमित्त होनेसे शुभ-अशुभ दोनो प्रकारके कर्मको बन्धका हेतु सिद्ध करता है तथा दोनो प्रकारके कर्मोंका प्रतिषेध करता है। यहाँ रागको बन्धका कारण बताया गया है। जो राग है वही कषाय है। जब कषायका मन्दोदय होता है तब शुभकर्मका बन्ध होता है और जब कषायका तीव्रोदय होता है तब अशुभकर्मका बन्ध होता है। इस तरह शुभ व अशुभ दोनो कर्म, बन्धके कारण होनेसे निषेध करने योग्य हैं ॥१५०॥

श्री अमृतचन्द्र स्वामी इसी भावको कलशामे प्रकट करते हैं—

स्वागताछन्द

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतु ॥१०३॥

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान् सभी कर्मोंको अविशेषरूपसे बन्धका कारण कहते हैं, इससे सभी कर्मोंका निषेध किया गया है और एक ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा गया है ॥१०३॥

शिखरिणीछन्द

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥१०४॥

अर्थ—यहाँपर ग्रन्थकारका कहना है कि जब सभी प्रकारके कर्मका, चाहे वह शुभ हो, या

अशुभ हो, निषेध बताया है तब निष्कर्म अवस्थाकी ही प्रवृत्ति होगी और ऐसा होने पर मुनि अशरण हो जावेंगे क्योंकि उन्हें करने योग्य कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रहा ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि नहीं भाई ! मुनि अशरण नहीं होते, क्योंकि उस समय जो ज्ञानमें ही ज्ञानका आचरण होता है वही मुनियोंके शरण है उसमें लीन हुए मुनि स्वयं ही परम अमृतको प्राप्त होते हैं—परमाह्लादको प्राप्त होते हैं अथवा उत्कृष्ट मोक्षको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्मोंका निषेध किये जानेपर निष्कर्मा मुनि क्या करेंगे ? वे तो अशरण हो जावेंगे ? ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये क्योंकि उस समय कषायकी अत्यन्त मन्दता अथवा उसका सर्वथा अभाव हो जानेपर मुनियोंका ज्ञान ज्ञानमें ही लीन हो जाता है अर्थात् ज्ञानमें चञ्चलता उत्पन्न करनेवाले जो रागादिक भाव थे उनका अभाव हो जानेसे ज्ञान अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाता है। ऐसा ज्ञान ही मुनियोंके लिये शरणभूत है। इसमें लीन रहने वाले मुनि जिस अनिर्वचनीय आनन्दको प्राप्त होते हैं वह इन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्र या अहमिन्द्रको भी दुर्लभ होता है ॥१०४॥

अनन्तर ज्ञानस्वभावमें स्थित मुनि मोक्षको प्राप्त करते हैं यह सिद्ध करते हैं—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५१॥

अर्थ—निश्चयसे जो परमार्थ है समय है शुद्ध है केवली है मुनि है और ज्ञानी है अर्थात् इन शब्दोंके द्वारा जिसका कथन होता है उस स्वभावमें स्थित मुनि निर्वाणको प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ—आत्माका स्वभाव ज्ञान है और ज्ञान ही मोक्षका कारण है क्योंकि ज्ञान शुभ अशुभकर्मोंके बन्धका कारण नहीं है। अतः वही मोक्षका कारण हो सकता है। जो बन्धका कारण है वह मोक्षका कारण नहीं हो सकता। वह ज्ञान धर्म अधर्म आदि समस्त विजातीय द्रव्योंसे पृथक् चैतन्यजातिमात्र होनेसे परमार्थ अर्थात् आत्मा कहलाता है। यहाँ गुण-गुणीमें अभेददृष्टि को अङ्गीकार कर, गुण जो ज्ञान है उसे ही गुणी परमार्थ या आत्मा कहा गया है। वह आत्मा समय[1] भी कहलाता है क्योंकि समय शब्दमें जो सम् उपसर्ग है उसका अर्थ एक ही कालमें प्रवर्तना है और अय धातु है उसका अर्थ ज्ञान और गमन दोनों हैं इस तरह जो एक कालमें जानता भी है और परिणमनशील भी है अर्थात् जो युगपत् एकीभाव होकर ज्ञानक्रिया और परिणमनक्रिया कर रहा है वह समय कहलाता है। वह आत्मा सम्पूर्ण नयपक्षोंसे असंकीर्ण केवल एकज्ञानरूप हो रहा है इसलिये शुद्ध कहलाता है। केवल चैतन्यमात्र वस्तु होनेसे केवली कहा जाता है। केवल मनन भावमात्र होनेसे मुनि कहलाता है। स्वयमेव ज्ञानपनेकर ज्ञानी कहा जाता है। स्वकीय ज्ञानके भावमात्रसे स्वभाव कहलाता है और सत् अर्थात् चित्के भवनमात्र होनेसे सद्भाव भी कहा जाता है। इस प्रकार शब्दोंमें भेद होनेपर भी वस्तुमें भेद नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभावमें जो मुनि स्थित हैं अर्थात् रागादि विकारी भावोंसे रहित हैं वे अवश्य ही निर्वाणको प्राप्त करते हैं तथा जो इससे

---

१ सम्यगयनं गच्छति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति समयः अथवा सम्यगयः संशयादिरहितो बोधो ज्ञानं यस्य भवति स समयः अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समयः। (ता० वृ०)

विपरीत शुभ-अशुभ भावोमे उलझते है वे यथायोग्य ससारके ही पात्र होते है ॥१५१॥

आगे परमार्थमे स्थित हुए विना तप और व्रत वालतप और वालव्रत है, यह कहते हैं—

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥१५२॥

अर्थ—जो आत्मा ज्ञानस्वरूप परमार्थमे तो निश्चल नही है किन्तु तप करता है और व्रतको धारण करता है सर्वज्ञ भगवान् उन सर्व प्रकारके तप और व्रतको वालतप और वालव्रत कहते है ।

विशेषार्थ—श्रीभगवान्ने ज्ञान ही को मोक्षका कारण कहा है क्योकि परमार्थभूत ज्ञानसे रिक्त मनुष्यके अज्ञान द्वारा किये हुए तप और व्रत वन्धके कारण होनेसे वालतप और वालव्रत कहे जाते हैं । तथा इसीसे मोक्षमार्गमे उनका निषेध है और ज्ञान ही को मोक्षका हेतु कहा गया है । ॥१५२॥

अब ज्ञान मोक्षका हेतु है और अज्ञान वन्धका कारण है, ऐसा नियम करते हैं—

वद-णियमाणि धरता सीलाणि तहा तवं च कुव्वता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाण ते ण विंदंति ॥१५३॥

अर्थ—जो व्रत और नियमोको धारण करते हैं तथा शील और तपको करते हैं किन्तु परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मासे वाह्य हैं अर्थात् उसके दृढ श्रद्धान और ज्ञानसे शून्य हैं वे निर्वाणको नही पाते है ।

विशेषार्थ—ज्ञान ही मोक्षका कारण है क्योकि उसके अभावमे स्वय अज्ञानस्वरूप अज्ञानी जीवोके अन्तरङ्गमे व्रत, नियम, शील, तप आदिक शुभकर्मोका सद्भाव होनेपर भी मोक्षका अभाव रहता है । उसी तरह अज्ञान ही वन्धका कारण है क्योकि उसके अभावमे स्वय ज्ञानभूत ज्ञानी जीवोके वाह्यमे व्रत, नियम, शील, तप आदिक शुभकर्मोका असद्भाव होने पर भी मोक्षका सद्भाव है ।

यहाँ यह जो कहा है कि अज्ञानका अभाव होनेपर स्वय ज्ञानभूत ज्ञानी जीवोके वाह्य व्रत, नियम, शील, तप आदिक शुभकर्मोके अभावमे भी मोक्ष होता है, उसका यह अर्थ ग्राह्य नही है कि ये मोक्षमार्गमे अनुपयोगी हैं । यहाँ आचार्यका तात्पर्य यह है कि ये व्रत-नियमादिक शुभकार्य आत्मज्ञानके रहते हुए ही मोक्षके परम्परासे कारण होते हैं उसके बिना वे वन्धके कारण हैं । जिसके हृदयसे अज्ञान निकल जाता है, व्रत-नियमादिरूप प्रवृत्ति तो उसकी स्वत हो जाती है । जिस प्रकार[1] चावलके भीतरका तुष निकल जानेपर वाह्य तुष निकल गया, यह बात अनायास सिद्ध है, उसी प्रकार अन्तरङ्गका रागभाव नष्ट हो जानेपर बहिरङ्ग विषयोका व्यापार स्वयमेव नष्ट हो जाता है, यह अनायास सिद्ध है । परन्तु वाह्य तुष निकल जानेपर अन्तरङ्गका तुष निकल

---

१ न हि [illegible] रागभावे विनष्टे सति बहिरङ्गविषयव्यापारो दृश्यते । तन्दुलस्याभ्यन्तरे तुषे गते सति बहिरङ्गतुष इव । (ता० वृ०)

हो जावे यह व्याप्ति नहीं निवृत्त भी जावे और न भी निवृत्त । उसी प्रकार कर्तव्य बाह्य शुभाचरण होनेपर अन्तरङ्गका अज्ञान निवृत्त हो ही जावे यह व्याप्ति नहीं निवृत्त हो भी जावे और न भी होवे ॥१५३॥

अब ज्ञानस्वरूप आत्मा ही मोक्षका कारण है और उससे भिन्न परिणति बन्धका कारण है यह कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

शिखरिणीछन्द

यदेतज्ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।
अतोऽन्यद् बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥१०५॥

अर्थ—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव है सो जब अपने स्वरूपमें निश्चल हुआ शोभायमान होता है तभी यह मोक्षका हेतु है क्योंकि वह ज्ञान स्वयं शिवस्वरूप है । तथा इसके सिवाय अन्य जो रागादिक भाव हैं वे सब बन्धके जनक हैं क्योंकि स्वयं बन्धस्वरूप हैं । इसलिये ज्ञानस्वरूप अपना होना सो अनुभूति है । इस पद्धतिसे बन्ध और मोक्षका विधान कहा गया है ॥१०५॥

अब फिर भी पुण्यकर्मके पक्षपातीको समझानेके लिये कहते हैं—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता ॥१५४॥

अर्थ—जो परमार्थसे बाह्य हैं अर्थात् ज्ञानात्मक आत्माके अनुभवनसे शून्य हैं वे अज्ञानसे संसारगमनका कारण होनेपर भी पुण्यकी इच्छा करते हैं तथा मोक्षके कारणको जानते भी नहीं हैं ।

विशेषार्थ—इस संसारमें कितने ही जीव हैं जो समस्त कर्मसमूहके नष्ट होनेपर प्रकट होनेवाले मोक्षकी इच्छा रखते हुए भी मोक्षके हेतुको नहीं जानते हैं । यद्यपि वे मोक्षके हेतुभूत सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रस्वभाव परमार्थभूत ज्ञानके होने मात्र तथा एकाग्रतारूप लक्षणसे युक्त समयसारभूत सामायिकचारित्रकी प्रतिज्ञा करते हैं तो भी दुरन्तकर्मसमूहके पार करनेकी असमर्थतासे जिसमें परमार्थभूत ज्ञानका अनुभवन ही शेष रह गया है ऐसे आत्मस्वभावरूप वास्तविक सामायिकचारित्रको प्राप्त नहीं हो पाते । ऐसे जीव यद्यपि अत्यन्त स्थूल संक्लेश परिणामरूप कर्मसे निवृत्त हो जाते हैं तो भी अत्यन्त स्थूल शुभपरिणामरूप कर्मोंमें प्रवृत्त रहते हैं अर्थात् अशुभ कार्योंको तो छोड़ देते हैं परन्तु शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति करते रहते हैं । वे कर्मानुभवकी गुरुता और लघुताकी प्राप्ति मात्रसे सन्तुष्टचित्त रहते हैं अर्थात् कर्मके तीव्रोदयका भार जब मन्द उदय आता है तब उसीमें सन्तुष्ट होकर रह जाते हैं उस मन्दोदयको भी दूर करनेका प्रयास नहीं करते हैं । तथा स्थूल लक्ष्य होनेसे समस्त क्रियाकाण्डको मूलसे नहीं उखाड़ते अर्थात् बुद्धिगोचर संक्लेशरूप क्रियाकाण्डको तो छोड़ देते हैं परन्तु अबुद्धिगोचर मन्दकषायके उदयसे जायमान शुभ क्रियाकाण्डको छोड़नेमें असमर्थ रहते हैं । वे स्वयं अज्ञानरूप होनेसे केवल अशुभ कर्मको तो

वन्धका कारण जानते है, परन्तु व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभकर्मको वन्धका कारण नही जानते, किन्तु उसे मोक्षका कारण मानकर स्वीकार करते है ।

यहाँ आचार्य महाराजने कहा है कि जो मनुष्य परमार्थ ज्ञानसे रहित है वे अज्ञानवश मोक्षका साक्षात् कारण जो वीतराग परिणति है उसे तो जानते नही है और पुण्यको मोक्षका कारण समझकर उसकी उपासना करते है जब कि वह पुण्य ससारकी प्राप्तिका कारण है। कषायके मन्दोदयमे होनेवाली जीवकी जो शुभोपयोगरूप परिणति है उसे पुण्य कहते है, ऐसा पुण्य शुभकर्मके वन्धका कारण है, कर्मक्षयरूप मोक्षका कारण नही है, परन्तु अज्ञानी जीव इस अन्तरको नही समझ पाता है। यहाँ पुण्यरूप आचरणका निषेध नही है, किन्तु पुण्याचरणको मोक्षका मार्ग माननेका निषेध किया है। ज्ञानी जीव अपने पदके अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके वैभवका उपभोग भी करता है, परन्तु श्रद्धामे यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्षका साक्षात् कारण नही है तथा उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त हुआ है वह मेरा स्वपद नही है। यहाँ इतनी वात ध्यानमे रखनेके योग्य है कि जिस प्रकार पापाचरण वुद्धिपूर्वक छोडा जाता है उस प्रकार वुद्धिपूर्वक पुण्याचरण नही छोडा जाता—वह तो शुद्धोपयोगकी भूमिकामे प्रविष्ट होनेपर स्वय छूट जाता है ॥१५४॥

अब ऐसे जीवोको मोक्षका परमार्थ—वास्तविक कारण दिखाते हैं—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

अर्थ—जीवादिक पदार्थोका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन्हीका जानना ज्ञान है और रागादिकका त्याग करना चारित्र है, और यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है ।

विशेषार्थ—निश्चयसे मोक्षका कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। उनमे जीवादिपदार्थ-श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञानका होना सम्यग्दर्शन है। जीवादिज्ञानस्वभावसे ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है और रागादिपरिहरणस्वभावसे ज्ञानका होना सम्यक्चारित्र है। इस तरह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—तीनो ही एक ज्ञानके परिणमन सिद्ध हुए, इसलिये यही सिद्धान्त निर्णीत हुआ कि ज्ञान ही परमार्थसे मोक्षका कारण है ।

यही श्रीविद्यानन्दने श्लोकवार्तिकमे कहा है—

मिथ्याभिप्रायनिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्ट हि दर्शनम् ।
ज्ञानत्व चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्व कर्महन्तृता ॥

अर्थात् ज्ञानका मिथ्याभिप्राय छूट जाना सम्यग्दर्शन है, पदार्थका जानना ज्ञान है और कर्मोको नष्ट करनेकी सामर्थ्य होना चारित्र है।

यहाँ पर ज्ञानगुणकी प्रधानतासे कथन है, इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको ज्ञानकी ही परिणति सिद्ध कर इस ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है। ज्ञानगुणका स्वपरज्ञायकपन ही उसकी प्रधानताका कारण है ॥१५५॥

आगे मोक्षका परमार्थ कारण जो ज्ञान है उससे अन्य कर्मके मोक्षमार्गपनका प्रतिषेध करते हैं—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

अर्थ—मात्र द्रव्यश्रुतके ज्ञाता निश्चयनयके विषयको छोड़कर व्यवहारसे प्रवृत्ति करते हैं परन्तु कर्मोंका क्षय परमार्थका आश्रय करनेवाले यति महाराजोंके कहा गया है ।

विशेषार्थ—मोक्षके परमार्थ कारणसे भिन्न जो व्रत तप आदि शुभ कर्म हैं, वही मोक्षका कारण हैं ऐसा किन्हींका पक्ष है । *परन्तु यह सब निषिद्ध है क्योंकि यह सब द्रव्यान्तरका स्वभाव* है अर्थात् पुद्गलद्रव्यका परिणमन है इस स्वभावरूप ज्ञानका परिणमन नहीं होता । मोक्षका जो परमार्थ कारण है वह एकमात्र जीवद्रव्यका स्वभाव है । उस स्वभावसे ही ज्ञानका परिणमन होता है ॥१५६॥

मात्र द्रव्यश्रुतके ज्ञाता विद्वान् लोग निश्चयनयके पक्षको छोड़कर केवल व्यवहारनयसे प्रवृत्ति करते हैं अर्थात् व्यवहारमें जो शुभाचरण बताया गया है उसका पालन करते हैं और उसके फलस्वरूप मोक्षकी इच्छा रखते हैं । परन्तु उससे कर्मोंका क्षय नहीं होता । उससे तो कषायकी मन्दतासे होनेवाला देवायु आदि पुण्यप्रकृतियोंका बन्ध ही होता है । कर्मोंका क्षय उन्हीं मुनियोंके होता है जो परमार्थ मोक्षमार्गका *आश्रय प्राप्त कर चुके हैं ।*

यही अभिप्राय कलशामें प्रकट करते हैं—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव हि ॥१०६॥

अर्थ—सदा ज्ञानस्वभावसे वर्तना ही ज्ञानका होना है और एक आत्मद्रव्यका स्वभाव होनेसे वह ज्ञान ही मोक्षका हेतु है ।

भावार्थ—मोक्ष आत्माका होता है इसलिये आत्माका स्वभाव ही मोक्षका कारण हो सकता है और ज्ञान आत्माका स्वभाव है इसलिये वही मोक्षका कारण है । इसके विपरीत मन, वचन कायके व्यापाररूप जो शुभकर्म है वह पुद्गलद्रव्यका स्वभाव होनेसे मोक्षका कारण नहीं हो सकता ॥१०६॥

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

अर्थ—कर्मस्वभावरूप होना ज्ञानका होना नहीं है क्योंकि वह द्रव्यान्तरका स्वभाव है अतः शुभाशुभकर्म मोक्षका हेतु नहीं है ॥१०७॥

मोक्षहेतुतिरोधानाद् बन्धत्वात्स्वयमेव च ।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥१०८॥

अर्थ—यह कर्म मोक्षका हेतु जो ज्ञान है उसका आच्छादन करनेवाला है तथा स्वयं बन्ध

---

१ इस गाथाके पूर्वार्धका अर्थ जयसेन स्वामीने इस प्रकार किया है कि ज्ञानी जीव परमार्थको छोड़कर व्यवहारमें प्रवृत्ति नहीं करते । इन्होंने ववहार का सद्भावमन्ताः [illegible]

सम्मत्त-पडिणिवद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णायव्वो ॥१६१॥

णाणस्स पडिणिवद्धं अण्णाण जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥

चारित्त-पडिणिवद्धं कसाय जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—सम्यक्त्वको रोकनेवाला मिथ्यात्वकर्म है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है, उस मिथ्यात्वके उदयमे जीव मिथ्यादृष्टि होता है, ऐसा जानना चाहिये ।

ज्ञानको रोकनेवाला अज्ञान है, ऐसा श्री जिनवरके द्वारा कहा गया है, उस अज्ञानके उदयसे यह जीव अज्ञानी नाम पाता है, यह जानना चाहिये ।

चारित्रको घातनेवाला कषाय है, ऐसा भगवान्का आदेश है, उस कषाय के उदयसे यह जीव अचारित्र होता है, यह जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—आत्माका जो सम्यग्दर्शन है वह मोक्षका कारण है तथा आत्माका स्वभावभूत है उसे रोकनेवाला मिथ्यात्व है वह स्वयं कर्म ही है। जब उसका उदयकाल आता है तब ज्ञानके मिथ्यादृष्टिपन रहता है। इसी तरह आत्माका जो ज्ञान है वह मोक्षका कारण है तथा आत्माका स्वभाव है, उसका प्रतिबन्धक अज्ञान है वह स्वयं कर्म है, उसके उदयसे ज्ञानके अज्ञानपन होता है। इसी तरह आत्माका जो चारित्रगुण है, वह मोक्षका कारण है तथा आत्माका स्वभाव है, उसको रोकनेवाला कषाय है, वह कषाय स्वयं कर्म है, उसके उदयसे ज्ञानका अचारित्र भाव होता है। इसीलिये मोक्षके कारणोका तिरोधायक-आच्छादक होनेसे कर्मका प्रतिषेध किया गया है।

आत्मा अनाद्यनन्त चैतन्यगुणविशिष्ट एक द्रव्य है। परन्तु अनादिकालसे कर्मोंके साथ एकमेव जैसा हो रहा है। इसमे जिस तरह चेतना असाधारण गुण है उसी तरह सम्यक्त्व, चारित्र, सुख और वीर्य भी असाधारण गुण है। किन्तु उन गुणोंके विकासको रोकनेवाले ज्ञानावरणादि आठ कर्म अनादिसे ही इनके साथ लग रहे हैं। उन कर्मोमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया हैं जो कि आत्माके असाधारण अनुजीवी गुणोको घातते हैं। अघातिकर्म आत्मगुण घातक नहीं हैं, केवल उनके अभावमे प्रतिजीवी गुणोका ही उदय होता है। घातियाकर्मोंमे ज्ञानावरण और दर्शनावरण चेतनागुणके विकासमे बाधक हैं अर्थात् जब ज्ञानावरण कर्मका उदय होता है तब आत्माका ज्ञान नही प्रकट होता है और दर्शनावरणके उदयमे दर्शन नहीं होता, अन्तरायके उदयमे वीर्य (शक्तिका) विकास नही होता है। इनके क्षयोपशममे आंशिक ज्ञान, दर्शन तथा वीर्य प्रकट होते हैं, क्षयमे पूर्णरूपमे ज्ञानादिक गुणोका विकास हो जाता है। मोहनीयकर्मकी तरह इनका सर्वथा उदय नही रहता, अन्यथा आत्माके ज्ञानगुणका सर्वथा

अभाव होनेसे उसके अस्तित्वका ही लोप हो जाता सो हो नहीं सकता। मोहनीयकर्म आत्माके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको घातता है। यहाँ पर घातका यह आशय है कि गुणके विकासको रोकता सो नहीं है, किन्तु उसका विरुद्ध परिणमन करा देता है। जैसे कामलरोगी देखता तो है परन्तु श्वेतशङ्खको पीतरूप देखता है। अतः परमार्थसे देखा जाय तो यही घात आत्माका अहित करनेवाला है। यहाँ ज्ञानावरणादि कर्मोंमें पापकर्म और पुण्यकर्मका विभाग है। घातिया कर्मोंकी जितनी प्रकृतियाँ हैं वे सब पापरूप ही हैं। परन्तु अघातिया कर्मोंमें कुछ पापप्रकृतियाँ हैं और कुछ पुण्यप्रकृतियाँ हैं। कषायके मन्दोदयमें पुण्यप्रकृतियोंका बन्ध होता है और कषायके तीव्रोदयमें पापप्रकृतियोंका बन्ध होता है। पुण्यप्रकृतियोंके विपाककालमें सांसारिक सुखकी प्राप्ति होती है और पापप्रकृतियोंके उदयकालमें सांसारिक दुःखकी ही प्राप्ति होती है। कषायके मन्दोदयमें होने वाला जो शुभाचरण है वह भी पुण्यकर्मके बन्धमें साधक होनेसे पुण्यकर्म कहलाता है और कषायके तीव्रोदयमें होनेवाला जो अशुभाचरण है वह भी पापकर्मके बन्धमें साधक होनेसे पापकर्म कहलाता है। इनमें पापकर्म तो मोक्षका बाधक है ही परन्तु पुण्यकर्म भी मोक्षका बाधक है। इसलिये मोक्षार्थी मनुष्यको इन दोनों प्रकारके कर्मोंका त्याग करना चाहिये ॥१६१-१६३॥

यही कलशामें कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०९॥

अर्थ—'मोक्षके अभिलाषी मनुष्यके द्वारा ये सभी कर्म छोड़ देनेके योग्य हैं' इस आदेशसे जब सब कर्म छोड़ दिये तब पुण्य और पापकी क्या चर्चा रह गई? पुण्य और पाप तो कर्मकी विशिष्ट अवस्थाएँ हैं। जब सामान्यरूपसे कर्मका त्याग हो गया तब पुण्य पापका त्याग तो उसी त्यागमें अनायास गर्भित हो गया। इस प्रकार पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंके छूट जानेसे जब इस जीवकी निष्कर्मा अवस्था हो जाती है तब इसके सम्यक्त्वादि गुणोंका निज स्वभावरूप परिणमन होने लगता है और तभी उससे सम्बन्ध रखनेवाला शक्तिशाली ज्ञान मोक्षका हेतु होता हुआ स्वयं दौड़कर आता है।

भावार्थ—जब पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्म छूट जाते हैं तब एक ज्ञान ही मोक्षका हेतु होता है तथा सम्यक्त्वादि गुणोंका स्वभावरूप परिणमन होने लगता है। उस समयका यह ज्ञान इतना उद्धतरस—शक्तिशाली होता है कि इसकी गतिको कोई रोक नहीं सकता। शुद्धोपयोगकी भूमिकामें क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर जब यह जीव पुण्य पापकर्मोंके जनक समस्त रागादि विकल्पोंका दशमगुणस्थानके अन्तमें क्षय कर देता है तब उसका ज्ञान नियमसे अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञानरूप हो जाता है ॥१०९॥

अब यह आशंका होती है कि अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोंमें जब तक कर्मका उदय है और ज्ञान रागादिरूप विकल्पपरिणतिसे रहित नहीं हुआ है तब तक ज्ञान ही मोक्षका

मार्ग कैसे हो सकता है ? तथा कर्म और ज्ञान साथ-साथ किस तरह रह सकते है ?

इसके समाधानके लिये कलशा कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यावत्पाकमुपैति कर्म विरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षति ।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवगतो यत्कर्म बन्धाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परम ज्ञान विमुक्त स्वत ॥११०॥

अर्थ—जबतक कर्म उदयको प्राप्त हो रहा है तथा ज्ञानकी, रागादिकके अभावमे जैसी निर्विकल्प परिणति होती है वैसी परिणति नही हो जाती है, तबतक कर्म और ज्ञान दोनोका समुच्चय भी कहा गया है, इसमे कोई हानि नही है, किन्तु इस समुच्चयकी दशामे भी कर्मोदयकी परतन्त्रतासे जो कर्म होता है अर्थात् जो शुभाशुभ प्रवृत्ति होती है वह बन्धके लिये ही होती है—उसका फल बन्ध ही है, मोक्षके लिये तो स्वत —स्वभावसे परसे शून्य अतएव ज्ञायकमात्र एक उत्कृष्ट ज्ञान ही हेतुरूपसे स्थित है ।

भावार्थ—चतुर्थगुणस्थानसे लेकर दशमगुणस्थान तक कर्म और ज्ञान दोनोका समुच्चय रहता है क्योकि यथासभव चारित्रमोहका उदय विद्यमान रहनेसे रागादिरूप परिणति रहती है और उसके रहते हुए शुभ-अशुभ कर्मोमे प्रवृत्ति अवश्यभावी है तथा दर्शनमोहका अनुदय हो जानेसे ज्ञानका सद्भाव है। इस समुच्चयकी दशामे इन गुणस्थानोमे रहनेवाले जीवोको मोक्षमार्गी माना जावे या बन्धमार्गी, यह आशका उठ सकती है ? उसका उत्तर यह है कि इस दशामे कर्मोदयकी बलवत्तासे जीवोकी जो कर्ममे प्रवृत्ति होती है उससे तो बन्ध ही होता है और स्वभावरूप परिणत जो उनका सम्यग्ज्ञान है वह मोक्षका कारण है क्योकि ज्ञान बन्धका कारण नही हो सकता। यही कारण है कि इन गुणस्थानोमे गुणश्रेणीनिर्जरा भी होती है और देवायु आदि पुण्यप्रकृतियोका बन्ध भी होता है। इस वास्तविक अन्तरको गौण कर कितने ही लोग शुभ प्रवृत्तिको मोक्षका कारण कहने लगते है और रत्नत्रयको तीर्थकरप्रकृति, आहारकशरीर तथा देवायु आदि पुण्यप्रकृतियोके बन्धका कारण बताते है ॥११०॥

आगे कर्मनय और ज्ञाननयके एकान्ती ससार-सागरमे निमग्न रहते है, यह कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

मग्ना कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञान न जानन्ति ये
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमा ।
विश्वोस्योपरि ते तरन्ति सतत ज्ञानं भवन्त स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वश यान्ति प्रमादस्य च ॥१११॥

अर्थ—जो ज्ञानको नही जानते है तथा केवल कर्मनयके अवलम्बनमे तत्पर रहते हैं वे डूबते है। इसी प्रकार जो ज्ञाननयके इच्छुक होकर भी धर्माचरणके विषयमे अत्यन्त स्वच्छन्द और मन्दोद्यम रहते है वे भी डूबते है। किन्तु जो निरन्तर स्वय ज्ञानरूप होते हुए न तो कर्म करते है और न कभी प्रमादके वशीभूत होते है वे ही समस्त ससारके ऊपर तैरते है अर्थात् ससारसे पार होते है।

भावार्थ—यहाँ कर्मनय और ज्ञाननयका एकान्तियोंका निरूपण करते हुए अनेकान्तमें स्थित स्याद्वादियोंका पात्रता स्वरूप वर्णन किया गया है। जो मनुष्य संसार-सागरसे संतरणका मूलभूत उपाय जो ज्ञान है उसे तो समझते नहीं हैं केवल बाह्य क्रियाकाण्डके आडम्बरमें निमग्न रहते हैं वे संसार-सागरमें ही डूबते हैं और जो ज्ञाननयको तो चाहते हैं परन्तु बाह्य शुभाचरणमें स्वच्छन्द तथा अत्यन्त मन्दोद्यमी हैं वे भी संसार-सागरमें ही डूबते हैं। और जो न तो कर्म करते हैं और न कभी प्रमादके वशीभूत हो शुभाचरणसे च्युत होते हैं वे स्वयं ज्ञानरूप होते हुए विश्वके ऊपर तैरते हैं ॥१११॥

आगे सब प्रकारके कर्मोंको नष्ट करनेपर ज्ञानज्योति प्रकट होती है यह कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

मदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥११२॥

अर्थ—जो मोहरूपी मदिराको पीकर उन्मत्त हुए मनुष्यको मदके उन्मादसे उत्पन्न भ्रमरसके भारसे नृत्य करा रहा है ऐसे सभी प्रकारके कर्मको बलपूर्वक जड़सहित उखाड़कर वह ज्ञानज्योति आत्मामें प्रकट होती है जो अनायास प्रकट होते हुए केवलज्ञानरूपी परम कलाके साथ क्रीड़ा प्रारम्भ करती है तथा सब अन्धकार दूर कर देती है।

भावार्थ—यह जीव अनादिकालसे मोहरूपी मदिराको पीकर उसके नशेमें मत्त हो रहा है तथा उसके फलस्वरूप परपदार्थोंमें इष्टानिष्टबुद्धि कर रहा है ऊपरसे कर्म—पुण्य-पापका भेद प्रकट कर तज्जन्य उन्मादसे उत्पन्न भ्रमरूपी रसके भारसे उसे चतुर्गतिरूप संसारमें नचा रहा है ऐसे समस्त कर्मोंको जब यह जीव बलपूर्वक जड़से उखाड़कर नष्ट कर देता है तब अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाली वीतराग विज्ञानतारूपी वह ज्ञानज्योति इसके प्रकट होती है जो अन्तर्मुहूर्तके भीतर अनायास प्रकट होनेवाली केवलज्ञानरूपी परमकलाके साथ क्रीड़ा करती है अर्थात् स्वयं केवलज्ञानरूप हो जाती है ॥११२॥

इस प्रकार जो कर्म पुण्य और पापके रूपमें दो पात्र बनकर नृत्य कर रहा था अब वह एक पात्र होकर रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयप्राभृतमें पुण्य-पापका वर्णन करनेवाले तृतीयाधिकारका प्रवचन समाप्त हुआ। ।। ।।

●

४ आस्रवाधिकार

अब आस्रवका प्रवेश होता है—

वास्तवमे जीव और पुद्गल भिन्न-भिन्न द्रव्य है। अनादिकालसे इनकी विजातीय अवस्था-रूप बन्धावस्था हो रही है। इसीसे यह आत्मा नाना योनियोमे परिभ्रमण करता हुआ परका कर्ता बनकर अनन्त ससारी हो रहा है। बन्धावस्थाके जनक जिस आस्रवसे ससार होता है वह कैसा है, यह दिखाते है—

द्रुतविलम्बितछन्द

अथ महामदनिर्भरमन्थरं समररगपरागतमास्रवम् ।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धर ॥११३॥

अर्थ—वह आस्रव महामदके अतिशयसे भरा हुआ है। अतएव मन्थर चाल चल रहा है तथा समररूपी रगभूमिमे आ पहुँचा है, ऐसे आस्रवको यह दुर्जय बोधरूपी धनुर्धर सहज ही जीत लेता है, जो उदार, गम्भीर और महान् उदयसे सहित है ॥११३॥

अब उस आस्रवका स्वरूप कहते हैं—

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य [1]सण्णसण्णा दु ।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥

(जुगलम्)

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग ये जो चार आस्रव है वे भावास्रव और द्रव्यास्रवके भेदसे चेतनके भी विकार है और अचेतन—पुद्गलके भी। इनमे जो चेतनके विकार है, वे जीवमे बहुत अवान्तर भेदोको लिये हुए है तथा जीवके ही अनन्य परिणाम है। वे मिथ्यात्वादिक जीवके अनन्य परिणाम, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मोके कारण है और उन मिथ्यात्वादिक जीवके अनन्य परिणामोका कारण रागद्वेषादि भावोको करनेवाला जीव ही है।

विशेषार्थ—इस जीवमे राग-द्वेष-मोह ही आस्रव है तथा उनके होनेमे स्वपरिणाम ही निमित्त है, क्योकि उन रागद्वेषादि परिणामोमे अजडपन है, अतएव वे चिदाभास है। मिथ्यात्व, अविरति,

---

१ [illegible] संज्ञासंज्ञाश्चेतनाचेतना । (ता वृ)

अतएव ज्ञानी जीव आस्रवके कारणभूत पुद्गलकर्मोको नही बाँधता है, किन्तु नित्य ही अकर्ता होनेसे नवीन कर्मोको नही बाँधता हुआ पूर्वबद्ध सदवस्थारूप जो कर्म है, उन्हे ज्ञानस्वभाव होनेसे केवल जानता ही है।

यहाँ जो सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव और बन्धका अभाव बताया है, वह वीतरागसम्यक्त्वकी अपेक्षा बताया है। सरागसम्यग्दृष्टि जीवके चतुर्थादि गुणस्थानोमे आगमप्रतिपादित पद्धतिके अनुसार बन्ध होता ही है, उसका निषेध नही है। अथवा चतुर्थादि गुणस्थानोमे जो बन्ध होता है, वह मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धीका उदय निकल जानेसे अनन्त ससारका कारण नही होता, अप्रत्याख्यानावरणादिके उदयमे जो बन्ध होता है उसकी यहाँ विवक्षा नही है ॥१६६॥

अब रागद्वेषमोहभाव ही आस्रव है, ऐसा नियम करते है—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रायादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरिं ॥१६७॥

अर्थ—जीवके द्वारा किया हुआ जो रागादियुक्त भाव है वह बन्धका ही करनेवाला कहा गया है और रागादिसे विमुक्त जो ज्ञायकभाव है, वह अबन्धक कहा गया है अर्थात् जहाँ रागादिकमे कलुषित आत्माका परिणाम है, वही बन्ध होता और जहाँ अन्तरगमे रागादिककी मलिनतासे रहित ज्ञायकभाव है वहाँ बन्ध नही होता है।

विशेषार्थ—इस आत्मामे निश्चयसे रागद्वेषमोहके सपर्कसे जायमान जो भाव है वे अज्ञानमय ही है। जिस प्रकार चुम्बक पाषाणके सपर्कसे उत्पन्न भाव, लोहकी सूचीको हलन-चलन आदिरूप कार्य करनेके लिये प्रेरित करता है, उसी प्रकार वह अज्ञानमयभाव आत्माको कर्मबन्ध करनेके लिये प्रेरित करता है, अर्थात् वह आत्मामे ऐसी विभावता उत्पन्न कर देता है कि जिसका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादिभावरूप परिणमनको प्राप्त हो जाता है। परन्तु रागादिकके भेदज्ञानसे जो भाव होता है, वह ज्ञायकभाव है, जिस प्रकार चुम्बक पाषाणके असपर्कमे होनेवाला भाव लोहेकी सूचीको हलन-चलन आदि क्रियासे रहित रखता है, उसी प्रकार वह ज्ञायकभाव स्वभावसे ही आत्माको कर्मबन्ध करनेमे अनुत्साहरूप रखता है अर्थात् रागादिरूप विभावताके अभावमे आत्मा स्वभावस्थ रहता है, जिससे ज्ञानावरणादि कर्मोका बन्ध नही हो पाता है। इससे यह सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ कि रागादिमे मिला हुआ अज्ञानमय भाव ही कर्मके कर्तृत्वमे प्रेरक होनेसे बन्धका करनेवाला है और रागादिसे न मिला हुआ ज्ञायकभाव केवल स्वभावका प्रकट करनेवाला होनेके कारण किञ्चिन्मात्र भी बन्धका करनेवाला नही है ॥१६७॥

अब आत्माके रागादिकमे असंकीर्ण ज्ञायकभावका होना संभव है, यह दिखाते हैं—

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥१६८॥

अर्थ—जिस प्रकार पका हुआ फल एक बार डण्ठलसे पतित होनेपर फिर डण्ठलके साथ उसको प्राप्त नही होता, उसी प्रकार जीवका कर्मभाव अर्थात् कर्मोदयसे जायमान रागादिभाव एक बार नष्ट होनेपर फिर उदयको प्राप्त नही होता।

विशेषार्थ—जिस प्रकार पका हुआ फल वृक्षसे एक बार जुदा होनेपर फिर उस वृक्षके साथ सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार कर्मोदयसे होनेवाला भाव एक बार जीवके भावसे जुदा होनेपर फिर जीवभावको प्राप्त नहीं होता। इस तरह रागादिकसे असंकीर्ण ज्ञानमय भाव संभव है।

अनादि कालसे जीवकी रागादिरूप परिणति हो रही है। उस परिणतिसे असंकीर्ण शुद्ध ज्ञायकभावरूप परिणति कभी हुई ही नहीं। इसलिये साधारण जीवोंको ऐसा प्रतिभास होता है कि रागादिकसे असंकीर्ण शुद्ध ज्ञायकभावका होना संभव नहीं है परन्तु ऐसी बात नहीं है। रागादिकरूप जो परिणति है वह जीवकी स्वाभाविक परिणति नहीं है किन्तु मिथ्यात्वादिक द्रव्य कर्मोंके उदयसे होनेवाली विभाव परिणति है। द्रव्यकर्म अपना फल देकर अवश्य निर्जराको प्राप्त होते हैं। साता असाता आदि द्रव्यकर्म जब अपना फल देते हैं तब सुख-दुःखका अनुभव होता है। अज्ञानी जीव उसमें हर्ष विषाद करता हुआ नवीन कर्मबन्धको प्राप्त होता है परन्तु ज्ञानी जीव उस कर्मफलमें हर्ष विषाद नहीं करता। इसलिये उसके पूर्वबद्ध कर्म फल देकर निर्जीर्ण हो जाते हैं नवीन कर्मबन्ध नहीं होता है। इस तरह ज्ञानी जीवके पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा होते-होते दशम गुणस्थानके अन्तमें रागादिकभावोंकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत मोहनीयकर्मका अत्यन्त क्षय हो जाता है और यह नियम है कि जिस प्रकार एक बार डंठलसे टूटा फल फिरसे डंठलके साथ सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार एक बार क्षयको प्राप्त हुआ कर्म जीवके साथ फिरसे सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता। इस नियमानुसार जिस जीवके मोहनीय कर्मका अत्यन्त क्षय हो गया है उसके फिर मोहनीय कर्मका बन्ध नहीं हो सकता और जब मोहनीयकर्म नहीं रहा तब उसके उदयमें जायमान रागादिक विकारीभाव कैसे रह सकते हैं? इस तरह बारहवें गुणस्थानकी प्राप्तिकालके बाद अनन्त काल तक इस भव्यात्माकी एक ज्ञायकभावरूप ही परिणति रहती है। चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तक इस जीवका ज्ञायकभाव यद्यपि रागादिकसे संकीर्ण रहता है तो भी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीके निकल जानेसे जीवको रागादिक परिणति और ज्ञायकभावरूप परिणति इन दोनों परिणतियोंका अन्तर अनुभवमें आ जाता है। अपने-अपने पदानुसार चारित्रमोहका उदय होनेसे उसके रागद्वेष उत्पन्न होते हैं और उन रागद्वेषोंके सद्भावमें जो कार्य होते हैं उन्हें भी वह करता है तो भी ये रागादिकभाव मेरे हैं ऐसी उसकी श्रद्धा नहीं होती। वह उस संकीर्ण दशामें भी शुद्ध ज्ञायकभावका ही अनुभव करता है ॥१६८॥

आगे अमृतचन्द्रस्वामी कलशा द्वारा जीवके ज्ञानमयभावका वर्णन करते हैं—

शालिनीछन्द

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो
जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान्
एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥११४॥

अर्थ—रागद्वेषमोहके बिना जीवका जो भाव है वह ज्ञानसे रचा गया है अर्थात् वह ज्ञानमय ही भाव है। वह भाव सम्पूर्ण द्रव्यकर्मोंके आस्रवके समुदायको रोकनेवाला है और यही भाव सम्पूर्ण भावास्रवोंके अभावरूप है।

भावार्थ—आत्मामे जो राग, द्वेष, मोहरूप भाव हैं, वे भावास्रव कहलाते हैं और उनके निमित्तसे कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्यका जो ज्ञानावरणादिरूप परिणमन होता है, वह द्रव्यास्रव है, दशम गुणस्थानके ऊपर जीवका जो भाव होता है, वह रागद्वेषमोहसे रहित होता है, उसका वह भाव ज्ञानसे रचा जाता है, इसलिये ज्ञायकभाव कहलाता है। यह ज्ञायकभाव सर्व प्रकारके भावास्रवोंके अभावस्वरूप है तथा द्रव्यकर्मके आस्रवोके समूहको रोकनेवाला है। ग्यारहवें गुणस्थानसे लेकर तेरहवे गुणस्थान तक योगके निमित्तसे एक सातावेदनीयका आस्रव होता है। पर स्थिति और अनुभागबन्धसे रहित होनेके कारण उसकी यहाँ विवक्षा नही की गई है ॥११४॥

आगे ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव है, यह दिखाते हैं—

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिवद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स ॥१६९॥

अर्थ—उस ज्ञानी जीवके पहलेकी अज्ञानावस्थामे बँधे हुए जो प्रत्यय—कर्म हैं, वे पृथिवीके पिण्डके समान है। ज्ञानी जीवके वे सभी प्रत्यय कार्मणशरीरके साथ बँधे हुए है, जीवके साथ नही।

भावार्थ—निश्चयसे जो पहले एक अज्ञानभावके ही द्वारा बँधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग नामक द्रव्यास्रवस्वरूप प्रत्यय हैं, वे ज्ञानी जीवके लिये पृथक् द्रव्यस्वरूप, अचेतन पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेसे पृथिवीके पिण्डके समान हैं तथा वे सभी प्रत्यय स्वभावसे ही कार्मणशरीरके साथ बँधे हुए हैं, जीवके साथ नही। अत ज्ञानी जीवके द्रव्यास्रवका अभाव है, यह स्वभावसे ही सिद्ध है ॥१६९॥

इसी अभिप्रायको कलश द्वारा प्रकट करते हैं—

उपजातिछन्द

भावास्रवाभावमय प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्य स्वत एक भिन्न ।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥११५॥

अर्थ—यह ज्ञानी जीव भावास्रवके अभावको प्राप्त हुआ है। इसलिये द्रव्यास्रवोसे स्वयमेव भिन्न है। क्योकि ज्ञानी सदा एक ज्ञानमय भावसे ही युक्त रहता है। अत. वह निरास्रव है और एक ज्ञायक ही है।

भावार्थ—ज्ञानी जीव, रागादिकका अभाव होनेसे भावास्रवके अभावको प्राप्त हुआ है और पुद्गलद्रव्यके परिणमनरूप होनेके कारण द्रव्यास्रवोंसे अपने आप भिन्न है ही, इस तरह ज्ञानी जीव दोनों प्रकारके आस्रवोंसे रहित होता हुआ एक ज्ञायक ही रहता है तथा सदा एक ज्ञानमयभावका ही धारक होता है। ज्ञानी जीवकी यह निरास्रवदशा दशमगुणस्थानके बाद तो पूर्णरूपसे बनती है और चतुर्थादि गुणस्थानोंमे अपने-अपने पदानुसार यथा कथंचित् संभवती है ॥११५॥

अब ज्ञानी निरास्रव कैसे हैं ? यह दिखाते हैं—

चदुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं ।
समये समये जम्हा तेण अबंधो त्ति णाणी दु ॥१७०॥

अर्थ—जिस कारण पूर्वमें निरूपण किये गये जो मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योगरूप चार द्रव्यास्रव हैं वे ज्ञानदर्शन गुणके द्वारा समय समयमें अनेक भेदोंको लिये हुए कर्मोंको बाँधते हैं। इसलिये ज्ञानी अबन्ध है ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ—ज्ञानीके पहलेसे ही आस्रव भावनाका अभिप्राय नहीं है। इसलिये वह निरास्रव ही है। फिर भी उसके द्रव्यप्रत्यय जो प्रत्येक समय अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मको बाँधते हैं उसमें ज्ञानगुणका परिणाम ही कारण है।[1] तात्पर्य यह है कि जब द्रव्यप्रत्यय उदयमें आते हैं तब वे जीवके ज्ञानदर्शनगुणोंको रागादिक अज्ञानभावरूप परिणमा देते हैं उस समय रागादिक अज्ञानभावरूप परिणत ज्ञानदर्शनगुण बन्धके कारण होते हैं वास्तवमें रागादिक-अज्ञानभावरूप परिणत ज्ञानदर्शनगुण अज्ञान ही कहलाते हैं। इस तरह पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय ही ज्ञानदर्शनगुणको रागादिक अज्ञानभावरूप परिणत करके नवीन कर्मोंको बाँधते हैं। इसलिये परमार्थसे ज्ञानी अबन्धक ही है ॥१७०॥

आगे ज्ञानगुणका परिणाम बन्धका कारण किस तरह है, यह दिखाते हैं—

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

अर्थ—जिस कारण ज्ञानगुण जघन्यज्ञानगुणसे फिर भी अन्यरूप परिणमता है। इस कारण वह ज्ञानगुण कर्मबन्धका करने वाला कहा गया है।

विशेषार्थ—जब तक ज्ञानगुणका जघन्यभाव है तब तक अन्तर्मुहूर्तमें परिणमनशील होनेसे उसका बार-बार अन्य भावरूप परिणमन होता रहता है और वह अन्यभावरूप परिणमन यथाख्यातचारित्रकी अवस्थाके नीचे अवश्यंभावी रागका सद्भाव होनेसे बन्धका हेतु ही होता है।

क्षायोपशमिक ज्ञान एक नयपर अन्तर्मुहूर्त ही स्थिर रहता है पश्चात् नयान्तरका अवलम्बन करता है। इसका मूल कारण मोहोदय है जो एक नयसे नयान्तरमें भ्रमण कराता है। अतएव यथाख्यातचारित्रसे पहले रागादिकका सद्भाव होनेसे उस ज्ञानके परिणमनको जघन्य कहा गया है तथा बन्धका कारण भी कहा है। परमार्थदृष्टिसे क्षायोपशमिक ज्ञान न तो बन्धका कारण है और न अबन्धका कारण है। रागादिभावोंका सद्भाव ही बन्धका कारण है। ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमें क्षायोपशमिक ज्ञान भी मोहका अभाव होनेसे बन्धका कारण नहीं है ॥१७१॥

यदि ऐसा है तो ज्ञानी निरास्रव किस प्रकार हुआ? इसका उत्तर स्वयं आचार्य देते हैं—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२॥

---

१ दर्शनज्ञानगुणौ कथं बन्धकारणभूतौ भवतः? इति चेत्, अयमत्र भावः—द्रव्यप्रत्यया उदयमागताः सन्तो जीवस्य ज्ञानदर्शनगुणद्वयं रागाद्यज्ञानभावेन परिणमयन्ति। तदा रागाद्यज्ञानभावपरिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयं बन्धकारणं भवति। वस्तुतस्तु रागाद्यज्ञानभावेन परिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयं अज्ञानमेव भण्यते। (ता० वृ०)

तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिन कर्मबन्ध ॥११८॥

अर्थ—यद्यपि पहलेके बँधे हुए द्रव्यप्रत्यय समयका अनुसरण करते हुए अर्थात् उदयावलीमे आनेके कालकी प्रतीक्षा करते हुए सत्ताको नही छोड़ते हैं तथापि समस्त रागद्वेषमोहका अभाव हो जानेसे अथवा उनके स्वामित्वका अभिप्राय निकल जानेसे ज्ञानी जीवके कभी कर्मबन्ध नही होता ॥११८॥

अनुष्टुप्छन्द

रागद्वेषविमोहाना ज्ञानिनो यदसंभव ।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥११९॥

अर्थ—क्योकि ज्ञानी जीवके राग, द्वेष और मोहका अभाव रहता है, इसीलिये उसके बन्ध नही होता । वास्तवमे बन्धके कारण राग, द्वेष और मोह ही हैं ॥११९॥

आगे यही भाव गाथाओंमे प्रकट करते हैं—

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१७७॥
हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१७८॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके रागद्वेषमोहरूप आस्रव नही है, इसलिये आस्रवभावके अभावमे द्रव्यप्रत्यय बन्धके कारण नही हैं। वे मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय आठ प्रकारके कर्मोके कारण कहे गये हैं और उन प्रत्ययोंके भी कारण रागादिक कहे गये हैं। सम्यग्दृष्टिके रागादि परिणामोंके अभावमे कर्मबन्ध नही होता है ।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके रागद्वेषमोहभाव नही होते हैं । अन्यथा सम्यग्दृष्टिपन ही नही हो सकता । उन रागद्वेषमोहके अभावमे द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्मकी हेतुताको नही धारण करते हैं क्योकि द्रव्यप्रत्ययोमे जो पुद्गलकर्मकी हेतुता है वह रागादिभावहेतुक है अर्थात् रागादिक भावोंके रहते हुए ही द्रव्यप्रत्यय नवीन पुद्गलकर्मोका बन्ध करते हैं। क्योकि हेतुके अभावमे कार्य नही होता, ऐसी प्रतीति आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है। अत: ज्ञानी जीवके बन्ध नही है।

यहाँ चर्चा यह चल रही है कि जब सम्यग्दृष्टि जीवके सत्तामे द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं तब वह बन्धरहित कैसे होता है ? इसके उत्तरमे कहा गया है कि द्रव्यप्रत्यय सत्तामे रहने मात्रसे बन्धके कारण नही होते, किन्तु उदयावलीमे आनेपर जब रागादिक भाव होते हैं तब उनके द्वारा वे बन्धके कारण होते हैं। इस तरह द्रव्यप्रत्ययोमे पुद्गलकर्मके प्रति जो कारणपन है उसमे रागादिक भाव कारण पड़ते हैं और सम्यग्दृष्टि जीवके इन रागादिक भावोका अभाव है, इसलिये उसके बन्धका अभाव कहा गया है ॥१७७॥१७८॥

अब बन्धसे रहित शुद्ध आत्माका अवलोकन कौन करते हैं ? यह बताते हुए शुद्धनयकी महिमाका गान कलशा द्वारा करते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-
मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः
पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम् ॥१२०॥

अर्थ—जो महानुभाव उद्धत ज्ञानरूपी चिह्नसे युक्त शुद्धनयको अंगीकारकर निरन्तर एकाग्रताका ही अभ्यास करते हैं व रागादि निर्मुक्त चित्तवाले होते हुए सदा बन्धसे रहित समयसार—शुद्धात्मस्वरूपका अवलोकन करते हैं ॥१२०॥

आगे शुद्धनयसे च्युत होनेवाले पुरुषोंकी अवस्थाका वर्णन करते हैं—

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥१२१॥

अर्थ—जो पुरुष शुद्धनयसे च्युत होकर अज्ञानी होते हुए फिरसे रागादिके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं वे पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवोंके द्वारा नानाप्रकारके विकल्पजालको उत्पन्न करनेवाले कर्मबन्धको धारण करते हैं ॥१२१॥

आगे दृष्टान्त द्वारा यही दिखाते हैं—

जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं।
मंस-वसा-रुहिरादी भावे उयरग्गिसंजुत्तो ॥१७९॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा उ ते जीवा ॥१८०॥
(जुगलम्)

अर्थ—जिस प्रकार पुरुषके द्वारा ग्रहण किया गया आहार जठराग्निसे संयुक्त होता हुआ अनेक प्रकार मांस, वसा तथा रुधिर आदि भावरूप परिणमन करता है उसी प्रकार ज्ञानी जीवके पूर्वबद्ध प्रत्यय अनेक प्रकारके कर्मोंको बाँधते हैं, परन्तु उस समय वे जीव शुद्धनयसे च्युत होते हैं।

विशेषार्थ—जिस समय ज्ञानी जीव शुद्धनयसे च्युत हो जाता है उस समय उसके रागादिक विकृत परिणामोंका सद्भाव होनेसे पूर्वके बँधे हुए द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्मके बन्धको ज्ञानावरणादिरूप परिणमाने लगते हैं अर्थात् बन्धके कारण हो जाते हैं क्योंकि कारणके रहते हुए कार्यकी उत्पत्ति अनिवार्यरूपसे होती है और यह बात अप्रसिद्ध भी नहीं है क्योंकि पुरुषके द्वारा गृहीत आहारका जठराग्निके द्वारा रस रुधिर, मांस और वसा (चर्वी) रूप परिणमन देखा जाता है ॥१७९–१८०॥

अब फिर भी शुद्धनयकी महिमा दिखाते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

इदमेवात्र तात्पर्य हेय शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागाद्बन्धएव हि ॥१२२॥

अर्थ—यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय छोडने योग्य नही है क्योकि उसके न छोडनेसे बन्ध नही होता और उसके छोडनेसे बन्ध नियमसे होता है ॥१२२॥

अब उसी शुद्धनयका प्रभाव दिखाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृति
त्याज्य शुद्धनयो न जातु कृतिभि सर्वंकष. कर्मणाम् ।
तत्रस्था स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद् बहि
पूर्ण ज्ञानघनौघमेकमचल पश्यन्ति शान्त महः ॥१२३॥

अर्थ—धीर और उदार महिमावाले अनादिनिधन ज्ञानमे जो धीरताको धारण करानेवाला है तथा कर्मोको सर्वतोभावेन निर्मूल करनेवाला है ऐसा शुद्धनय पुण्यपुरुषोंके द्वारा कदापि त्यागने योग्य नही है, क्योंकि उसमे स्थिर रहनेवाले ज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोमे जानेवाले अपनी किरणोंके समूहको शीघ्र ही समेटकर पूर्णज्ञानघन, अद्वितीय, अचल तथा शान्त तेजका अवलोकन करते हैं ॥१२३॥

आगे परमतत्त्वका अन्तरङ्गमे अवलोकन करनेवाले पुरुषके पूर्ण ज्ञान प्रकट होता है, यह कलशा द्वारा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

रागादीना झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
नित्योद्योत किमपि परम वस्तु सपश्यतोऽन्तः ।
स्फारस्फारैं स्वरसविसरैं प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकान्तादचलमतुल ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥१२४॥

अर्थ—सब ओरसे रागादिक आस्रवोका शीघ्र ही विलय हो जानेके कारण जो निरन्तर उद्योतमान किसी अनिर्वचनीय परम तत्त्वका अन्तरङ्गमे अवलोकन करता है ऐसे ज्ञानी जीवके अत्यन्त स्वकीयरसके समूहसे लोकपर्यन्त समस्त पदार्थोको अन्तर्निमग्न करता हुआ अचल और अतुल ज्ञान प्रकट होता है ॥१२४॥

इस प्रकार आस्रवतत्त्व रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया।

इस तरह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयप्राभृतमें आस्रवका निरूपण करनेवाले चतुर्थ अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ ॥४॥

५ संवराधिकार

मोक्षमार्गका प्रथम उपयोगी अंग संवरतत्त्व है, निर्जरा तो प्रत्येक प्राणीके प्रत्येक समय होती रहती है क्योंकि कर्मफलानुभवनं हि निर्जरा अर्थात् कर्मका फल भोगना ही निर्जरा है। परन्तु ऐसी निर्जरा कार्यकारिणी नहीं, संवरतत्त्वके बिना निर्जराका कोई उत्कर्ष नहीं। अतः मोक्षमार्गोपयोगी संवरतत्त्वका कथन करते हैं।

अब संवरतत्त्वका रंगभूमिमें प्रवेश होता है—

आगे श्रीअमृतचन्द्रस्वामी संवरतत्त्वकी प्राप्तिमें परम सहायक भेदविज्ञानरूप चैतन्य ज्योतिका वर्णन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आसंसारविरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरम् ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपे स्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

अर्थ—अनादि संसारसे अपने विरोधी संवरको जीतकर एकान्तसे मदोन्मत्त आस्रवका तिरस्कार कर जिसने नित्य विजय प्राप्त की है ऐसे संवरको प्राप्त करानेवाली, परद्रव्य तथा परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे भिन्न अपने स्वरूपमें स्थिर सातिशय उज्ज्वल स्फुरायमान तथा निजरसके भारसे पूरित चैतन्यमय ज्ञानज्योति उदयको प्राप्त होती हुई विस्तारको प्राप्त होती है।

भावार्थ—संवर अनादिकालीन नहीं है किन्तु आस्रव अनादिकालीन है यह आस्रव संवरका विरोधी है उसे उत्पन्न ही नहीं होने दिया। अतएव उसे जीतकर विजयके उल्लासमें मदोन्मत्त हो रहा है। परन्तु जब भेदज्ञानरूपी चिन्मय ज्योतिका प्रकाश होता है तब उत्पन्न हुआ संवर आस्रवका तिरस्कारकर स्थायी विजयको प्राप्त करता है। वह भेदज्ञानरूपी चिन्मय ज्योति, कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलद्रव्यसे तथा उनके निमित्तसे जायमान रागादिक चिदाभाससे आत्माको पृथक् करती है अत्यन्त उज्ज्वल है और आत्मिक रससे परिपूर्ण है। जब इस ज्योतिका उदय हो जाता है तभी संवरकी प्राप्ति होती है। इसलिये सर्वप्रथम उसीकी महिमाका गान किया गया है ॥१२ ॥

अब प्रथम ही समस्त कर्मोंके संवरका परम उपाय जो भेदविज्ञान है उसकी प्रशंसा करते हैं—

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो ।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८१॥

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगह्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥१८२॥

एयं तु अविवरीदं णाणं जइया उ होदि जीवस्स ।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥१८३॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—उपयोगमे उपयोग है, क्रोधादिकमे कोई भी उपयोग नही है, निश्चयसे क्रोधमे ही क्रोध है, उपयोगमे क्रोध नही है, आठ प्रकारके कर्ममे तथा शरीररूप नोकर्ममे उपयोग नही है और उपयोगमे कर्म तथा नोकर्म नही है। इस प्रकारका सम्यग्ज्ञान जब जीवको हो जाता है तब उपयोगसे शुद्ध आत्मावाला अर्थात् शुद्धोपयोगरूप होता हुआ यह जीव कुछ भी भाव—क्रोधादि विकृतभाव नही करता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका नही होता, क्योकि दोनो द्रव्योंके भिन्न-भिन्न प्रदेश होनेसे एक सत्ता नही हो सकती। अत एकद्रव्यका अन्यके साथ आधाराधेय सम्बन्ध नही होता। इस कारण द्रव्यका स्वरूपमे प्रतिष्ठित होना ही उसका आधाराधेय सम्बन्ध है। इसलिये ज्ञान, जाननरूप क्रियामे प्रतिष्ठित है क्योकि जाननरूप क्रिया, ज्ञानसे अभिन्न होनेके कारण ज्ञानमे ही रह सकती है। तथा क्रोधादिक क्रोधनरूप क्रियामे प्रतिष्ठित है क्योकि क्रोधनरूप क्रिया क्रोधादिकोंसे अभिन्न होनेके कारण क्रोधादिकोमे ही हो सकती है। क्रोधादिक भावोमे, ज्ञानावरणादिक कर्मोमे तथा शरीरादिक कर्मोमे ज्ञान नही है और न ज्ञानमे क्रोधादिकभाव, ज्ञानावरणादिक कर्म तथा शरीरादिक नोकर्म ही है क्योकि इनका स्वरूप परस्परमे अत्यन्त भिन्न है इसीसे इनके परस्परमे परमार्थसे आधाराधेयभाव नही है। जैसे ज्ञानका जाननपन स्वरूप है वैसे क्रुद्धता स्वरूप नही है, इसी तरह क्रोधका जैसे क्रुद्धता स्वरूप है वैसे जाननपन स्वरूप नही है, ऐसी ही व्यवस्था है। इससे विपरीत व्यवस्था करनेको कोई भी समर्थ नही, क्योकि जाननपनरूप और क्रोधपनरूप क्रिया, भावभेदसे भिन्न-भिन्न है, तथा इन क्रियाओमे स्वरूपभेद भी है, इससे यह भिन्न-भिन्न वस्तुएँ है। इसीसे ज्ञान और अज्ञानका परस्परमे आधाराधेयभाव नही है। यही बात दृष्टान्त द्वारा दिखाते है—जैसे आकाश नामक एकद्रव्य है, उसके आधाराधेयभावपर विचार कीजिये। आकाशसे भिन्न कोई महान् पदार्थ नही है जिसके आश्रय यह रहे, अत आकाश ही आधार और आकाश ही आधेय है। इसी तरह ज्ञान ही आधार और ज्ञान ही आधेय है। इसी प्रकार क्रोधादिकमे भी यह नियम है। इस तरह साधु रीतिमे भेदज्ञानकी सिद्धि निर्विवाद है। इस पद्धतिसे जब इस भेदज्ञानमे विपरीतज्ञानकी कणिका भी नही रहती तब यह अविचलरूपसे स्थिर हो जाता है। इस कालमे यह ज्ञान शुद्धोपयोगमय आत्मरूप होता हुआ राग-द्वेष-मोहभाव-को नही करता है। अतएव इसी भेदज्ञानके बलसे शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है और शुद्ध आत्माकी उपलब्धिमे राग-द्वेष-मोहके अभावरूप संवर होता है ॥१८२-१८३॥

अब अमृतचन्द्रस्वामी कलशाके द्वारा इसी भेदज्ञानका वर्णन करते हैं—

अर्थ—ज्ञान ज्ञानस्वरूपताको धारण करता है और राग पुद्गलके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण जड़स्वरूपताको धारण करता है। इस प्रकार इन दोनोंके बीचमें तीक्ष्ण छैनीके द्वारा विभाग करनेसे निर्मल भेदज्ञान उत्पन्न होता है। सो हे सत्पुरुषो! रागादिक छोड़कर इस समय शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप इस एक भेदज्ञानका आश्रय कर आनन्दका अनुभव करो॥१२६॥

अब भेदविज्ञानसे ही शुद्धात्माकी उपलब्धि किस तरह होती है यह कहते हैं—

जह कणयमग्गितवियं पि कणयहावं ण तं परिच्चयइ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्तं॥ १८४॥
एवं जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो॥१८५॥

(युग्मम्)

अर्थ—जिस प्रकार अग्निसे तपाया हुआ भी सुवर्ण अपने सुवर्णपनेको नहीं छोड़ता है उसी प्रकार कर्मोदयसे तपाया हुआ भी ज्ञानी अपने ज्ञानीपनेको नहीं छोड़ता है ऐसा ज्ञानी जानता है। परन्तु अज्ञानरूपी अन्धकारसे आच्छादित हुआ अज्ञानी आत्मस्वभावको नहीं जानता हुआ रागको ही आत्मा मानता है।

विशेषार्थ—क्योंकि जिस जीवके पूर्वोक्त रीतिसे भेदविज्ञान हो गया है वही जीव भेदविज्ञानके सद्भावसे ज्ञानी होता हुआ इस प्रकार जानता है कि जिस प्रकार सुवर्ण प्रचण्ड अग्निसे तपाये जानेपर भी अपने सुवर्णस्वभावको नहीं त्यागता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव तीव्र कर्मोदयपाकसे युक्त होनेपर भी अपने ज्ञानस्वरूपको नहीं त्यागता है क्योंकि हजारों कारणोंके द्वारा भी किसीका स्वभाव छुड़ाया नहीं जा सकता। यदि छुड़ाया जाने लगे तो उस स्वभावमात्र वस्तुका ही उच्छेद हो जावेगा सो होता नहीं क्योंकि सत् पदार्थका नाश होना असम्भव है। इसी प्रकार ऐसा जानता हुआ ज्ञानी मनुष्य कर्मसे आक्रान्त होनेपर भी न राग करता है न द्वेष करता है और न मोह करता है किन्तु केवल आत्माको ही प्राप्त होता है और जिस जीवके पूर्व कथित भेदविज्ञान नहीं है वह उसके अभावसे अज्ञानी होता हुआ अज्ञानरूपी अन्धकारसे आच्छादित होनेके कारण चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मस्वभावको न जानता हुआ रागको ही आत्मा मानकर राग करता है द्वेष करता है तथा मोह करता है तथा शुद्ध आत्माको नहीं प्राप्त होता है। इससे सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञानसे ही शुद्धात्माकी उपलब्धि होती है॥१८४।१८५॥

अब शुद्धात्माकी उपलब्धिसे ही संवर किस प्रकार होता है, यह कहते हैं—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१८६॥

अर्थ—शुद्ध आत्माको जाननेवाला जीव शुद्ध ही आत्माको प्राप्त होता है और अशुद्ध आत्माको जाननेवाला जीव अशुद्ध ही आत्माको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे जो जीव नित्य ही अखण्ड धारावाही ज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्माकी उपलब्धि करता रहता है वह 'ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय ही भाव होता है' ऐसा नियम होनेसे नवीन कर्मोंके आस्रवमे निमित्तभूत रागद्वेषमोहकी सतानका निरोध हो जानेसे शुद्ध ही आत्माको प्राप्त होता है और जो नित्य ही अज्ञानके द्वारा अशुद्ध आत्माकी उपलब्धि करता रहता है वह, 'अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय ही भाव होता है' ऐसा नियम होनेसे नवीन कर्मोंके आस्रवमे निमित्त-भृत रागद्वेपमोहकी सन्तानका निरोध न होनेके कारण अशुद्ध ही आत्माको प्राप्त होता है। अत शुद्धात्माकी उपलब्धिसे ही सवर होता है ॥१२६॥

यही भाव कलशाके द्वारा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमान शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥१२७॥

अर्थ—यदि यह आत्मा किसी तरह धारावाहीज्ञानके द्वारा निरन्तर शुद्ध आत्माकी उपलब्धि करता हुआ स्थित रहता है तो यह जो आत्मामे ही सब ओरसे रमण कर रहा है तथा परपरि-णतिके रुक जानेमे जो अत्यन्त शुद्ध है ऐसी आत्माको ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—यदि यह जीव बीचमे ज्ञेयान्तरका व्यवधान न देकर निरन्तर शुद्ध आत्माका ही ध्यान करता रहता है तो उसकी रागादिरूप परिणति नियमसे छूट जाती है और उसके छूट जानेपर वह निश्चल शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है ॥१२७॥

अब किस प्रकार संवर होता है? यह कहते हैं—

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोएसु ।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णम्हि ॥१८७॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ एयत्तं ॥१८८॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥१८९॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—जो आत्मा आत्माके द्वारा अपने ही आत्माको पुण्य और पापरूप दो योगोंसे रोककर दर्शन ज्ञानमें स्थिर भावको प्राप्त हो जाता है अन्य पदार्थोंमें इच्छाका त्याग कर देता है सर्व परिग्रहसे मुक्त होकर आत्माके द्वारा स्वीय आत्माका ध्यान करता है कर्म और नोकर्मको नहीं चिन्तता है, चेतयिता होकर गुण-गुणीके विभागसे रहित एक-अखण्ड आत्माका ही चिन्तन करता है और आत्माका ध्यान करता हुआ जो दर्शन-ज्ञानसे तन्मय तथा रागादिक अन्यभावोंसे अतन्मय हो जाता है वह शीघ्र ही कर्मोंसे विमुक्त आत्माको प्राप्त होता है ॥

विशेषार्थ—निश्चयसे जो आत्मा राग-द्वेष-मोहमूलक शुभ-अशुभ योगोंमें प्रवृत्ति करनेवाले अपने आत्माको आत्माके ही द्वारा दृढ़तर भेदविज्ञानके बलसे अत्यन्त रोककर शुद्ध दर्शन ज्ञानस्वरूप आत्मद्रव्यमें प्रतिष्ठित करता है, समस्त परद्रव्योंकी इच्छाका परित्याग कर समस्त परिग्रहसे विमुक्त होता हुआ नित्य ही अत्यन्त निष्कम्प रहता है कर्म-नोकर्मका किञ्चिन्मात्र भी स्पर्श न करता हुआ आत्माके द्वारा स्वकीय आत्माका ही ध्यान करता है और स्वयं सहज चेतक ज्ञायक स्वभाव होनेसे एकत्वका ही चिन्तन करता है वह एकत्वके चिन्तनसे अत्यन्त विविक्त चैतन्य चमत्कारमात्र आत्माका ध्यान करता हुआ शुद्ध दर्शन ज्ञानमय आत्मद्रव्यको प्राप्त होता है तथा शुद्धात्माकी प्राप्ति होनेपर समस्त परद्रव्योंके साथ तन्मयपनका उल्लङ्घन करता हुआ शीघ्र ही सम्पूर्ण कर्मोंसे विमुक्त आत्माको प्राप्त होता है यही संवरका प्रकार है ॥१८७।१८८।१८९॥

यही भाव कलशामें दिखाते हैं—

मालिनीछन्द

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥१२८॥

अर्थ—जो भेदविज्ञानकी शक्तिसे अपने आत्मस्वरूपकी महिमामें रत हैं ऐसे ही पुरुषोंको शुद्ध आत्माका लाभ होता है तथा शुद्धात्माके लाभके अनन्तर जो अन्यद्रव्यसे सर्वदा निस्पृह रहते हैं उन्हींके कर्मका अक्षय मोक्ष होता है ॥१२८॥

आगे किस क्रमसे संवर होता है? यह कहते हैं—

तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१९०॥
हेउअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ॥१९१॥
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ ॥१९२॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान्‌ने उन पूर्व कथित राग-द्वेष-मोहभावोंके कारण मिथ्यात्व, अज्ञान,

अविरति और योग ये चार अध्यवसान कहे हैं। ज्ञानी जीवके इन हेतुओंके अभावमें नियमसे आस्रवका निरोध हो जाता है, आस्रवभावके विना कर्मका भी निरोध हो जाता है, कर्मके निरोधसे नोकर्मोंका भी निरोध हो जाता है और नोकर्मोंके निरोधसे संसारका निरोध अनायास हो जाता है॥

विशेषार्थ—जीवके जब तक आत्मा और कर्ममें एकत्वका अभिप्राय है तब तक उसके मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग इन चार अध्यवसान भावोंकी सत्ता है। ये अध्यवसानभाव ही रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावके कारण हैं, आस्रवभाव कर्मका कारण है, कर्म नोकर्मका मूल है और नोकर्म संसारका आदि कारण है। इस प्रकार यह आत्मा निरन्तर आत्मा और कर्ममें अभिन्नताके निश्चयसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगसे तन्मय आत्माका अध्यवसाय करता है, उस अध्यवसायसे रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावकी भावना करता है, और रागद्वेषमोहभावोंको अपने माननेसे इनके द्वारा कर्मका आस्रव होता है, कर्मसे नोकर्म होता है, और नोकर्मसे संसार होता है। परन्तु जब आत्माके आत्मा और कर्मका भेदविज्ञान हो जाता है तब उसके बलसे शुद्ध चैतन्यचमत्कारमय आत्माकी प्राप्ति होती है, आत्माकी प्राप्तिसे मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगरूप, आस्रवके हेतुभूत अध्यवसानोंका अभाव होता है, इनके अभावसे रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावका अभाव हो जाता है, इन आस्रवभावोंके अभावसे कर्मका अभाव हो जाता है, कर्मका अभाव होनेपर नोकर्मका अभाव होता है और नोकर्मके अभावसे संसारका अभाव हो जाता है। इस प्रकार यह संवरका क्रम है॥१९०।१९१।१९२॥

आगे कलशा द्वारा भेदविज्ञानकी महिमा प्रकट करते हैं—

उपजातिछन्द

संपद्यते संवर एष साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद् भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२९॥

अर्थ—निश्चयकर शुद्धात्मतत्त्वके उपलम्भसे साक्षात् संवर होता है और शुद्धात्माका उपलम्भ भेदविज्ञानसे होता है। इसलिये वह भेदविज्ञान निरन्तर भावना करने योग्य है॥१२९॥

अब भेदविज्ञान कब तक भावने योग्य है? यह कहते हैं—

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

अर्थ—यह भेदविज्ञान अविच्छिन्न रूपसे तब तक भावना करने योग्य है जब तक ज्ञान परसे च्युत होकर ज्ञानमें स्थिर नहीं हो जाता ॥१३०॥

अब भेदविज्ञान ही सिद्धपदकी प्राप्तिका कारण है, यह कहते हैं—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

अर्थ—जो कोई सिद्धपदको प्राप्त हुए हैं वे सब भेदविज्ञानसे ही हुए हैं और जो कोई इस संसारमें बँधे हैं वे सब उसी भेदविज्ञानके अभावसे ही बँधे हैं ॥१३१॥

आगे संवरसे कैसा ज्ञान प्राप्त होता है ? यह कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भाद्
रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥१३२॥

अर्थ—भेदज्ञानकी प्राप्तिसे शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि हुई, शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिसे रागसमूहका प्रलय हुआ और रागसमूहके प्रलयसे कर्मोंका संवर हुआ तथा कर्मोंके संवरसे यह ऐसा ज्ञान प्रकट हुआ जो कि परम संतोषको धारण कर रहा है, निर्मल प्रकाशसे सहित है, कभी म्लान नहीं होता है, एक है, ज्ञानमें स्थिर रहता है, और नित्य ही उद्योतरूप रहता है।

भावार्थ—अनादिकालसे यह जीव अज्ञानवश नानाप्रकारके दुःखोंसे आकीर्ण संसारमें भ्रमता हुआ आकुलताका पात्र रहता है। परन्तु जब इस जीवका संसार अल्प रह जाता है तब पहले इस अज्ञानका अभाव होनेसे स्वपरका भेदज्ञान होता है, तदनन्तर उसीका निरन्तर अभ्यास करता है, पश्चात् उस दृढ़ अभ्यासकी सामर्थ्यसे शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है, अनन्तर उस शुद्ध आत्माके बलसे रागादिकरूप विभावभावोंके समुदायका नाश हो जाता है और रागादिकोंके नाशसे कर्मोंका बन्ध न होकर संवर होता है। तदनन्तर परम संतोषको धारण करनेवाले ऐसे ज्ञानका उदय होता है जिसका प्रकाश अत्यन्त निर्मल है, जो अम्लान है, एक है, ज्ञानमें ही स्थिर है और नित्य उद्योतसे सहित है। अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञानमें यह सब विशेषताएं नहीं थीं जो अब केवलज्ञानमें प्रकट हुई हैं ॥१३२॥

इस तरह संवर रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया।

इस तरह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयप्राभृतमें संवरतत्त्वका वर्णन
करनेवाले पञ्चम अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ ॥५॥

अर्थ—जिस प्रकार वैद्य विषका उपभोग करता हुआ भी मरणको प्राप्त नही होता उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा पुद्गलकर्मके उदयको भोगता है तो भी कर्मसे नही बँधता है।

विशेषार्थ—जैसे कोई विष-वैद्य, परके मरणका कारण जो विष है उसे खाता हुआ भी अमोघ विद्याके बलसे विषकी मारकत्व शक्तिके रोक देनेसे मरणको प्राप्त नही होता उसी प्रकार अज्ञानी जीवोंके रागादिक भावोका सद्भाव होनेसे जो पुद्गलकर्मका उदय बन्धका कारण है उसीका उपभोग करता हुआ ज्ञानी जीव, अमोघ ज्ञानकी सामर्थ्यसे रागादिक भावोका अभाव हो जानेपर बन्धकी सामर्थ्य रुक जानेसे बन्धको प्राप्त नही होता। केवल क्रिया बन्धका कारण नही, जबतक रागादिक परिणाम न हो, तबतक वह स्थिति और अनुभाग बन्धमे निमित्त नही। जैसे बिच्छूका डक निकल जानेके बाद उसका काटना विषका कारण नही होता ॥१९५॥

अब वैराग्यकी सामर्थ्य दिखाते हैं—

जह मज्जं पिबमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव ॥१९६॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष बिना रागभावके मदिराको पीता हुआ भी मतवाला नही होता। ऐसे ही ज्ञानी जीव अरतिभावसे द्रव्योका उपभोग करता हुआ भी कर्मोसे नही बँधता है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष मदिराके प्रति अत्यन्त अरत है अर्थात् मदिरापानमे रुचि नही रखता है, कदाचित् किसी कारणवश वह मदिराका पान भी करले, तो भी उसके मदिरापानकी तीव्र अरुचि होनेसे वह मदिरा उसे मतवाला बनानेमे असमर्थ रहती है, इसी प्रकार ज्ञानी जीव परपदार्थको किञ्चिन्मात्र भी नही भोगना चाहता, किन्तु सयमभावका अभाव होनेसे सातादि पुण्यप्रकृतियोके उदयसे प्राप्त उपभोग-सामग्रीका भोग भी करता है, तो भी रागादिक भावोंका अभाव होनेसे बँधता नही है—कर्मबन्धको प्राप्त नही होता है ॥१९६॥

आगे कलशा द्वारा ज्ञानी विषयोका सेवक होने पर भी असेवक है, यह दिखाते हैं—

रथोद्धताछन्द

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य न।
ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥१३५॥

अर्थ—जिस कारण ज्ञानी पुरुष विषयोका सेवन होने पर भी विषयसेवनके अपने फलको नही प्राप्त होता है उस कारण ज्ञानके वैभव और वैराग्यके बलसे वह विषयोका सेवन करनेवाला होकर भी सेवन करनेवाला नही कहा जाता।

भावार्थ—ज्ञानी मनुष्य विषयोका सेवन करने पर भी उसके फलको प्राप्त नही होता है। सो यह उसके ज्ञानवैभव और विरागताकी ही अद्भुत सामर्थ्य है। इसी सामर्थ्यसे वह विषयोका सेवक होकर भी असेवक ही कहा जाता है।

अब यही दिखाते हैं—

सेवंतो वि ण सेवइ असेवमाणो वि सेवगो कोई।
पगरणचेट्टा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होई ॥१९७॥

अर्थ—कोई विषयोंका सेवन करता हुआ भी नहीं सेवन करता है और कोई नहीं सेवन करता हुआ भी सेवन करता है। जैसे किसी मनुष्यके प्रकरणकी चेष्टा तो है अर्थात् कार्यका व्यापार तो है परन्तु वह प्राकरणिक नहीं है—उस कार्यका करानेवाला स्वामी नहीं है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष किसी विवाह आदि कार्योंमें काम आदि तो करता है परन्तु उसका स्वामी न होनेसे उसके फलका भोक्ता नहीं होता है और जो उस कार्यका स्वामी है वह उस कार्यके करनेमें अव्यापृत है तो भी उसका स्वामी होनेसे फलभोक्ता है। उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी जीव पूर्वकर्मोदयसे सम्पन्न भोगोंको भोगता हुआ भी रागादिक भावोंके अभावसे विषयसेवनके फलका स्वामित्व न होनेके कारण नहीं भोगनेवाला है और मिथ्यादृष्टि विषयोंका सेवन न करता हुआ भी रागादिक भावोंके सद्भावसे विषयसेवनके फलका स्वामित्व होनेसे सेवन करनेवाला है ॥१९७॥

यही भाव कलशमें दरशाते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
 स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
 स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति होती है। अतएव यह स्वकीय वस्तुस्वरूपका अभ्यास करनेके लिए स्वीय रूपकी प्राप्ति और पररूपके त्याग द्वारा वास्तवमें यह मेरा स्व है और यह पर है इस वृत्तको अच्छी तरह जानकर अपने स्वरूपमें ठहरता है और परद्रव्यस्वरूप सब प्रकारके रागयोगसे विरत होता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान और वैराग्यका होना अवश्यंभावी है इसलिए ज्ञानके द्वारा वह सर्वप्रथम स्व और परके भेदज्ञानको प्राप्त होता है अर्थात् उसे इस बातका अच्छी तरह निर्णय हो जाता है कि यह तो मेरा आत्मद्रव्य है और यह मुझमें परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न हुआ विकारी परिणमन है। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही परद्रव्य हैं। परन्तु कर्मके विपाककालमें जायमान जो रागादिक विकारी भाव हैं वे भी परद्रव्य ही हैं। मेरा स्वभाव तो शुद्ध चैतन्य है वही मेरा स्वद्रव्य है। भेदविज्ञानके द्वारा जब उसे इस प्रकारका निर्णय हो जाता है तब वैराग्यशक्तिकी महिमासे वह शुभ-अशुभ सभी प्रकारके रागयोगसे निवृत्त होकर अपना उपयोग अपने आपमें ही स्थिर कर लेता है ॥१३६॥

सम्यग्दृष्टि जीव सामान्यसे स्व और परको इस प्रकार जानता है—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१९८॥

अर्थ—कर्मोका उदयविपाक (उदयरस) जिनेश्वरदेवने नानाप्रकारका कहा है। परन्तु वे कर्मविपाक मेरे स्वभाव नही हैं। मै तो एक ज्ञायकस्वभावरूप हूँ।

विशेषार्थ—कर्मोदयके रससे जायमान जो ये नानाप्रकारके भाव है वे मेरे स्वभाव नही हैं। मै तो एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाववाला हूँ।

सम्यग्दृष्टि जीवको ऐसी श्रद्धा होती है कि यह जो ज्ञायकभाव है वह तो मेरा स्व है और उसके साथ मिल रहे रागादिकभाव पर हैं ॥१९८॥

सम्यग्दृष्टि जीव विशेषरूपसे स्व और परको इस प्रकार जानता है—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥१९९॥

अर्थ—राग नामका पुद्गलकर्म है। उसके विपाकोदयमे यह रागपरिणाम आत्माका होता है, सो यह मेरा स्वभाव नही है। मै तो केवल ज्ञायकभावरूप हूँ।

विशेषार्थ—निश्चयसे रागनामक पुद्गलकर्मकी प्रकृति है। उसका जब उदयकाल आता है तब आत्मामे रागभावकी उत्पत्ति होती है। किन्तु वह मेरा स्वभाव नही है क्योकि मै तो एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाववाला हूँ। इसी प्रकार रागपदका परिवर्तनकर द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रवण, नेत्र, नासिका, जिह्वा, और स्पर्शन इन सोलह सूत्रोकी व्याख्या करनी चाहिये। इसी पद्धतिसे और भी ऊहापोह करना चाहिये। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि अपनेको जानता हुआ और परको त्यागता हुआ नियमसे ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न होता है ॥१९९॥

आगे यही भाव गाथामे प्रकट करते हैं—

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाण मुणदि जाणयसहाव।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो ॥२००॥

अर्थ—इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव आत्माको ज्ञायकस्वभाव जानता है और तत्त्वको जानता हुआ उदयको कर्मविपाक जानकर छोडता है।

विशेषार्थ—इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सामान्य और विशेषरूपके द्वारा परस्वभावरूप समस्त-भावोंसे पृथक् टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावको ही आत्माका तत्त्व जानता है और उस तरह तत्त्वको जानता हुआ स्वभावके उपादान और परभावके अपोहन (त्याग)से उत्पन्न हुए अपने वस्तुत्वका प्रसार करता हुआ कर्मोदयके विपाकसे जायमान सभी भावोको छोडता है। इसलिए यह नियमसे ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञायकस्वभावको तो आत्माका परिणमन जान ग्रहण करता है अर्थात् उसे उपादेय मानता है और कर्मोंके उदयसे जो रागादिकभाव होते हैं उन्हें पर जानकर उनका परित्याग

करता है। पर वस्तुका परित्याग तब तक नहीं होता जब तक उसमें परत्वका निश्चय न हो जावे। सम्यग्दृष्टि जीव भेदविज्ञानके द्वारा स्वको स्व और परको पर जानने लगता है। इसलिए वह स्वको ग्रहण करता है और परका परित्याग करता है ॥२००॥

अब जिन्हें आत्मा और अनात्माका ज्ञान नहीं है वे सम्यग्दर्शनसे शून्य हैं यह कलशा द्वारा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥

अर्थ—कोई जीव ऐसा विचार करे कि मैं तो सम्यग्दृष्टि हूँ मुझे कभी भी बन्ध नहीं होता। इसतरह रागी होनेपर भी अहंकारसे प्रफुल्लित मुखको ऊपर उठाते हुए आचरण करें तथा समितियोंके पालनमें तत्परताका आश्रय लेवें तो आज भी वे पापी हैं क्योंकि आत्मा और अनात्माका ज्ञान न होनेसे वे सम्यक्त्वसे शून्य हैं।

भावार्थ—कोई मनुष्य इन वचनोंको सुनकर ऐसा विचार करें कि हम तो सम्यग्दृष्टि हैं, हमको बन्ध तो होता ही नहीं। अतः जो नाना प्रकारके स्वच्छाचारमें प्रवृत्तिकर आनन्दसे जीवन बितावें उनसे आचार्य भगवान् कहते हैं कि तुम्हारी तो कथा ही दूर रही, जो महाव्रत तथा समितियोंमें सावधानीसे प्रवृत्ति करते हैं किन्तु निज-परके ज्ञानसे शून्य हैं, तो वे भी अभी पापजीव ही हैं।

शास्त्रोंमें सम्यग्दर्शनका मूल कारण स्व-परका भेदविज्ञान बतलाया है। जब तक यह नहीं हो जाता है तब तक यह जीव सम्यक्त्वसे शून्य ही रहता है और सम्यक्त्वके शून्यतामें महाव्रतोंका आचरण और समितियोंका पालन करता हुआ भी यह जीव पापजीव कहलाता है क्योंकि मिथ्यात्व ही सबसे महान् पाप है। जो जीव कर्मोदयसे जायमान रागको आत्मद्रव्य मानता है उसे स्व-परका भेदज्ञान नहीं है और उसके न होनेसे वह सम्यक्त्वसे शून्य ही कहलाता है ॥१३७॥

अब रागी सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता है, यह दिखाते हैं—

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥२०१॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२०२॥

(युग्मम्)

अर्थ—निश्चयसे जिस जीवके रागादिक भावोका लेशमात्र भी अभिप्राय है अर्थात् अणुमात्र भी रागादिकमें जिनके उपादेय बुद्धि है वह सम्पूर्ण आगमका ज्ञानी होकर भी आत्माको नही जानता है और जो आत्माको भी नही जानता है, वह अनात्माको भी नही जानता है, इस तरह जो जीव और अजीवको नही जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

विशेषार्थ—जिसके रागादिक अज्ञानभावोका लेशमात्र भी सद्भाव विद्यमान है वह श्रुत-केवलीके सदृश होकर भी ज्ञानमय भावोके अभावसे आत्माको नही जानता है और जो आत्माको नही जानता है वह अनात्माको भी नही जानता है क्योकि जीवादिक किसी भी द्रव्यका निश्चय स्वरूपकी सत्ता और पररूपकी असत्तासे होता है। अत आत्माकी स्वरूपसत्ताका अज्ञानी अनात्मा-का भी अज्ञानी है। इससे जो आत्मा और अनात्माको नही जानता है वह जीव-अजीवको भी नही जानता है और जो जीव-अजीवके भेदज्ञानसे शून्य है वह सम्यग्दृष्टि नही हो सकता है। इस तरह रागी जीव भेदज्ञानके अभावसे सम्यग्दृष्टि नही है।

यहाँ जो फलितरूपसे सम्यग्दृष्टि जीवके परमाणुमात्र भी रागका अभाव बताया है सो उसका अभिप्राय ऐसा समझना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि लेशमात्र रागको भी आत्माका स्वभाव नही समझता और न उसे उपादेय मानता है। अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहकी प्रकृतियोके उदयसे होनेवाला राग अविरतसम्यग्दृष्टिसे लेकर सूक्ष्मसापराय गुणस्थान तकके जीवोके यथा-सभव विद्यमान रहता है, तो भी उन गुणस्थानोमे रहनेवाले जीवोंके सम्यक्त्वमे बाधा नही है क्योकि रागके रहते हुए भी वे रागका आत्माका स्वभाव नही मानते है। रागी होते हुए रागको आत्माका मानना जुदी बात है और रागी होते हुए भी रागको आत्माका न मानना जुदी बात है। मिथ्यादृष्टि जीव रागी होता हुआ उस रागको आत्माका ही परिणमन मानता है और सम्य-ग्दृष्टि जीव चारित्रमोहके उदयकी बलवत्तासे रागी होता हुआ भी उस रागको आत्माका परिणमन नही मानता ॥२०१।२०२॥

अब कलशा द्वारा यह प्रकट करते है कि राग इस जीवका पद नही है किन्तु चैतन्य ही उसका पद है—

मन्दाक्रान्ताछन्द

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ता
सुप्ता यस्मिन्नपदमपद तद्विबुध्यध्वमन्धा ।
एतैतेत. पदमिदमिद यत्र चैतन्यधातु
शुद्ध शुद्ध स्वरसभरत स्थायिभावत्वमेति ॥१३८॥

अर्थ—अनादि ससारसे पद-पदपर नित्य मत्त हुए ये रागी प्राणी जिस पदमे सो रहे है अर्थात् स्वप्न देख रहे है वह आत्माका पद नही है, पद नही है (दो बार कहनेसे आचार्यमहाराज-की अतिकरुणा सूचित होती है)। अरे अन्धे प्राणियो! जागो, यहाँ आओ, यहाँ आओ, यह तुम्हारा पद है, यह तुम्हारा पद है, जहाँपर चैतन्यधातु शुद्ध है, शुद्ध है तथा स्वरसके भारसे स्थायिभाव-को प्राप्त हो रही है।

भावार्थ—यह प्राणी अनादिकालसे रागादिकोंको अपना निजभाव मान रहा है। इसीसे उनकी सिद्धिके अर्थ परपदार्थोंके संयोग—संग्रह और वियोगमें अपना सर्वस्व लगा देता है और निरन्तर उन्हींकी रक्षाके लिये प्रयत्न करता है। उसे श्रीगुरु समझाते हैं—रे अन्ध! जिन वस्तुओंमें तुम अपने स्वरूपको भूलकर मोहित हो रहे हो यह तुम्हारा अज्ञानभाव है अब अपने निज स्वरूपको जानो, जहाँपर चैतन्यका पिण्ड, सब विकल्पजालसे रहित सुख और शान्तिसे स्थायी पनको प्राप्त करता है वही तुम्हारा पद है ॥१३८॥

आगे वह पद कौन है यह कहते हैं—

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं ।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥२०३॥

अर्थ—आत्मामें परनिमित्तसे जायमान अपदरूप जो द्रव्यकर्म और भावकर्म हैं उन्हें त्यागकर स्वभावसे उपलभ्यमान स्थिर तथा एकरूप इस चैतन्यभावको जिसतरह यह नियत है उसी तरह ग्रहण करो।

विशेषार्थ—निश्चयसे इस भगवान् आत्मामें उपलब्ध बहुतसे द्रव्यरूप तथा भावरूप भावों के मध्यमें जो अतत्स्वभावसे उपलभ्यमान अनियत अवस्थावाले अनेक, क्षणिक तथा व्यभिचारी भाव हैं वे सभी स्वयं अस्थायी होनेके कारण स्थाताका जो आत्मा है उसके स्थान होनेके लिये असमर्थ होनेसे अपदभूत हैं और जो तत्स्वभावसे उपलभ्यमान नियत अवस्थावाला एक नित्य तथा अव्यभिचारी भाव है वह एक ही स्वयं स्थायी होनेके कारण स्थाताका, जो आत्मा है उसका स्थान होनेके लिये समर्थ होनेसे पदभूत है। इसलिये सम्पूर्ण अस्थायी भावोंको छोड़कर स्थायी भावभूत तथा परमार्थरसरूपसे आस्वादमें आता हुआ यह एक ज्ञान ही आस्वाद करनेके योग्य है ॥२०३॥

यही भाव कलशामें कहते हैं—

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥१३९॥

अर्थ—जो विपत्तियोंका अपद है—अस्थान है और जिसके आगे अन्य सब भाव अपद ही भासमान होते हैं वही एक पद आस्वाद करनेके योग्य है।

भावार्थ—निश्चयसे वह एक ज्ञानरूप पद आस्वाद करनेके योग्य है क्योंकि वह सम्पूर्ण आपदाओंका अपद है तथा उसका आस्वाद आनेपर अन्य निखिल भाव अपद भासने लगते हैं। ऐसा नियम है कि नक्षत्रोंका रूप रात्रिमें ही चमत्कारजनक होता है किन्तु जहाँ सूर्यका उदय हुआ वहाँ उनकी चमककी सब आभा जाती रहती है ॥१३९॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ।

आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयत्किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥१४०॥

अर्थ—जो एक ज्ञायकभावसे पूरित महास्वादको प्राप्त हो रहा है, जो रागादिकसे मिश्रित द्वन्द्वमय स्वादका आस्वादन करनेमें असमर्थ है, जो अपनी वस्तुपरिणतिको जानता है, तथा जो आत्मानुभवकी महिमासे विवश हो रहा है, ऐसा यह आत्मा विशेषके उदयसे रहित सामान्यभावको प्राप्त समस्त ज्ञानकी एकरूपताको प्राप्त कराता है।

भावार्थ—जब यह आत्मा, आत्मद्रव्यकी परिणतिको जानने लगता है अर्थात् उसे जब ऐसा दृढ निश्चय हो जाता है कि आत्माकी परिणति सदा आत्मरूप ही रहती है, अन्यरूप नहीं होती, तब वह रागादिसे मिश्रित द्वन्द्वमय स्वादको छोड़ देता है अर्थात् रागादिकको आत्मासे पृथक् समझता है, 'मैं एक ज्ञायक ही हूँ अर्थात् पदार्थोंका जानना ही मेरा स्वभाव है, उनमें इष्टानिष्टका विकल्प करना मेरा स्वभाव नहीं है' इस प्रकार एक ज्ञायकभावका ही जब आस्वाद लेता है तथा आत्मानुभवकी महिमासे विवश होकर अन्य पदार्थोंके अनुभवकी ओर जब इसका लक्ष्य नहीं जाता तब विशेषोदयसे रहित सामान्यरूपताको प्राप्त जो ज्ञान है उसे एकरूप ही कर देता है अर्थात् ज्ञानके नानाविकल्पोंको गौण कर देता है ॥१४०॥

आगे ज्ञानकी एकरूपताका ही समर्थन करते हैं—

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥२०४॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सब ज्ञानके भेद एक ही पदरूप होते हैं अर्थात् सामान्यरूपसे एक ज्ञान ही है। यह सामान्य ज्ञान ही परमार्थ है, जिसे प्राप्तकर जीव निर्वाणको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे आत्मा परमार्थ है और वह ज्ञानस्वरूप ही है। आत्मा एक ही पदार्थ है, इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है और जो ज्ञाननामा एक पद है वही परमार्थ है और वही मोक्षका साक्षात् कारण है। इसके जो मतिज्ञानादिक पाँच भेद हैं वे इस लोकमें ज्ञानरूपी एक पदका भेद न करनेमें समर्थ नहीं हैं किन्तु उसी एक पदका समर्थन करते हैं। जिस प्रकार इस संसारमें मेघपटलसे आच्छादित सूर्य, उस मेघपटलका क्रम-क्रमसे विघटन होनेपर जब प्रकटपनाको प्राप्त होता है और उस समय उसके जो हीनाधिक प्रकाशके भेद प्रकट होते हैं वे सूर्यके प्रकाशस्वभावका भेदन नहीं करते। तात्पर्य यह है कि जब मेघपटलसे सूर्य आच्छादित हो जाता है तब उसका प्रकाश मेघपटलोंसे व्यक्त नहीं होता और जैसे-जैसे मेघपटल दूर हो जाते हैं वैसे-वैसे उसका प्रकाश व्यक्त होता जाता है। उन प्रकाशोंके द्वारा सूर्यके प्रकाशस्वभावकी वृद्धि ही होती है। इसी प्रकार आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वभाववाला है। परन्तु अनादिकालसे ही कर्मपटलसे आच्छिन्न होनेसे उसका वह स्वभाव व्यक्त नहीं होता। जैसे-जैसे कर्मपटलका अभाव होता जाता है वैसे-वैसे आत्माके ज्ञान-दर्शनगुणोंका विकास होता जाता है, वे विकासरूप ज्ञान-दर्शन, आत्माके ज्ञानस्वभावका भेदन नहीं करते, किन्तु उसीका अभिनन्दन करते हैं। इसलिये समस्त अवान्तर

भेदोंसे रहित आत्माका स्वभावभूत जो एक ज्ञान है उसीका आलम्बन लेना चाहिये। उसीके आलम्बनसे पदकी प्राप्ति होती है भ्रान्ति नष्ट होती है आत्मलाभ होता है, और अनात्माका परिहार होता है उसके होनेपर कर्म वृद्धिको प्राप्त नहीं होते, राग-द्वेष-मोह उपद्रव नहीं करते, फिर कर्मका आस्रव नहीं होता, आस्रवके अभावमें कर्मबन्ध नहीं होता, पूर्वका बंधा हुआ कर्म अपना रस देकर निर्जीर्ण हो जाता है और इस रीतिसे सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव होनेसे साक्षात् मोक्ष हो जाता है ॥२०४॥

आगे इसी भावको कलशामें प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

> अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
> निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
> यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
> वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥१४१॥

अर्थ—जिसकी ये अतिशय निर्मल संवेदन-व्यक्तियाँ—ज्ञानकी अवान्तर विशेषताएं अपने आप उछल रही हैं और इस तरह उछल रही हैं मानो अतिशयरूपसे पिये हुए समस्त पदार्थोंके समूहरूप रसके बहुत भारी बोझसे मत्तवाली ही हो रही हों जो एक अभिन्न रसका धारक है तथा अनन्त आश्चर्योंकी निधि है ऐसा यह भगवान् चैतन्यरूपी रत्नाकर—आत्मारूपी समुद्र एक होकर भी अनेक रूप होता हुआ ज्ञानके विकल्परूप तरंगोंसे चञ्चल हो रहा है।

भावार्थ—यहाँ आत्माको रत्नाकर अर्थात् समुद्रकी उपमा दी है। सो जिस प्रकार समुद्रमें अत्यन्त निर्मल लहरें स्वयमेव उछलती हैं उसी प्रकार इस आत्मामें भी ज्ञानके विकल्परूप अनेक लहरें स्वयमेव उठ रही हैं। ज्ञानके ये विकल्प अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार अनेक पदार्थोंके समूहको जानते हैं। जिसप्रकार समुद्र अभिन्नरस अर्थात् जलसे तन्मय होता है उसीप्रकार यह आत्मा अभिन्नरस अर्थात् ज्ञानसे तन्मय है। जिसप्रकार समुद्र अनेक आश्चर्योंका भाण्डार है उसी प्रकार यह आत्मा भी अनेक आश्चर्योंका भाण्डार है और जिसप्रकार समुद्र सामान्यरूपसे एक होकर भी तरंगोंके कारण अनेकरूप दिखाई देता है उसीप्रकार यह ज्ञानरूप आत्मा भी सामान्य रूपसे एक होकर भी अनेकरूप जान पड़ता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानरूप आत्मा परमार्थसे एक है। परन्तु *मतिज्ञानादिक विकल्पसे अनेकरूप भासमान होता है* ॥१४१॥

आगे कलशा द्वारा कहते हैं कि ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानगुणके बिना दुर्लभ है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

> क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
> क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।
> साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
> ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

अर्थ—मोक्षके उद्देश्यसे किये हुए अत्यन्त कठिन कार्योंके द्वारा कोई स्वयं ही क्लेश उठावें,

तो भले ही उठावे, अथवा महाव्रत और तपके भारसे पीडित हुए अन्य लोग चिरकाल तक क्लेश सहन करें, तो भले ही करे। परन्तु साक्षात् मोक्षरूप निरामयपद—निरुपद्रव स्थान तो यह ज्ञान ही है, इसका स्वय स्वसवेदन हो रहा है, यह स्वय अनुभवमे आ रहा है। ऐसे इस ज्ञानरूप पदको ज्ञानगुणके विना प्राप्त करनेके लिये कोई किसी भी तरह समर्थ नही है।

यहाँपर ज्ञानगुणको प्रधानता देकर ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा गया है। इसका यह तात्पर्य ग्राह्य नही है कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र मोक्षके लिये आवश्यक नही है। भेद-विवक्षामे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो ही मोक्ष-प्राप्तिके अग है। परन्तु यहाँपर सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको ज्ञानमे गतार्थ कर दिया है। ज्ञानकी जो दृढता है वही सम्यग्दर्शन है और ज्ञानमे कषायोदयके कारण जो चचलता आती थी उसका अभाव हो जाना सम्यक्चारित्र है ॥१४२॥

आगे यही भाव गाथामे दिखाते हैं—

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं वहू वि ण लहंति।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२०५॥

अर्थ—हे भव्य! यदि तुम सव ओरसे कर्मोसे छुटकारा चाहते हो, तो उस निश्चित ज्ञानको ग्रहण करो, क्योंकि ज्ञानगुणसे रहित अनेको प्राणी इस पदको प्राप्त नही कर पाते हैं।

विशेषार्थ—यतः कर्ममे ज्ञानका प्रकाश नही है, अत निखिल कर्मके द्वारा ज्ञानकी उपलब्धि असभव है। ज्ञानमे ज्ञानका प्रकाश है, अत केवल ज्ञानके द्वारा ही ज्ञानका लाभ होता है। इसी कारणसे अनेक पुरुष ज्ञानशून्य होकर अनेक प्रकारके कर्मों द्वारा इस ज्ञानरूप निरामय पदको नही पा सकते है और इसके अलाभमे वे मनुष्य कर्मोसे नही छूट सकते है। इसलिये जो मनुष्य कर्मोसे छूटनेकी इच्छा करते है उन्हे मात्र ज्ञानके आलम्बनसे इस निश्चित पदको प्राप्त करना चाहिये ॥२०५॥

आगे यही भाव कलशा द्वारा प्रकट करते है—

द्रुतविलम्बितछन्द

पदमिद ननु कर्मदुरासदं
सहजबोधकलासुलभ किल।
तत इद निजबोधकलावलात्
कलयितु यतता सततं जगत् ॥१४३॥

अर्थ—यह पद निश्चय ही कर्मके द्वारा दुष्प्राप्य है और सहजबोधकला—स्वाभाविक-ज्ञानकलासे सुलभ है। इसलिये जगत् इस ज्ञानपदको सहजज्ञानकलाके बल प्राप्त करनेका निरन्तर यत्न करें।

भावार्थ—यह ज्ञानरूप आत्मपद केवल क्रियाकाण्डसे सुलभ नही है किन्तु स्वाभाविक ज्ञानकी कलासे सुलभ है। यहाँ ज्ञानके साथ 'सहज' विशेषण दिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि मात्र [illegible] ज्ञानसे भी इसकी प्राप्ति सुलभ नही है, क्योकि ग्यारह अग और नौ पूर्वका पाठी

होकर भी यह जीव अनन्त संसारका पात्र बना रहता है। यहाँ आवश्यकता मोहजन्य विकारसे रहित आत्मज्ञानकी है। प्रारम्भमें वह आत्मज्ञान क्षायोपशमिक अवस्थामें परोक्षरूप ही होता है। परन्तु वह परोक्षरूप आत्मज्ञान भी इस जीवको अन्तर्मुहूर्तके अनन्तर केवलज्ञान प्राप्त करानेकी सामर्थ्य रखता है। जिसे भेदविज्ञान प्राप्त हो गया वह नियमसे अन्तर्मुहूर्तमें या अधिकसे अधिक देशोन कोटिवर्ष पूर्वमें समस्त कर्मोंसे मोक्षको प्राप्त करता है ॥१४३॥

यही बात फिर भी कहते हैं—

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥२०६॥

अर्थ—इस ज्ञानमें ही नित्य रत होओ, इसी ज्ञानमें नित्य संतुष्ट होओ इसी ज्ञानसे तृप्त होओ, ऐसा करनेसे ही तुझे उत्तम सुख होगा।

विशेषार्थ—जितना ज्ञान है उतना ही तो आत्मा है अर्थात् ज्ञानादिगुणोंका अविष्वग्भावरूप जो विलक्षण सम्बन्ध है वही आत्मा है इस प्रकार निश्चयकर शुद्ध ज्ञानमें ही रतिको प्राप्त होओ, क्योंकि इतना ही कल्याण है इससे भिन्न और कल्याण कोई वस्तु नहीं। ज्ञाता-द्रष्टा ही आत्मा है जहाँ ज्ञान केवल परपदार्थको जानता है रागादिक औपाधिकभावरूप नहीं परिणमता यही तो सम्यक्चारित्र है। अतः आचार्योंका कहना है कि ज्ञानका ज्ञानरूप रहना ही तो कल्याण है अतिरिक्त कल्याणकी कल्पना करना मोहजभाव है ऐसा निश्चयकर शुद्धज्ञानके द्वारा ही नित्य संतोषको प्राप्त होओ। और जितना ज्ञान है उतना ही सत्य अनुभव है अर्थात् नयभिन्न शुद्ध ज्ञानसे जो ज्ञानका अनुभवन है वही तो ज्ञानका निजरूप है—ऐसा निश्चयकर ज्ञानमात्रसे ही नित्य तृप्तिको प्राप्त करो। इस प्रकार जो आत्मा अपने आपमें रत होगा, अपनेमें ही तृप्त होगा और आत्मामें ही संतुष्ट होगा उसके जो सुख होगा वह वचनके अगोचर होगा। वह सुख जिस क्षणमें होगा उसको यह आत्मा स्वयमेव देखेगा अन्यसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं ॥२०६॥

यही बात श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशमें कहते हैं—

उपजातिछन्द

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात् ।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ? ॥१४४॥

अर्थ—वह आत्मरूप स्वयमेव अचिन्त्य शक्तिवाला है चिन्मात्र चिन्तामणि है उसके सब अर्थकी सिद्धि स्वयं होती है अतः ऐसे ज्ञाता पुरुषको अन्य परिग्रहके ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है ॥१४४॥

अब यहाँपर कोई आशंका करता है कि ज्ञानी परको ग्रहण क्यों नहीं करता ? इसीका उत्तर नीचे गाथामें देते हैं—

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ॥२०७॥

अर्थ—जो नियमसे आत्माको ही आत्माका परिग्रह जान रहा है ऐसा कौन ज्ञानी पण्डित कह सकता है कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है ?

विशेषार्थ—क्योकि ज्ञानी पुरुष नियमसे ऐसा जानता है कि जिसका जो आत्मीय असाधारण स्वरूप है वही उसका स्व है और वह उसका स्वामी है। इस प्रकार तीक्ष्णतरदृष्टिके अवलम्बनसे आत्मा ही आत्माका परिग्रह है। इसलिये यह जो परकीय वस्तु है वह मेरा स्व नही है और न मैं उसका स्वामी हूँ। यही कारण है कि ज्ञानी आत्मा परद्रव्यको ग्रहण नही करता है। ससारमे यह नियम है कि जो चतुर, विज्ञ तथा भद्र मनुष्य हैं वे परपदार्थको न तो अपना जानते ही हैं और न उसे स्वीकार ही करते हैं। इसी पद्धतिका अनुसरण करके सम्यग्ज्ञानी जीव अपने निज स्वभावको ही स्वकीय धन जानते हैं और उसीको ग्रहण करते है। परपदार्थको अपना धन नहीं मानते हैं और न उसको ग्रहण करनेका प्रयास करते है। यही मुख्य हेतु है कि षट्खण्डाधिपति होकर भी वे अणुमात्र भी उसमे अपना नही मानते, इसीसे निरन्तर कमलपत्रकी तरह अलिप्त रहते है ॥२०७॥

आगे इसी अर्थको युक्तिसे दृढ़ करते हैं—

> मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
> णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ ॥२०८॥

अर्थ—यदि परद्रव्य मेरा परिग्रह हो जावे, तो मैं अजीवनपनको प्राप्त हो जाऊँ, क्योकि मैं तो ज्ञानी हूँ, इसलिये परिग्रह मेरा नही है।

विशेषार्थ—यदि मै परद्रव्यरूप अजीवको ग्रहण करूँ तो निश्चय ही यह अजीव मेरा स्वीय धन हो जावे और मै इस अजीवका निश्चयसे स्वामी हो जाऊँ। परन्तु ऐसा होता नही, यदि ऐसा होने लगे, तो वस्तुकी मर्यादाका ही लोप हो जावेगा, और यह इष्ट नही। अत. जो अजीवका स्वामी है वह निश्चयसे अजीव ही है, यदि मैं अजीवका स्वामी हो जाऊँ तो निश्चयसे मेरे अजीवपन आ जावेगा, परन्तु मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही है, वही मेरा स्वीय धन है और उसी एक ज्ञायकभावका मै स्वामी हूँ। इसलिये मेरे अजीवपन न हो, मै तो ज्ञाता ही रहूँगा, अत परद्रव्यको नहीं ग्रहण करता हूँ, यह मेरा दृढ निश्चय है ॥२०८॥

आगे इसी अर्थको और भी दृढ करते हैं—

> छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।
> जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥२०९॥

अर्थ—ज्ञानी जीवके ऐसा दृढ निश्चय है कि परिग्रह छिद जावे, भिद जावे, अथवा कोई उसे ले जावे, अथवा यह नष्ट हो जावे अथवा जिस किसी तरहसे चला जावे, तो भी परिग्रह मेरा नहीं है।

विशेषार्थ—जब सम्यग्ज्ञानी यह निश्चय कर चुका कि परवस्तु हमारी नहीं है तब

इच्छा और परिग्रहका अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् जहाँ इच्छा है वही परिग्रहका सद्भाव है। इच्छा मोहकर्मके उदयसे जायमान होनेके कारण अज्ञानमयभाव है, इसलिये स्वसवेदन-ज्ञानी जीव शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्मको छोडकर शुभोपयोगरूप धर्म—अर्थात् पुण्यकी इच्छा नही करता। यद्यपि अपने पदके अनुकूल ज्ञानी जीवके पुण्यरूप परिणाम होते हैं तो भी 'यह पुण्य मेरा स्वरूप नही है' ऐसा निश्चय होनेसे वह पुण्यसे तन्मय नही होता। जिस प्रकार कोई दर्पणमे पड़े हुए प्रतिबिम्बका ज्ञायक होता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव अपने आत्मामे आये हुए पुण्य-परिणामका ज्ञायक ही होता है, पुण्यपरिणामरूप अपने आपको नही मानता है ॥२१०॥

आगे ज्ञानीके इसी प्रकार धर्मका भी परिग्रह नहीं है, यह कहते हैं—

> **अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं।**
> **अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२११॥**

अर्थ—ज्ञानी जीव इच्छा रहित है, अतः परपदार्थके परिग्रहसे रहित है, ऐसा कहा गया है, इसीसे ज्ञानी जीव अधर्मकी इच्छा नही करता। यही कारण है कि ज्ञानी जीवके अधर्मका परिग्रह नही है। वह तो केवल उसका ज्ञाता है।

विशेषार्थ—इच्छा है वह परिग्रह है, जिसके इच्छा नही है उसके परिग्रह नही है। इच्छा अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नही है, ज्ञानीके तो ज्ञानमय ही भाव होता है। इसीसे ज्ञानी जीव अज्ञानमय भावात्मक इच्छाके अभावसे अधर्मको नही चाहता है। इसीलिये ज्ञानीके अधर्मका परिग्रह नही है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावसे यह केवल अधर्मका ज्ञायक है। इसी पद्धतिसे अधर्मपदको परिवर्तित कर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रवण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये सोलह पद रखकर सोलह सूत्रोकी व्याख्या करनी चाहिये।

यहाँ विषय-कषायरूप पाप-परिणामको अधर्म कहा गया है। ज्ञानी जीव जब धर्मको अपना स्वीय परिणाम नही मानता, तब अधर्मको स्वीय परिणाम कैसे मान सकता है? यद्यपि ज्ञानी जीवके भी चतुर्थ-पञ्चम गुणस्थानमे विषय-कषायरूप परिणाम होते हैं परन्तु वह उन्हे 'ये परिणाम मेरे हैं' ऐसा नही मानता। उसकी श्रद्धा है कि चारित्रमोहके उदयसे जो ये विकारीभाव उत्पन्न हो रहे हैं वे मेरे स्वभाव नही है। जैसे दर्पण, प्रतिबिम्बसे तन्मय दिखता हुआ भी वास्तवमे उससे तन्मय नही होता। उसी प्रकार आत्मा इन विकारीभावोसे तन्मय दिखता हुआ भी वास्तवमे उनसे तन्मय नही है। अतएव जिस प्रकार कोई दर्पणके प्रतिबिम्बका ज्ञाता होता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव इस अधर्म परिणामका ज्ञाता होता है ॥२११॥

आगे ज्ञानीके आहारका भी परिग्रह नहीं है, यह कहते हैं—

> **अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो य णिच्छदे असणं।**
> **अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१२॥**

अर्थ—जो इच्छावान् नहीं है वही परिग्रह रहित कहा गया है। ज्ञानी भोजनको नहीं चाहता है, इसलिये उसके भोजनका परिग्रह नहीं है यही कारण है कि ज्ञानी महात्मा भोजनका ज्ञायक है।

विशेषार्थ—इच्छाका अर्थ परिग्रह है। जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके होता नहीं है ज्ञानीके तो एक ज्ञानमय ही भाव होता है इसीसे ज्ञानी आत्मा अज्ञानमय भावरूप इच्छाका अभाव होनेके कारण आहारकी इच्छा नहीं करता, इसलिये ज्ञानीके अशन (आहारका) परिग्रह नहीं है। ज्ञानात्मक ज्ञायकभावका सद्भाव होनेसे वह ज्ञानी केवल ज्ञायक ही होता है।

यद्यपि ज्ञानी जीवकी छठवें गुणस्थान तक शरीरकी स्थिरताके लिये आहारमें प्रवृत्ति होती है तो भी वह आहारको आत्माका स्वभाव नहीं मानता, इसलिये आहार करता हुआ भी आहारके परिग्रहसे रहित है, वह केवल आहारका ज्ञायक ही होता है ॥२१२॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानीके पानका भी परिग्रह नहीं है—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१३॥

अर्थ—इच्छारहित ही परिग्रहरहित कहा गया है ज्ञानी जीव पानकी इच्छा नहीं करता है इसलिये उसके पानका परिग्रह नहीं है वह तो पानका ज्ञाता ही है।

विशेषार्थ—इच्छा ही परिग्रह है। जिस पवित्र आत्माके इच्छा नहीं है उसके परिग्रहका अभाव है। इच्छा अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी आत्माके होता नहीं है ज्ञानीके एक ज्ञानमय भावका ही सद्भाव है इसलिये ज्ञानी जीव अज्ञानमय भावरूप इच्छाके अभावसे पानकी इच्छा नहीं करता है, इसीसे उस जीवके पानका परिग्रह नहीं है। उसके तो एक ज्ञानमय ज्ञायक भाव ही है। अतः वह केवल पानका ज्ञायक है।

यद्यपि आहारकी तरह पानमें भी प्रवृत्ति छठवें गुणस्थान तक होती है तो भी ज्ञानी जीव उसे आत्माका स्वभाव नहीं मानता। असाता वेदनीयकी उदीरणासे प्रेरित होकर शरीरकी स्थिरताके लिये ज्ञानी जीव यद्यपि आहार और पानका ग्रहण करता है तो भी तद्विषयक इच्छाका अभाव होनेसे वह पानके परिग्रहसे रहित है वह केवल पानका ज्ञायक ही होता है।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव इसी तरह अन्य भावोंकी भी इच्छा नहीं करता है—

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥२१४॥

अर्थ—इनको आदि लेकर और भी जो विविध प्रकारके सर्व भाव हैं ज्ञानी जीव उनकी इच्छा नहीं करता है। अतएव निश्चयसे उसके ज्ञायकभाव ही है अन्य सब विषयोंमें तो वह उनसे निरालम्ब है।

विशेषार्थ—इस प्रकार इन भावोके अतिरिक्त अन्य भी जो अनेक प्रकारके परद्रव्य सम्बन्धी भाव है ज्ञानी जीव उन सबकी इच्छा नही करता, इसलिये ज्ञानी जीवके परद्रव्य सम्बन्धी सभी भावोका परिग्रह नही है। इस प्रकार ज्ञानी जीवके अत्यन्त निष्परिग्रहपन सिद्ध होता है। इस तरह आत्मातिरिक्त निखिल पदार्थोके परिग्रहका अभाव होनेसे जिसने समस्त अज्ञानभावको उगल दिया है, ऐसा ज्ञानी जीव सभी पदार्थोमे अत्यन्त निरालम्ब होकर प्रतिनियत एक टकोत्कीर्ण ज्ञायकभावका धारक होता हुआ साक्षात् विज्ञानघन आत्माका ही अनुभव करता है ॥२१४॥

अब यही भाव कलशामे प्रकट करते हैं—

स्वागताछन्द

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोग ।
तद्भवत्वथ च रागवियोगान्नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥१४६॥

अर्थ—पूर्वबद्ध निजकर्मके विपाकसे यद्यपि ज्ञानी जीवके परपदार्थोका उपभोग होता है तथापि रागके वियोगसे वह उपभोग परिग्रहपनको नही प्राप्त होता है।

भावार्थ—अज्ञानावस्थामे बाँधे हुए कर्मोका उदय तीव्र, मन्द या मध्यमरूपसे ज्ञानी जीवके भी होता है और उस उदयानुसार ज्ञानी जीवके नाना भाव भी होते हैं। परन्तु वह उन भावोको आत्माका स्वभाव नही मानता, इसलिये वे परिग्रहभावको प्राप्त नही होते ॥१४६॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानीके त्रिकाल सम्बन्धी उपभोगका परिग्रह नहीं है—

उप्पण्णोदयभोगो विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं ।
कखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी ॥२१५॥

अर्थ—ज्ञानी जीवके वर्तमानमे कर्मविपाकसे जो भोग प्राप्त हुआ है वह निरन्तर वियोग-बुद्धिसे ही प्रवर्तता है अर्थात् उसका उपभोग करते हुए भी ज्ञानी जीवका सदा ऐसा अभिप्राय रहता है कि यह आपत्ति कब पृथक् हो और अनागत (भविष्य) कालमे होनेवाले उदयकी आकाक्षा ज्ञानी नही करता है। इसतरह वर्तमान और भविष्यत्काल सम्बन्धी उपभोगका परिग्रह ज्ञानीके नही है तथा अतीतकाल सम्बन्धी उपभोगका परिग्रह अतीत हो जानेके कारण अभावरूप है ही। इस प्रकार ज्ञानी जीव त्रिकाल सम्बन्धी उपभोगके परिग्रहसे रहित है।

विशेषार्थ—कर्मके उदयमे जो उपभोग प्राप्त होता है वह अतीत, वर्तमान और अनागत ऐसे तीन प्रकारका है। उनमे जो अतीत है वह तो अतीत हो जानेके कारण ही परिग्रह भावको नही प्राप्त होता है और अनागत भोग आकांक्षा करनेसे ही परिग्रहभावको प्राप्त हो सकता है [illegible] नही, सो ज्ञानी जीवके अनागत—आगामी भोगकी इच्छा नही है। इसलिये वह भी परिग्रहभावको नही प्राप्त होता है। तथा वर्तमानमे जो उपभोग प्राप्त है उसे [illegible] भोगना नही चाहता है अर्थात् उसमे निरन्तर विरक्तबुद्धि रहता है, क्योंकि ज्ञानी

जीवके अज्ञानमय भावका अभाव है। अतः वर्तमान उपभोग उसके परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता है। अनागत भोगकी ज्ञानीके इच्छा ही नहीं है, क्योंकि ज्ञानी जीवके अज्ञानमयभावरूप इच्छाका अभाव है इसलिये अनागतकर्मके उदयका उपभोग भी ज्ञानीके परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता है ॥२१५॥

आगे ज्ञानी भविष्यत् कालमें होने वाले भोगको क्यों नहीं चाहता है? इसका उत्तर कहते हैं—

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं।
तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखइ कयावि ॥२१६॥

अर्थ—जो भाव अनुभव करता है उसे वेदकभाव कहते हैं और जो अनुभव करने योग्य है उसे वेद्यभाव कहते हैं। यह दोनों भाव क्रमसे होते हैं एक समयमें नहीं होते अर्थात् जिस कालमें वेदकभाव है उस कालमें वेद्यभाव नहीं है और जिस कालमें वेद्यभाव है उस कालमें वेदकभाव नहीं है अर्थात् दोनों ही समय-समयमें नष्ट हो जाते हैं। उन्हें जाननेवाला ज्ञानी जीव कदापि दोनोंको भी नहीं चाहता है।

विशेषार्थ—ज्ञानी जीव स्वभावभावके ध्रुवपनसे नित्य ही टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव है और वेद्यवेदकभाव उत्पन्न तथा विनाशस्वभावपनसे अनित्य हैं। इन दोनोंमें जो भाव आकांक्षा करता है कि मैं इच्छामें आये हुए भावका वेदन करूँगा। सो जबतक वेदन करनेवाला वेदकभाव होता है उसके पहले जिस भावका वेदन करना चाहता था, वह वेद्यभाव विलयको प्राप्त हो जाता है उसके विलीन होनेसे वेदकभाव किसको वेदे? कदाचित् कहो कि वेदकभावके पश्चात् होनेवाला जो वेद्यभाव है उसे वेदे, सो जबतक आकांक्षाका विषय वेद्यभाव उत्पन्न होता है तब तक यह वेदकभाव नष्ट हो जाता है कौन वेदे? कदाचित् वेद्यभावके पश्चात् होनेवाला वेदकभाव उसे वेदन करेगा सो जबतक वेदन करनेवाला वेदकभाव होगा तबतक वेद्यभाव नष्ट हो जावेगा। इसप्रकार अनवस्थिति होनेसे अभीष्टकी सिद्धि होना असंभव है, ऐसा जानकर ज्ञानी जीव उभयभावकी अभिलाषासे शून्य है ॥२१६॥

यही भाव कलशामें दिखाते हैं—

स्वागताछन्द

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।
तेन कांक्षति न किंचन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥१४७॥

अर्थ—वेद्य और वेदकभाव दोनों ही क्षणिक हैं। इसीसे जो कांक्षित भाव है वह कभी भी वेदनेमें नहीं आता इसीलिये ज्ञाता जीव कुछ भी आकांक्षा नहीं करता प्रत्युत सर्वभावोंसे विरक्तिभावको प्राप्त होता है।

भावार्थ—परमार्थसे यह जीव बाह्य भोग-उपभोग का अनुभव नहीं करता है किन्तु भोग उपभोगकी आकांक्षा करनेवाले आत्मपरिणामका ही अनुभव करता है। इस स्थितिमें आत्मा ही वेद्य है और आत्मा ही वेदक है। आत्मा जिस भावका वेदन करता है वह वेद्य कहलाता है और

जो भाव अनुभव करता है वह वेदक कहलाता है। आत्माका यह वेद्यवेदकभाव क्रमवर्ती है अर्थात् जिस समय वेद्यभाव होता है उस समय वेदकभाव नही होता और जिस समय वेदकभाव होता है उस समय वेद्यभाव नही होता। यह वेद्यवेदकभाव कर्मोदयसे जायमान होनेके कारण आत्माका विभाव कहलाता है, स्वभाव नही। विभाव होनेसे वह क्षणभङ्गुर है। अत आत्माका वेदकभाव जिस वेद्यभावकी इच्छा करता है वह क्षणभङ्गुर होनेसे वेदन करनेमे नही आता। जब वेदन करनेमे नही आता तब ज्ञानी जीव उसकी इच्छा ही क्यो करेगा ? वह तो सब ओरसे विरक्तिको ही प्राप्त होता है ॥१४७॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीवके भोग-उपभोगमे राग नहीं होता है—

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥२१७॥

अर्थ—बन्ध और उपभोगके निमित्त जो अध्यवसानके उदय है वे सब ससारविपयक तथा देहविपयक हैं उनमे ज्ञानी जीवके राग नही होता है।

विशेषार्थ—इस लोकमे निश्चयसे जो अध्यवसानके उदय है उनमे कितने तो ऐसे है जिनका विषय ससार है और कितने ही ऐसे है जिनका विषय शरीर है। जितने ससारविपयक है वे बन्धके निमित्त है और जितने शरीरविपयक है वे उपभोगके निमित्त हैं। जो बन्धके निमित्त हैं वे राग-द्वेप-मोह आदिक है और जो उपभोगके निमित्त है वे सुख-दु ख आदिक है। इन सभी भावोमे ज्ञानी जीवके राग नही होता है क्योकि ये सभी भाव नानापरद्रव्योंके सम्बन्धसे जन्य हैं और ज्ञानी जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाववाला है। अतएव ज्ञानी जीवके साथ उनका सम्बन्ध नही बन सकता है।

मोहनीयकर्मके उदयमे जो मोह-राग-द्वेप तथा हर्पविपादादिक भाव होते हैं उन्हे अध्यवसानभाव कहते है। इन अध्यवसानभावोमे जो मोह-राग-द्वेप भाव है वे ससारविपयक हैं अर्थात् उन्ही भावोका निमित्त पाकर आत्माकी ससृति-परम्परा होती है और यही भाव आगामीकर्म-बन्धमे निमित्त पडते है। तथा जो हर्प-विपादादिक भाव है वे शरीर विपयक हैं और उपभोगके निमित्त है अर्थात् शरीरमे सुखादिक भाग उपक्षीण हो जाते है। इनसे ससार-सततिका प्रवाह नही चलता, क्योंकि जब तक इनके साथ रागादिक परिणाम न हो तब तक वे स्वय बन्धके जनक नही होते। अतएव जो सम्यग्ज्ञानी जीव है उनके इन अखिल अध्यवसानादिक भावोमे रागभाव नही है ॥२१७॥

यही भाव कलशामे दिखाते है—

स्वागताछन्द

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं
कर्म रागरसरिक्ततयैति।
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे
स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥१४८॥

अर्थ—रागरसी रिक्तता से रहित होने के कारण ज्ञानी जीवको क्रिया परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होती क्योंकि हर्रा, फिटकरी आदिसे उत्पन्न कषायलेपसे रहित वस्त्रमें जो रङ्ग दिया जाता है वह स्वीकृत होने पर भी बाहर ही बाहर रहता है अन्तरङ्गमें प्रवेश नहीं करता ॥१४८॥

स्वागताछन्द

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्
सर्वरागरसवर्जनशीलः ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेष
कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥१४९॥

अर्थ—ज्ञानी जीवका ऐसा सहज स्वभाव है कि उसकी आत्मामें स्वयमेव रागकी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिये ज्ञानी जीव कर्मके मध्यमें पतित होकर भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है ॥१४९॥

आगे दृष्टान्त द्वारा इसी बातका समर्थन करते हैं—

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥२१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दम-मज्झे जहा लोहं ॥२१९॥
(युग्मम्)

अर्थ—ज्ञानी जीव सब द्रव्योंमें रागका त्याग करनेवाला है इसलिये वह मन वचन कायके व्यापाररूप कर्मके मध्यमें पड़ा हुआ भी कर्मरूपी रजसे उस तरह लिप्त नहीं होता जिस तरह कि कर्दमके मध्यमें पड़ा हुआ सुवर्ण जङ्गसे लिप्त नहीं होता। किन्तु अज्ञानी जीव सब द्रव्योंमें राग करता है इसलिये वह मन, वचन कायके व्यापाररूप कर्मके मध्यमें पड़ा हुआ कर्मरूपी रजसे उस तरह लिप्त होता है जिस तरह कि कर्दमके मध्यमें पड़ा हुआ लोहा जङ्गसे लिप्त हो जाता है।

विशेषार्थ—जिसप्रकार निश्चयसे सुवर्ण कर्दमके मध्यमें पड़ा हुआ होनेपर भी कर्दमसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि कर्दमसे लिप्त होना उसका स्वभाव नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव कर्मोंके मध्यमें अर्थात् मन, वचन कायके व्यापारके बीचमें पड़ा हुआ होनेपर भी कर्मसे लिप्त नहीं होता क्योंकि समस्त परद्रव्य सम्बन्धी रागका त्यागी होनेसे कर्मसे लिप्त होना उसका स्वभाव नहीं है। जिसप्रकार लोहा कर्दमके मध्यमें पड़कर कर्दमसे लिप्त हो जाता है क्योंकि कर्दमसे लिप्त होना उसका स्वभाव है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्मोंके मध्यमें पड़कर कर्मसे लिप्त होता है क्योंकि समस्त परद्रव्य सम्बन्धी रागसे युक्त होनेके कारण कर्मोंसे लिप्त होना उसका स्वभाव है।

सुवर्णका ऐसा विलक्षण स्वभाव है कि वह कितने ही कालपर्यन्त कर्दममें पड़ा रहे परन्तु उसके वर्णमें विकार नहीं होता। इसी तरह ज्ञानी जीवका ऐसा विलक्षण स्वभाव है कि वह

समस्त कार्य करता हुआ भी कर्मबन्धसे रहित रहता है। कर्मबन्धका कारण रागपरिणति है और ज्ञानी जीवके वह रागपरिणति छूट जाती है। इसलिये केवल क्रियासे उसके बन्ध नही होता। परन्तु अज्ञानी जीवकी परिणति इससे विलक्षण है। जिस प्रकार लोहा कर्दममे डाल दिया जावे तो वह उसके सम्बन्ध से जगाल से लिप्त हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्मके मध्यमे पड जावे अर्थात् मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिरूप व्यापार करे तो वह कर्मोसे लिप्त हो जाता है क्योकि कर्मबन्धका प्रमुख कारण रागभाव है और वह उसके विद्यमान है ही ॥२१८-२१९॥

आगे जिसका जो स्वभाव है वह वैसा ही रहता है, यह कलशा द्वारा कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि य
कर्तुं नैप कथंचनापि हि परैरन्यादृश शक्यते।
अज्ञान न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञान भवत्सतत
ज्ञानिन् भुङ्क्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव ॥१५०॥

अर्थ—जिस वस्तुका जो जैसा स्वभाव होता है वह वैसा ही रहता है, वह किसी भी तरह दूसरोंके द्वारा अन्यथा नही किया जा सकता। इसी पद्धतिसे ज्ञान भी कभी अज्ञान नही हो सकता। अतएव आचार्यका उपदेश है कि हे ज्ञानी जीव! कर्मोदयसे जो कुछ उपभोग प्राप्त हुआ है उसे उदयजनित सामग्री जान अहकार बुद्धिमे रहित होकर भोग, यदि इस नीतिसे उदासीनभावसे भोगेगा तो परापराधजनित बन्ध तुझे नही होगा।

भावार्थ—इस जीवके ज्ञानके साथ अनादिकालसे मोहजन्य विकारीभावोका संमिश्रण चला आ रहा है। अज्ञानी जीव उस समिश्रणको ज्ञानका स्वभाव जान उससे कभी विरक्त नही होता। इसलिये उसके बन्ध सदाकाल जारी रहता है। परन्तु ज्ञानी जीव इस अन्तरको समझ जाता है, वह ज्ञानको ज्ञान और मोहजन्य रागादिक विकारोको विकार समझ लेता है, इसलिये उनसे विरक्त हो जाता है। इस विरक्तिके कारण ज्ञानी जीव यद्यपि प्राप्त सामग्रीका उपभोग करता है तो भी उसके बन्ध नही होता। उसका कर्मोदय अपना फल देकर निर्जीर्ण होता जाता है, नवीन बन्धका कारण नही होता। कर्मोदय, ज्ञानी जीवके ज्ञानको अन्यथा करनेके लिये समर्थ नही है क्योकि वस्तुका ऐसा स्वभाव है कि वह सदा वस्तुके ही स्वाधीन रहता है, किसी भी तरह उसका अन्यथा परिणमन नही कराया जा सकता ॥१५०॥

आगे यही अर्थ दृष्टान्तके द्वारा दृढ करते हैं—

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे।
संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्हगो कादुं ॥२२०॥
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥२२१॥

जह्या स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२२२॥
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिऊण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२२३॥

अर्थ—जिस तरह शङ्ख यद्यपि नाना प्रकारके सचित्त अचित्त और मिश्र द्रव्योंका उपभोग करता है तो भी उसका श्वेतभाव कृष्ण नहीं किया जा सकता है। उसी तरह ज्ञानी जीव यद्यपि सचित्त अचित्त और मिश्र द्रव्योंका उपभोग करता है तो भी उसका ज्ञान अज्ञानभावको प्राप्त नहीं कराया जा सकता और जिस तरह जिस कालमें वही शङ्ख उस श्वेतभावको छोड़कर कृष्णभावको प्राप्त हो जाता है उस कालमें श्वेतभावको स्वयं छोड़ देता है उसी तरह ज्ञानी जीव भी जिस कालमें उस ज्ञानभावको छोड़ देता है उस कालमें अज्ञानभावसे परिणत हुआ अज्ञानभावको प्राप्त हो जाता है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार निश्चयसे शङ्ख यद्यपि परद्रव्यका उपभोग करता है तो भी जो उसका स्वीय श्वेतभाव है वह परके द्वारा कृष्ण नहीं किया जा सकता क्योंकि परमें परभावके प्रति निमित्तपनेकी अनुपपत्ति है अर्थात् परपदार्थ अपर पदार्थके अन्यथापन करनेकी सामर्थ्यसे शून्य है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव यद्यपि परद्रव्यका उपभोग कर रहा हो तो भी उसका जो स्वीय ज्ञानभाव है वह परके द्वारा अज्ञान नहीं किया जा सकता क्योंकि परमें परभावके प्रति निमित्तपनेकी अनुपपत्ति है अर्थात् परपदार्थ अपरपदार्थके अन्यथापन करनेकी सामर्थ्यसे शून्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानीके परकृत अपराधके निमित्तसे बन्ध नहीं होता है। और जिस प्रकार जिस समय वही शङ्ख परद्रव्यका उपभोग कर रहा हो अथवा न कर रहा हो श्वेतभावको छोड़कर स्वयं ही कृष्णभावसे परिणमता है उस समय उसका श्वेतभाव स्वयं ही कृष्णभावको प्राप्त होता है। उसी प्रकार जिस समय वही ज्ञानी परद्रव्यका उपभोग कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, ज्ञानको छोड़कर स्वयमेव अज्ञानभावसे परिणमता है उस समय उसका ज्ञान स्वयं ही अज्ञानभावको प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानी जीवके जो बन्ध होता है वह स्वीय अपराधके निमित्तसे ही होता है ॥२२०-२२३॥

आगे यही भाव कलशाके द्वारा दरशाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते
भुंक्षे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः ।
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद् ध्रुवम् ॥१५१॥

अर्थ—हे ज्ञानी जीव ! यद्यपि तुझे कभी कर्म करना उचित नहीं है अर्थात् ... कर्मका बन्ध करना तेरे योग्य नहीं है तो भी कुछ कहा जाता है। पर... ऐसा कहता हुआ यदि तू उसका उपभोग करता है तो खेद है कि तू ...

उपभोग करनेवाला ही है। जो वस्तु तेरी नही उसका उपभोग करना असद् उपभोग ही है। कदाचित् तूं यह कहे कि ज्ञानी जीवके उपभोगसे बन्ध नही होता तो इसके उत्तरमे आचार्य कहते हैं कि तो क्या तेरा कामचार है अर्थात् तेरी इच्छासे बन्ध रुकनेवाला है ? अरे भाई ! ज्ञानरूप होकर निवास कर—ज्ञानके साथ मिले हुए रागादिकको दूरकर मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहकर कार्य कर, तभी बन्धसे बच सकता है अन्यथा निश्चित ही अपने अपराधसे बन्धको प्राप्त होगा।

भावार्थ—निश्चयसे जीव परद्रव्यका न कर्ता है और न भोक्ता है परन्तु अज्ञानी होकर यह परद्रव्यका कर्ता और भोक्ता बन रहा है। ऐसे जीवको आचार्य समझाते हैं कि हे भाई ! तूँ अपने इस अज्ञानको छोड, तू तो ज्ञानी है अत. ज्ञानस्वभावको ही प्राप्त हो, परद्रव्य जब तेरा नही है तब तूँ उसका उपभोग करनेवाला कैसे बनता है ? लोकमे परका उपभोग करना असद् उपभाग कहलाता है। इसके उत्तरमे वह कहता है कि मै तो ज्ञानी हूँ, परद्रव्यके उपभोगसे मुझे बन्ध नही होगा अत उपभोग करते हुए भी मेरी हानि नही है। तब आचार्य कहते है कि बन्ध होना और न होना तेरी इच्छा पर निर्भर नही है। इस विषयमे तेरा स्वेच्छाचार नही चल सकता। यदि तू ज्ञानी होकर रहेगा अर्थात् अपने ज्ञानमे-से रागादिक विकारीभावोको पृथक् कर देगा तब तो बन्धसे बच सकेगा, अन्यथा अपने इस अपराधसे—रागादिविकारीभावरूप परिणमनसे निश्चित ही बन्धको प्राप्त होगा ॥१५१॥

आगे रागी मनुष्य ही कर्मबन्धको प्राप्त होता है, यह कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाण फललिप्सुरेव हि फल प्राप्नोति यत्कर्मण ।
ज्ञान सस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशील मुनि ॥१५२॥

अर्थ—क्योंकि कर्म अपने करनेवाले कर्ताको जबर्दस्ती अपने फलसे युक्त नही करता, किन्तु फलकी इच्छा रख कर कर्म करनेवाला प्राणी ही कर्मके फलको प्राप्त होता है। इसीलिये ज्ञानरूप होते हुए जिसने रागकी रचनाको दूर कर दिया है तथा कर्मके फलका त्याग करना जिसका स्वभाव है, ऐसा मुनि (ज्ञानी जीव) कर्म करता हुआ भी कर्मसे बद्ध नही होता है।

भावार्थ—वास्तवमे बन्धका कारण अन्तरङ्ग वासना है। जिनके दर्शनमोहका उपशमादि हो गया है उनके मिथ्यात्वके जानेसे स्वपरभेदज्ञान हो जाता है। वे भेदज्ञानके बलसे परको पर जानते है, [illegible] चारित्रमोहके उदयमे नही चाहते हुए भी औदयिक रागादिककी वेदनाके अपहारार्थ [illegible] औषध सेवनके समान बाह्य भोगोमे यद्यपि प्रवृत्ति करते है तो भी स्निग्धताके अभावमे [illegible] नही होते ॥१५२॥

आगे इसी अर्थको दृष्टान्तसे दृढ करते हैं—

पुरिसो जह को वि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं ।
तो सो वि देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२४॥

एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सो वि देइ कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए ॥२२५॥
जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देइ राया विविहे भोगे सुहुप्पाए ॥२२६॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं।
तो सो ण कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२७॥

(चतुष्कम्)

अर्थ—इस लोकमें जिस प्रकार कोई पुरुष आजीविकाके निमित्त राजाकी सेवा करता है तो वह राजा भी उसके लिये सुख उपजानेवाले नानाप्रकारके भोग देता है। इसी प्रकार यह जीवनामा पुरुष सुखके निमित्त कर्मरूपी रजकी सेवा करता है तो वह कर्म भी उसके लिये सुख उपजानेवाले नानाप्रकारके भोग देता है। यदि वह पुरुष आजीविकाके निमित्त राजाकी सेवा नहीं करता है तो वह राजा उसके लिये सुख उपजानेवाले नानाप्रकारके भोग नहीं देता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव विषयोंके लिये कर्मरूपी रजकी सेवा नहीं करता है तो वह कार्य भी उसके लिये सुख उपजानेवाले नानाप्रकारके भोग अर्थात् विषय नहीं देता है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष फलके अर्थ राजाकी सेवा करता है तो वह राजा उसके लिये फल देता है। उसी प्रकार जीव फलके अर्थ कर्मकी सेवा करता है तो कर्म उसके लिये फल देता है और जिस प्रकार कोई पुरुष फलके अर्थ राजाकी सेवा नहीं करता है तो राजा उसके लिये फल नहीं देता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव फलके अर्थ कर्मकी सेवा नहीं करता है तो कर्म उसके लिये फल नहीं देता है।

ऊपर कलशामें जो कहा गया था कि कर्म किसीको जबर्दस्ती अपने फलसे युक्त नहीं करता, किन्तु जो फलकी इच्छा रखता हुआ कर्म करता है वही कर्मसे युक्त होता है वही अर्थ यहाँ दृष्टान्त द्वारा अन्वय-व्यतिरेकसे दृढ किया गया है। जिस प्रकार फलकी इच्छा रखकर सेवा करनेवाले पुरुषको राजा फल प्रदान करता है और फलकी इच्छा न रखकर सेवा करनेवालेको राजा फल प्रदान नहीं करता है। इसी प्रकार फलकी इच्छा रखकर कर्म करनेवाले मनुष्यको कर्म फल देता है और फलकी इच्छा न रखकर कर्म करनेवाले मनुष्यको कर्म कुछ भी फल नहीं देता। तात्पर्य यह है कि इच्छापूर्वक कर्म करनेवाले पुरुषके ही कर्म बन्ध होता है और इच्छाके बिना कर्म करनेवाले पुरुषको कर्म बन्ध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि मनुष्य अन्तरङ्गसे रागादिको चाहता नहीं है किन्तु चारित्रमोहके उदयकी बलवत्तासे आये हुए रागादिसे प्रेरित होकर भोगोपभोगमें प्रवृत्ति करता है इसलिये वह बन्धसे रहित कहा गया है ॥२२४-२२७॥

इसी भावको कलशामें प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।

तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति क ॥१५३॥

अर्थ—जिसने कर्मका फल त्याग दिया है वह कर्म करता है, इसकी हम प्रतीति नही करते है किन्तु इस ज्ञानीके भी किसी कारणसे कुछ कर्म इसके वश विना आ पडते हैं और उनके आ पडनेपर भी यह ज्ञानी निश्चय परमस्वभावमे स्थित रहता है। इस स्थितिमे ज्ञानी क्या करता है? और क्या नही करता है यह कौन जानता है?

भावार्थ—कर्मका बन्ध, कर्मफलके इच्छुक प्राणीके होता है। जिसने कर्मफलकी इच्छा छोड दी उसे कर्मका बन्ध नही होता। यहाँ सम्यग्दृष्टिजीवको ज्ञानी कहा गया है। यद्यपि ज्ञानीके ज्ञानचेतना है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नही है, फिर भी कालान्तरसे जो कर्म अर्जित किये हैं वे उदयमे आकर अपना रस देते हैं, उन्हे यह नही चाहता किन्तु चारित्रमोहके सद्भावमे पराधीनतासे भोगने पडते है। भोगनेपर भी अपने परमज्ञानस्वभावमे अकम्प स्थिर रहनेसे वे कर्म, ज्ञानीका कुछ बिगाड करनेमे समर्थ नही होते। अत. निष्कर्ष निकला कि ज्ञानी क्या करता है? और क्या नही करता है? इसको कौन जाने? वही जाने ॥१५३॥

आगे ज्ञानी जीव ही निर्भय होते हैं यह कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते पर
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्का विहाय स्वय
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुष बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥१५४॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव ही इस उत्कृष्ट साहसके करनेमे समर्थ होते है कि जिसके भयसे विचलित हो तीन लोकके जीव अपना-अपना मार्ग छोड देते है, ऐसे वज्रके पडने पर भी वे स्वभावसे निर्भय होनेके कारण सभी प्रकारकी शङ्काको छोडकर स्वय अपने आपको दूसरेके द्वारा बाधा न हो सके, ऐसे ज्ञानशरीरसे युक्त जानते हुए ज्ञानसे च्युत नही होते।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव नि शङ्कित गुणका धारक होता है, अत वह सदा सब प्रकारके भयोंसे निर्भय रहता है। जिस वज्रके पडनेपर तीन लोकके जीव भयसे विचलित हो अपना-अपना मार्ग छोड देते हैं, उस वज्रके पडने पर भी सम्यग्दृष्टि सदा यही विचार करता है कि मैं तो ज्ञानशरीर हूँ अर्थात् ज्ञान ही मेरा रूप है और ऐसा ज्ञान, जो कि कभी किसीके द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता, ऐसा विचारकर वह सदा अपने ज्ञानस्वरूपसे च्युत नही होता ॥१५४॥

आगे यही भाव गाथामे दिखाते है—

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्त-भय-विप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥२२८॥

विशेषार्थ—जिस कारण सम्यग्दृष्टि नियत ही समस्त कर्मोंके फलकी अभिलाषासे रहित होते हुए कर्मोंसे अत्यन्त निरपेक्ष वर्तते हैं। इसलिये ही जान पड़ता है कि ये अत्यन्त निःशङ्क तीव्र निश्चयरूप होते हुए अत्यन्त निर्भय रहते हैं ॥२२८॥

आगे सप्तभयके कलशरूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः ।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५५॥

अर्थ—परसे भिन्न आत्माका जो यह चैतन्यलोक है वह शाश्वत है, एक है, सब जीवोंके प्रकट है। यह एक सम्यग्ज्ञानी जीव ही स्वयं इस चैतन्यलोकका अवलोकन करता है। वह विचार करता है कि हे आत्मन्! यह एक चैतन्यलोक ही तेरा लोक है, इससे भिन्न दूसरा कोई लोक तेरा नहीं है, तब तुझे उसका भय कैसे हो सकता है। ऐसा विचारकर ज्ञानी जीव निरन्तर निःशङ्करूपसे स्वाभाविक ज्ञानको स्वयं ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—इस काव्यमें ज्ञानीके इस लोक तथा परलोक दोनोंका भय नहीं होता है यह कहा गया है। इस लोक अर्थात् वर्तमान पर्यायमें मुझे कष्ट न उठाना पड़े, ऐसा भय होना इस लोकका भय है और परलोक अर्थात् आगामी पर्यायमें मुझे कष्ट न भोगना पड़े ऐसा भय होना परलोकका भय है। सो ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि मैं समस्त कर्म नोकर्म आदिसे भिन्न पृथग्द्रव्य हूँ, चैतन्य ही मेरा स्वरूप है, यह चैतन्य ही मेरा लोक है, मेरा यह चैतन्यलोक शाश्वत है—कभी नष्ट होने वाला नहीं है, इसलिये मुझे न इस लोकका भय है और न परलोकका भय है। शरीर अवश्य नाशको प्राप्त होता है, पर वह मेरा कब है? मैं चैतन्यका पुञ्ज हूँ और यह शरीर जड़ अर्थात् ज्ञानदर्शनसे शून्य पुद्गलद्रव्य है, इसके नाशसे मेरा कुछ नष्ट होने वाला नहीं है। इसलिये ज्ञानी जीव सदा निःशङ्क होकर स्वाभाविक ज्ञान स्वरूपको ही प्राप्त होता है—उसी प्रकार अनुभव करता है।

संसारमें ये प्राणी निरन्तर भयभीत रहते हैं। न जाने ये लोक मेरी कैसी दुर्दशा करेंगे अतः निरन्तर इनके अनुकूल रहनेकी प्रवृत्ति करता है। न जाने यह राजलोक मेरे ऊपर कौन सी आपत्ति ला पटकेंगे अतः निरन्तर उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टामें मग्न रहता है। न जाने परलोकमें कहाँ जाऊँगा, भद्रजन्म हो तो अच्छा इसके अर्थ निरन्तर नानाप्रकारके दानादि कर परलोकमें निःशङ्क होनेकी चेष्टा करता है। परन्तु सम्यग्ज्ञानी विचार करता है कि मेरा तो चेतना ही लोक है, उसीका आत्माके साथ नित्य तादात्म्य है जो किसी काल और किसी शक्तिके द्वारा पृथक् नहीं किया जा सकता है। अतः चाहे मैं यहाँ रहूँ चाहे परलोकमें जाऊँ मेरा गुण मुझसे भिन्न नहीं हो सकता। अतः सम्यग्ज्ञानी जीवके इस लोक और परलोकका भय नहीं है। तत्त्वदृष्टिसे विचारो तो ज्ञानगुणकी जो जानन क्रिया है वह कभी भी उसे छोड़कर भिन्न नहीं हो सकती और परपदार्थका उसमें प्रवेश नहीं हो सकता। मात्र ज्ञानकी स्वच्छता ही एक ऐसी

अनुपम है कि उसमे ज्ञेय प्रतिभासमान होते है। अथवा ज्ञेय क्या प्रतिभासमान होते हैं? वह तो ज्ञानका ही परिणाम है परन्तु हम व्यवहारसे ऐसा मानते है कि हमने परपदार्थको जाना। जब ऐसी ज्ञानकी सामर्थ्य है कि उसमे परपदार्थका प्रवेश नही तब न कोई पदार्थ सुखका कर्ता है और न कोई पदार्थ दु खका कर्ता है ॥१५५॥

शार्दूलविक्रीडितछंद

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञान स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्क सतत स्वयं स सहज ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५६॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानी जीवोंके यही एक वेदना है कि वे सदा निराकुल रहकर अभेदरूपसे उदित वेद्यवेदकभावके बलसे अविचल—कभी नष्ट नही होने वाले ज्ञान का स्वय वेदन करते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं। ज्ञानीके अन्य पदार्थकी वेदना नही है तब उसे वेदनाका भय कैसे हो सकता है? वह तो सदा नि शङ्क होता हुआ स्वाभाविक ज्ञानको ही प्राप्त होता है, उसका अनुभव करता है।

भावार्थ—इस काव्यमे वेदनाभयका वर्णन है। सुख-दु खका अनुभव करना सो वेदना है। परन्तु सम्यग्ज्ञानी जीवको ऐसा सुख-दु खका अनुभव नही होता। यह सुख-दु खका विकल्प स्वाभाविक न होकर मोहकर्मके उदयसे जायमान अशुद्ध अनुभूति है। ज्ञानी जीव विचार करता है कि मोहकर्मके विपाकसे जायमान सुख-दु ख मेरे स्वभाव नही है, इसलिये मुझे तद्विषयक आकुलतासे क्या प्रयोजन? अत वह सदा निराकुल रहकर एक ज्ञानस्वभावका ही वेदन करता है और यह भी अभेद वेद्यवेदकभावकी सामर्थ्यसे अर्थात् वेदन करने वाला भी आत्मा है और जिसका वेदन करता है वह वेद्य भी आत्मा ही है। ज्ञानानुभूतिके सिवाय कर्मोदयसे आगत अन्य अनुभूति मेरा स्वभाव नही है, तब मुझे उस विषयका भय भी कैसे हो सकता है? कर्मके उदयसे जो सुख-दु खकी अनुभूति होती है उसे मैं अपना स्वभाव नही मानता, तब मुझे उन कल्पित अनुभूतियोंसे होने वाले सुख-दु खकी चिन्ता ही क्या है। एक ज्ञान ही मेरा स्वभाव है, इसलिये उसीका वेदन मैं करता हूँ, ऐसा विचारकर सम्यग्ज्ञानी जीव सदा वेदनाभयसे रहित होता है ॥१५६॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियत व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रात किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्क सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥१५७॥

अर्थ—जो सत् स्वरूप है वह नाशको प्राप्त नही होता, इस नियमसे वस्तुकी मर्यादा प्रकट है। ज्ञान सत्स्वरूप है इसलिये वह स्वय ही रक्षित है। इसकी रक्षा दूसरे पदार्थोंसे क्या हो सकती है? इसकी रक्षा किसीसे नही हो सकती। इसलिये ज्ञानी पुरुषोंको भय कैसे हो सकता

है ? वह तो निरन्तर निःशङ्क रहता हुआ स्वयं सहज—स्वाभाविक ज्ञानको ही सदा प्राप्त होता है—उसीका अनुभव करता है।

भावार्थ—जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता ऐसी निश्चयसे वस्तु मर्यादा है और ज्ञान जो है सो स्वयं ही सत्स्वरूप है। इसलिये इसकी रक्षाके अर्थ अन्यकी आवश्यकता नहीं है। इस ज्ञानकी अरक्षा करनेमें कोई भी वस्तु समर्थ नहीं है। अतएव ज्ञानी जीवको इसकी रक्षाके अर्थ किसीसे भी भय नहीं होता है। स्वयं जो अपना सहज ज्ञान है उसीका अनुभव करता है। ज्ञानीके ऐसा निश्चय है कि सत्पदार्थ स्वयं स्वरूपसे ही रक्षित है। कोई भी शक्ति इसका अभाव करनेमें समर्थ नहीं है। अतः इसी भावनासे ज्ञानीके किसीका भय नहीं रहता है। निरन्तर जो अपना स्वाभाविक ज्ञान है उसीका अनुभव करता है।

इस काव्यमें अरक्षाभयका वर्णन है। ज्ञानी जीव समझता है कि ज्ञान ही मेरा स्वरूप है उसका हरनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं है। शरीरादिक परपदार्थ हैं—पुद्गलद्रव्यकी परिणतियाँ हैं। उनके नाशसे मेरे ज्ञानस्वभावका नाश नहीं होता इसलिये मुझे अरक्षाका भय नहीं है ॥१५७॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५८॥

अर्थ—निश्चयसे वस्तुका जो स्वीयरूप है वही उसकी परमगुप्ति है क्योंकि स्वीयरूपमें कोई भी परपदार्थ प्रवेश करनेके लिये समर्थ नहीं है। आत्माका स्वरूप अकृत्रिम ज्ञान है इसलिये इसकी कोई भी अगुप्ति नहीं है। फिर ज्ञानी जीवको अगुप्तिका भय कैसे हो सकता है ? वह तो निरन्तर निःशङ्क रहता हुआ स्वयं सहज ज्ञानको ही सदा प्राप्त होता है—उसीका अनुभव करता है।

भावार्थ—वस्तुका जो स्वीय स्वरूप है वही परमगुप्ति है उसमें अन्यका प्रवेश नहीं हो सकता। पुरुषका स्वीयस्वरूप ज्ञान है। इसकी अगुप्ति किसीके द्वारा नहीं हो सकती इसीसे ज्ञानी जीवके किसीसे भी कुछ भी भीति नहीं रहती है। वह तो निःशङ्क होता हुआ निरन्तर अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभवन करता है। लोकमें मनुष्य अपनी रक्षाके अर्थ गढ़ कोट परिखा आदि बनाते हैं जिसमें शत्रुओंका प्रवेश न हो और अपने धनादिककी गुप्ति रहे परन्तु आत्माका जो धन है वह ज्ञान है उसमें अन्य पदार्थोंका प्रवेश नहीं है वह स्वयं गुप्ति स्वरूप ही है। इसीसे ज्ञानी जीव निरन्तर निर्भीक होते हुए स्वात्मस्वरूपमें मग्न रहते हैं। ऐसा नियम है कि—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं॥

अर्थात् जो वस्तु जिस गुण अथवा द्रव्यमें वर्तती है वह अन्य द्रव्यमें संक्रमण नहीं करती—अन्य द्रव्यरूप पलटकर नहीं वर्तती। जब वह अन्य द्रव्यरूप संक्रमण नहीं करती तब उसे अन्यरूप कैसे परिणमा सकती है।

जब यह नियम है तब ज्ञानी जीव परपदार्थसे अपना उपयोग हटाकर स्वकीय ज्ञान-स्वरूपकी ओर ही लगाता है। ज्ञानीका ज्ञानस्वरूप कभी नष्ट नही होता। इसलिये वह सदा अगुप्तिभयसे दूर रहता है। लोकमे धनादिका नाश होता है। पर ज्ञानी उन्हे अपना नही मानता ॥१५८॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरण प्राणा किलास्यात्मनो
ज्ञान तत्स्वममेव शाश्वततया नो छिद्यते जातुचित् ।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्क सततं स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥१५९॥

अर्थ—प्राणोंके उच्छेदको मरण कहते है, निश्चयसे इस आत्माके प्राण ज्ञान है, ज्ञान स्वयमेव शाश्वत है। इसलिये कभी नष्ट नही होता, इसलिये ज्ञानीका कुछ भी मरण नही होता, फिर उसे मरणका भय कैसे हो सकता है ? वह तो निरन्तर नि शङ्क रहता हुआ स्वय सहज ज्ञानको ही सदा प्राप्त होता है—उसीका अनुभव करता है।

भावार्थ—प्राणोंके उच्छेदको मरण कहते हैं। इस आत्माका प्राण ज्ञान है, यह ज्ञान नित्य है, उसका कभी भी नाश नही होता, इससे जब इसका मरण ही नही तब सम्यग्ज्ञानीको किसका भय ? वह तो निरन्तर स्वीय ज्ञानका ही अनुभव करता है। लोकमे इन्द्रियादिक प्राणोंके वियोगको मरण कहते हैं, इन्हीको द्रव्यप्राण कहते हैं। यह जो द्रव्यप्राण हैं वे पुद्गलके निमित्तसे जायमान होनेके कारण पौद्गलिक हैं। वास्तवमे आत्माके प्राण ज्ञानादिक है, उन ज्ञानादिक प्राणोंका कभी भी नाश नही होता। अतएव जो ज्ञानी जीव है, उन्हे मरणका भय नही होता। वे तो निरन्तर अपने ज्ञानका ही अनुभव करते है ॥१५९॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचल सिद्ध किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिद सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदय ।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्क सतत स्वयं स सहज ज्ञानं सदा विन्दति ॥१६०॥

अर्थ—आत्माका जो ज्ञान है वह एक है, अनादि, अनन्त और अचल है तथा स्वय सिद्ध है, यह सदा ही रहता है, इसमें अन्य उदय नही है। इसलिये इस ज्ञानमे कुछ भी आकस्मिक नही है, तब ज्ञानी जीवको उसका भय कैसे हो सकता है ? वह तो निरन्तर नि शङ्क रहता हुआ स्वय सहज ज्ञानको ही सदा प्राप्त होता है—उसीका सदा अनुभव करता है।

भावार्थ—जो [illegible] नही जाना, ऐसा कोई भयका कारण उपस्थित हो जावे, उसे आकस्मिक भय कहते है। सम्यग्ज्ञानी जीवका ऐसा निर्मल विचार है कि हमारा जो ज्ञानस्वभाव है वह अनादि अनन्त, अचल तथा स्वत सिद्ध है। इसमे अन्यका उदय नही हो सकता।

अतः भयके कारणोंका अभाव होनेसे वह निरन्तर निर्भीक रहता हुआ अपने आत्मस्वरूपमें लीन रहता है ॥१६०॥

मन्दाक्रान्ताछन्द

टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥१६१॥

अर्थ—टाँकीसे उकेरे हुएके समान ज्ञायक स्वभावसे युक्त ज्ञानरूपी सर्वस्वको प्राप्त जो सम्यग्दृष्टि जीव है उसके निःशङ्कितत्वादि लक्षण इस जगत्में समस्त कर्मोंको नष्ट करते हैं इसलिये इस ज्ञानरूप सर्वस्वके प्राप्त होनेपर सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मका थोड़ा भी बन्ध नहीं होता है। किन्तु पूर्वोपार्जित कर्मका अनुभव करते हुए उसके निश्चितरूपसे निर्जरा ही होती है।

भावार्थ—टङ्कोत्कीर्ण और स्वरससे भरे हुए ज्ञानरूप सर्वस्वका भोग करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीवके जो निःशङ्कता आदि गुण हैं वे सब कर्मोंका हनन करते हैं। इससे होनेपर उसके फिर नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं होता है। पूर्वोपार्जित कर्मोंके विपाकका अनुभव करनेवाला जो सम्यग्ज्ञानी जीव है उसके रागका अभाव होनेसे निर्जरा ही होती है, नवीन बन्ध नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वोपार्जित भय आदि प्रकृतियोंका उदय आनेपर भी सम्यग्ज्ञानकी सामर्थ्यसे ज्ञानी जीव स्वरूपसे विचलित नहीं होता। अतः वह निरन्तर निःशङ्क रहता है। उसकी पूर्वबद्ध प्रकृतियाँ उदय देकर निर्जराभावको प्राप्त हो जाती हैं ॥१६१॥

आगे सम्यग्दृष्टि जीवके निःशङ्क आदि गुणोंका वर्णन करते हैं। उनमें सर्वप्रथम निःशङ्क गुणका निरूपण करते हुए गाथा कहते हैं—

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२२९॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मबन्धके कारण मोहके उत्पादक मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप चारों पायोंको छेदता है वह निःशङ्कगुणका धारक सम्यग्दृष्टि जाननेके योग्य है।

विशेषार्थ—जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावसे तन्मय होनेके कारण कर्मबन्धकी शङ्का करनेवाले मिथ्यात्व आदि भावोंका अभाव हो जानेसे निःशङ्क है इसलिये इसके शङ्काके द्वारा बन्ध नहीं होता है प्रत्युत निर्जरा ही होती है। सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मका उदय आता है, परन्तु उसके आनेपर यह उसका स्वामी नहीं बनता। अतः वह कर्म अपना रस देकर खिर जाता है, आगामिक अभावसे बन्धका प्रयोजक नहीं होता है ॥२२९॥

आगे निष्कांक्षितगुणका निरूपण करते हुए गाथा कहते हैं—

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३०॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मोंके फलोमे तथा समस्त धर्मोंमे कांक्षा नही करता है, वह नि:काङ्क्ष गुणका धारक सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ—जो पञ्चेन्द्रियोके विषयसुख स्वरूप कर्मफलो तथा समस्त वस्तुधर्मके अभिलापाको नही करता है, ऐसा वह सम्यग्दृष्टि जीव ही नि:कांक्षित अङ्गका धारी होता है।

जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभाववाला है, इसी स्वभाव के बलसे उस सम्यग्दृष्टि जीवके सम्पूर्ण कर्मफलोमे और सम्पूर्ण वस्तुधर्मोंमे आकांक्षाका अभाव है। अतएव आकांक्षाकृत बन्ध उसके नही है, प्रत्युत निर्जरा ही होती है।

साताकर्मके उदयमे रतिके सम्बन्धसे हर्ष होता है, इसीसे यह प्राणी साताके उदयमे सुपुत्र, कलत्रादि अनुकूल सामाग्री के उदयमे रतिकर्मके सम्बन्धसे अपनेको सुखी मानता है और निरन्तर इस भावनाको भाता है कि सम्बन्ध इसी रूपसे सदैव बना रहे, विघट न जावे। और जब असाताका उदय आता है तब उसके साथ ही अरतिका उदय रहनेसे विषाद मानता है अर्थात् असाताके उदयमे अनिष्ट पुत्र, कलत्रादिक प्रतिकूल सामग्रीके सद्भावमे अरतिकर्मके उदयसे अपनेको दुखी मानता है और निरन्तर यही भावना रखता है कि कब इन अनिष्ट पदार्थोंका सम्बन्ध मिट जावे ? परन्तु जिस जीवके सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है वह इनके उदयमे हर्ष-विषाद नही करता, इन्हे कर्मकृत जान इनकी अभिलाषा नही करता, इसीसे उसके वाञ्छाकृत बन्ध भी नही होता ॥२३०॥

आगे निर्विचिकित्सागुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते है—

> जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
> सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३१॥

अर्थ—जो आत्मा सम्पूर्ण वस्तुधर्मोंमे ग्लानिको नही करता है, वह निश्चयकर विचिकित्सा—ग्लानिदोषसे रहित सम्यग्दृष्टि जाननेके योग्य है।

विशेषार्थ—जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीवके टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावसे तन्मयपना है इसीसे उसके सम्पूर्ण वस्तुधर्मोंमे जुगुप्सा (ग्लानि) का अभाव होनेसे निर्जुगुप्सा अङ्ग है। इसीसे इस जीवके ग्लानिसे किया हुआ बन्ध नही होता, किन्तु निर्जरा ही होती है।

जब जुगुप्साका उदय आता है तब मिथ्यादृष्टि जीव अपवित्र पदार्थोंको देखकर ग्लानि करता है और सम्यग्ज्ञानी जीव वस्तुस्वरूपका वेत्ता होनेके कारण समदर्शी होता हुआ ग्लानिसे [illegible] रहता है ॥२३१॥

आगे अमूढदृष्टिगुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते है—

> जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
> सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३२॥

अर्थ—जो [illegible] सम्पूर्ण पदार्थोंमे असमूढ रहता है अर्थात् मूढता नही करता है। [illegible] उन पदार्थोंको जानता है। वह निश्चयसे अमूढदृष्टि-[illegible] सम्यग्दृष्टि होता है।

विशेषार्थ—जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभावसे तन्मय होनेके कारण निखिल पदार्थोंमें मोहाभाव होनेसे अमूढदृष्टि रहता है अर्थात् यथार्थ दृष्टिका धारक होता है। इस कारण इस अमूढदृष्टिके द्वारा किया हुआ बन्ध नहीं है किन्तु निर्जरा ही है।

सम्यग्ज्ञानी जीव सम्पूर्ण पदार्थोंको यथार्थ जानता है। अतः उसका विपरीत अभिप्राय नष्ट हो जाता। विपरीत अभिप्रायके नष्ट हो जानेसे मिथ्यात्वके साथ होनेवाला रागद्वेष नहीं होता है। इसीलिये उसके अनन्त संसारका बन्ध नहीं होता है। चारित्रमोहके उदयसे बिना अभिप्रायके जो रागद्वेष होता है वह संसारकी अल्पस्थितिके लिये होता है तथा उत्तम गतिका ही कारण होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीवके तिर्यञ्च और नरक आयुका बन्ध नहीं होता है ॥२३२॥

आगे उपगूहनगुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं—

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३३॥

अर्थ—जो सिद्ध भक्तिसे युक्त है और सम्पूर्ण धर्मोंका गोपन करनेवाला है। वह जीव उपगूहनअङ्गका धारी सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावका सद्भाव है। इसीसे उसके सम्पूर्ण आत्म शक्तियोंका विकास हो गया है। यही कारण है कि इस सम्यग्दृष्टि जीवके शक्तिकी दुर्बलता प्रयुक्त बन्ध नहीं होता है किन्तु निर्जरा ही होती है।

यहाँ पर सिद्ध भगवान्में जब सम्यग्दृष्टि अपना उपयोगको लगाता है तब अन्य पदार्थोंमें उपयोगके न जानेसे स्वयमेव उसका उपयोग निर्मल हो जाता है इससे उसके विकास वृद्धि होती है और इसीसे इस गुणको उपबृंहण कहते हैं तथा उपगूहन नाम छिपानेका है सो जब अपना उपयोग सिद्ध भगवान्के गुणोंमें अनुरागी होता है तब अन्यत्रसे उसका उपगूहन स्वयमेव हो जाता है, इसीसे उसमें निर्मलता आती है। और उस निर्मलताके कारण ही शक्तिकी दुर्बलतासे होनेवाला बन्ध नहीं होता है ॥२३३॥

आगे स्थितीकरणगुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं—

उम्मग्गं गच्छंतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३४॥

अर्थ—जो जीव उन्मार्गमें चलते हुए आत्माको भी मार्गमें स्थापित करता है वह ज्ञानी स्थितीकरण अङ्गसे सहित सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ—क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावसे तन्मय होनेके कारण मार्गसे च्युत हुए अपने आपको मार्गमें ही स्थित करता है। इसलिये वह स्थितीकरण अङ्गका धारक होता है और इसीसे इसके मार्गच्यवनकृत बन्ध नहीं होता है अर्थात् न च्युत होता है और अतएव न बन्ध होता है किन्तु निर्जरा ही होता है।

यदि अपना आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्रात्मक मोक्षमार्गसे च्युत हो जावे तो उसे फिर उसीमे स्थिर करना, इसीका नाम स्थितीकरण अङ्ग है। सम्यग्दृष्टि जीव अङ्गका धारक होता है, इसीसे इसके मार्गसे छूटने रूप बन्ध नही होता, किन्तु उदयागत कर्मके स्वयमेव झड जानेसे निर्जरा ही होती है ॥२३४॥

आगे वात्सल्यगुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं—

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्हि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३५॥

अर्थ—जो निश्चयसे मोक्षमार्गके साधक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमे वात्सल्यभाव करता है अथवा व्यवहारसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके आधारभूत आचार्य, उपाध्याय और साधु महात्मामे वात्सल्यभावको करता है, वह वात्सल्य अङ्गका धारी सम्यग्दृष्टि जाननेके योग्य है।

विशेषार्थ—क्योकि सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावसे तन्मय रहता है। इसलिये वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको अपने आपसे अभिन्न देखता है। इसीसे मार्गवत्सल कहलाता है और इसीसे इसके मार्गके अनुपलम्भ प्रयुक्त बन्ध नही होता है, किन्तु निर्जरा ही होती है।

वात्सल्य नाम प्रेमभावका है। सो जिनके मोक्षमार्गका मुख्य साधनीभूत सम्यग्दर्शन हो गया उसके मार्गमे स्वभावसे ही प्रेम है। अत. मार्गके अभावमे जो बन्ध होता है वह इसके नही होता ॥२३५॥

आगे प्रभावनागुणका वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं—

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३६॥

अर्थ—जो आत्मा विद्यारूपी रथपर चढकर मनरूपी रथके मार्गमे भ्रमण करता है, वह जिन भगवान्‌के ज्ञानकी प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ—क्योंकि सम्यग्दृष्टिजीव, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावसे तन्मय है, इसीसे ज्ञानकी समस्त शक्तिके विकासद्वारा ज्ञानकी प्रभावनाका जनक है अतएव उसे प्रभावना अङ्गका धारी कहा है और इसीसे ज्ञानके अपकर्षसे हुआ बन्ध नही होता, किन्तु निर्जरा ही होती है।

व्यवहारसे प्रभावना जिनबिम्बपञ्चकल्याणक आदि सत्कार्योंमे होती है और निश्चय-प्रभावना रत्नत्रयके द्वारा निजमे आत्माकी जो वास्तविक दशाकी प्राप्ति है वही है ॥२३६॥

आगे इन आठ गुणोंके उपसंहारस्वरूप कलशा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन ।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ॥१६२॥

अर्थ—इस प्रकार जो अपने आठ अङ्गोंसे सहित होता हुआ नवीन बन्धको रोक रहा है और निर्जराकी वृद्धिसे जो पूर्वबद्ध कर्मोंके क्षयको प्राप्त करा रहा है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं स्वाभाविकरूपसे आदि मध्य और अन्तसे रहित ज्ञानरूप होकर आकाशके विस्ताररूप रङ्गस्थलमें प्रवेशकर नृत्य कर रहा है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव निःशङ्कितत्व आदि आठ अङ्गोंके द्वारा आत्मामें विशेष निर्मलताको प्राप्त होता है। उस निर्मलताके कारण उसके नवीन बन्ध रुक जाता है और गुणश्रेणी निर्जराकी प्राप्तिसे पूर्वबद्ध कर्मोंका क्षय करता जाता है। इस तरह संवर और निर्जराके प्रभावसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षयकर वह स्वयं ही उस स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप हो जाता है जो आदि मध्य और अन्तसे रहित है। आदि मध्य और अन्तसे रहित ज्ञान केवलज्ञान है। यही ज्ञान आत्माका स्वाभाविक ज्ञान है। ज्ञानी जीव इसी केवलज्ञानस्वरूप होकर लोकाकाश और अलोकाकाशके भेदसे द्विविधरूपताको प्राप्त अनन्त आकाशरूपी रङ्गभूमिमें प्रवेशकर अर्थात् लोकालोकगत ज्ञेयोंको अपना विषय बनाकर परमानन्दमें निमग्न रहता है।

यहाँ सम्यग्दृष्टि जीवके जो नवीन कर्मोंके बन्धका अभाव बतलाया है, वह उपशान्तमोह, क्षीणमोह आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंकी अपेक्षा है। चतुर्थादि गुणस्थानमें जो बन्ध होता है वह मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धीका अभाव हो जानेसे अनन्त संसारका कारण नहीं इसलिये उसकी विवक्षा नहीं की गई है। इस संसारमें भ्रमणका मूल कारण मोहनीय कर्म है, उसके दो भेद हैं—एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। इसी मोहके सद्भावको पाकर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय, ये भी आत्माके ज्ञान दर्शन और वीर्यको घातते हैं। यद्यपि ज्ञानावरणकर्मके उदयमें आत्माके ज्ञानका उदय नहीं होता अज्ञानभाव रहता है तथापि उससे आत्माकी कुछ भी मर्मभेदकारी हानि नहीं होती। किन्तु ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे आत्माके ज्ञानगुणका जो विकास हुआ है वह यदि दर्शनमोहके उदयसे जन्य मिथ्यात्वका सहकार पा जावे तब एकादशाङ्गका पाठी होकर भी मोक्षमार्गसे च्युत रहता है। यद्यपि वह तत्त्वार्थका यथार्थ निरूपण करता है मन्दकषायके उदयसे प्रबलसे प्रबल उपसर्ग करनेवालोंसे द्वेष नहीं करता है ज्ञानावरणादिकर्मोंके क्षयोपशमसे जो ज्ञानादिक प्राप्त हुआ है उसका कुछ भी मद नहीं करता है अन्तरायके क्षयोपशमसे जो शक्तिका उदय हुआ है उसका भी कोई अभिमान नहीं करता साता आदि पुण्यप्रकृतियोंके उदयसे जो सुभगादि रूप आदि सामग्रीका लाभ हुआ है उसमें कोई अहंकार नहीं करता तथा बड़े-बड़े राजा आदि गुणोंके द्वारा आपपर मुग्ध हैं उसका भी कोई मद नहीं करता तथापि दर्शनमोहका उदय उसके अभिप्रायको ऐसा मलीमस करता रहता है कि मोक्षमार्गमें उसका प्रवेश नहीं हो पाता। अतएव मोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिये दर्शनमोहके उदयसे जन्य अभिप्रायकी मलिनताका त्याग करना सर्वप्रथम कर्तव्य है ॥१६२॥

इस तरह निर्जरा रङ्गभूमिसे बाहर निकल गई।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित समयप्राभृतमें निर्जराका वर्णन करनेवाले
छठवें अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ ॥६॥

•

७. वन्धाधिकारः

अब वन्ध प्रवेश करता है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

'रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभारनिर्भरमहानाट्येन वन्धं धुनत् ।
आनन्दामृतनित्यभोजिसहजावस्था स्फुटं नाटयद्
धीरोदारमनाकुलं निरुपधिज्ञान समुन्मज्जति ॥१६३॥

अर्थ—रागद्वेषादिके उद्गार (तीव्रोदय) रूप महारसके द्वारा समस्त जगत्को प्रमत्तकर रसके समूहसे परिपूर्ण महानाट्यके द्वारा क्रीड़ा करते हुए वन्धतत्त्वको जो दूर कर रहा है, आनन्दरूपी अमृतका जो निरन्तर उपभोग करता है, आत्माकी सहज—स्वाभाविक अवस्थाको जो स्पष्टरूपसे प्रकट कर रहा है, धीर है, उदार है, आकुलता रहित है, तथा उपाधि रहित है ऐसा ज्ञान प्रकट होता है।

भावार्थ—संसारका कारण वन्ध है और वन्धका कारण रागादिककी तीव्रता है, इस रागादिककी तीव्रतारूपी मदिराके नशासे समस्त संसार मतवाला हो रहा है, संसारमे वन्ध ही सब अपना रसपूर्ण महानाट्य दिखला रहा है। इस वन्धसे मुक्ति दिलानेवाला आत्माका सहज ज्ञान है, उस सहज ज्ञानके प्रकट होने पर आत्माकी सहज—स्वाभाविक दशा अनुभवमे आने लगती है तथा दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले जो विकारी भाव हैं उनसे निवृत्ति होने लगती है। अब वह ज्ञान निरन्तर आनन्दरूपी अमृतका उपभोग करानेमे तत्पर होता है। दर्शनमोहजन्य विकारभावोंके निकल जानेसे वह ज्ञान धीर, उदार तथा अनाकुल होता है, तथा सब प्रकारकी उपाधियोंसे रहित होता है। जिस प्रकार वायुका प्रवल वेग धूलिके समूहको दूर उडा देता है उसी प्रकार यह सहजज्ञान वन्धको दूर उडा देता है। जहाँ वन्ध दूर हुआ वहाँ मोक्ष अनायास ही प्राप्त हो जाता है। इस सहजज्ञानको प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करना चाहिये ॥१६३॥

आगे राग बन्धका कारण है, यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हुए गाथा कहते हैं—

जह णाम को वि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥२३७॥

छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२३८॥

उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किंपच्चयगो दु रयबंधो ॥२३९॥
जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४०॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु।
रागाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण ॥२४१॥

अर्थ—नाम शब्द सम्भावनामें अव्यय है। जिस प्रकार कोई पुरुष अपने शरीरमें तेलका मर्दन कर रेणुबहुल भूमिमें स्थित होकर शस्त्रोंके द्वारा व्यायाम करता है तथा ताड़वृक्ष, कदलीवृक्ष और बाँसके पिण्डको छेदता है, भेदता है और सचित्त अचित्त द्रव्योंका उपघात करता है। नानाप्रकारके शस्त्रोंके द्वारा उपघात करनेवाले उस पुरुषके जो धूलिका बन्ध हो रहा है वह किस कारणसे हो रहा है? यह निश्चयसे विचार करने योग्य है। इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि उस पुरुषमें जो तेलका सम्बन्ध है उसीसे उसके धूलिका बन्ध हो रहा है यह निश्चयसे जानने योग्य है। उस पुरुषकी काय आदिकी चेष्टाओं व शस्त्रोंकी क्रिया आदिसे धूलिका बन्ध नहीं हो रहा है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि बहुत प्रकारकी चेष्टाओंमें प्रवृत्त होता हुआ भी बन्धको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उपयोगमें रागादिक करता हुआ कर्मरूपी रजसे लिप्त होता है—बन्धको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—इस लोकमें जब कोई पुरुष स्नेहका मर्दनकर स्वभावसे ही जिस प्रदेशमें धूलिकी प्रचुरता है वहाँ पर शस्त्रोंके द्वारा व्यायाम करता है और अनेक प्रकारके करणों (शस्त्रादि) द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात करता हुआ धूलिसे बन्धभावको प्राप्त होता है। अब यहाँ पर बन्धका क्या कारण है, यह विचारणीय है। स्वभावसे धूलिकी प्रचुरता जिसमें है ऐसी भूमि बन्धका कारण नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे जिनके शरीरमें स्नेहका अभ्यङ्ग नहीं है उनके भी धूलिबन्धका प्रसङ्ग हो जावेगा। शस्त्रादिके द्वारा जो व्यायामकर्म है वह भी बन्धका कारण नहीं है क्योंकि जिनके शरीरमें स्नेहका अभ्यङ्ग नहीं है उन पुरुषोंके भी शस्त्रव्यायामकर्मसे बन्धकी प्रसक्ति आवेगी। अनेक प्रकारके जो करण हैं वे भी बन्धके कारण नहीं हैं क्योंकि जिनके शरीरमें स्नेहका अभ्यङ्ग नहीं है उन पुरुषोंके भी उन करणोंके द्वारा बन्ध होने लगेगा। और सचित्त-अचित्त वस्तुओंका जो उपघात है वह भी बन्धका कारण नहीं है क्योंकि जिनके शरीरमें स्नेहका अभ्यङ्ग नहीं है उनके सचित्ताचित्त पदार्थोंके घात होनेपर बन्ध होने लगेगा। इसलिये न्यायके बलसे यह आया कि उस पुरुषके शरीरमें जो स्नेहका अभ्यङ्ग है वही बन्धका कारण है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि अपने आत्मामें रागादिकको करता हुआ स्वभावसे ही कर्मयोग्य पुद्गलोंके द्वारा भरे हुए लोकमें काय वचन और मनकी क्रियाको करता है और अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा वस्तुओंका घात करता हुआ कर्मरूपी धूलिसे बन्धभावको प्राप्त होता है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि उस मिथ्यादृष्टिके बन्धका क्या कारण है? स्वभावसे ही कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा हुआ जो यह लोक है, यह तो बन्धका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उस लोकमें स्थित जो सिद्ध

भावार्थ—बन्धका मूल कारण कषाय है, कार्मणवर्गणासे भरा हुआ लोक बन्धका कारण नहीं है, मन-वचन-कायके व्यापार बन्धके जनक नहीं हैं, करण भी बन्धके कारण नहीं हैं और चित्-अचित् पदार्थोंका घात भी बन्धका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव एक ज्ञानरूप ही परिणमन करता है, उसे रागादिकसे मलिन नहीं होने देता। इसलिये उसके बन्ध नहीं होता। सम्यग्दर्शनकी ऐसी ही अद्भुत महिमा है ॥१६५॥

पृथ्वीच्छन्द

तथापि न निरर्गल चरितुमिष्यते ज्ञानिना
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृति ।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिना
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥१६६॥

अर्थ—यद्यपि कार्मणवर्गणासे भरा हुआ लोक आदिक बन्धका कारण नहीं है, यह कहा गया है तो भी ज्ञानीजनो को स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना इष्ट नहीं है क्योंकि वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति तो बन्धका स्थान ही है। ज्ञानीजनो का अनिच्छापूर्वक किया हुआ जो कर्म है वह बन्धका अकारण माना गया है अर्थात् उससे बन्ध नहीं होता। जीव करता है और जानता है ये दोनो निश्चयसे क्या विरुद्ध नहीं हैं ? अर्थात् अवश्य ही विरुद्ध हैं।

भावार्थ—कोई यह समझे कि ज्ञानीजनोंको बन्ध नहीं होता, इसलिये स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेमें हानि नहीं है ? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि रे भाई। स्वच्छन्द प्रवृत्ति तो बन्धका ही स्थान है। ज्ञानीजनोंके अनिच्छापूर्वक जो कार्य होता है वह बन्धका कारण नहीं है। परन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति तो अनिच्छापूर्वक नहीं है, वह तो स्पष्ट ही इच्छापूर्वक है। और जहाँ इच्छा है वहाँ रागादिकका सद्भाव अवश्यभावी है। इसलिये स्वच्छन्द प्रवृत्तिको कभी अङ्गीकृत नहीं करना चाहिये। जहाँ मात्र जानना ही रहता है, कर्तृत्व समाप्त हो जाता है वहाँ बन्ध नहीं होता। परन्तु जहाँ इच्छापूर्वक कर्तृत्व विद्यमान है वहाँ मात्र जानना नहीं रहता और इसलिये वहाँ बन्धका अभाव नहीं होता ॥१६६॥

आगे कर्तृत्व और ज्ञातृत्वका परस्पर विरोध दिखाते है—

वसन्ततिलकाछन्द

जानाति य स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्म, राग ।
राग त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
मिथ्यादृश स नियतं स हि बन्धहेतु ॥१६७॥

अर्थ—जो जानता है वह करता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है। करनेरूप जो कर्म है वह निश्चयसे राग है और रागको अज्ञानमय अध्यवसाय कहते हैं, मिथ्यादृष्टि जीवके यह अध्यवसाय नियमसे रहता है और वही उसके बन्धका कारण है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थोंको मात्र जानता है। उनमें मात्र राग-द्वेष नहीं करता है किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव पदार्थोंको जानता हुआ साथमें राग-द्वेष भी करता है। मिथ्यादृष्टि जीवका

यह राग-द्वेष परमार्थसे अज्ञानमय रहता है। इसे ही आचार्योंने अध्यवसाय कहा है। यह अध्यवसाय ही मिथ्यादृष्टिके बन्धका कारण माना गया है। सम्यग्दृष्टि जीवके ऐसा अध्यवसाय नहीं रहता, इसलिये उसके बन्ध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थको मात्र जानता है अपने आपको उसका कर्ता नहीं मानता और मिथ्यादृष्टि जीव पदार्थको जानता हुआ उसका अपने आपको कर्ता मानता है इसलिये वह मात्र ज्ञाता नहीं होता। जहाँ मात्र ज्ञातृत्व है वहाँ बन्ध नहीं होता और जहाँ कर्तृत्व भी साथमें लगा रहता है वहाँ बन्ध अवश्य होता है ॥१६७॥

अब मिथ्यादृष्टिका अभिप्राय गाथामें कहते हैं—

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

अर्थ—जो जीव ऐसा मानता है कि मैं परजीवोंको मारता हूँ और परजीवोंके द्वारा मैं मारा जाता हूँ ऐसा माननेवाला जीव मूढ है तथा अज्ञानी है। परन्तु ज्ञानी जीव इससे विरुद्ध है *अर्थात् न तो मैं ही किसीका घात करनेवाला हूँ और न परके द्वारा मेरा ही घात होता है* ऐसा वह मानता है।

विशेषार्थ—मैं परजीवोंको मारता हूँ और परजीवोंके द्वारा मैं मारा जाता हूँ ऐसा जो अध्यवसाय भाव है वह निश्चयसे अज्ञान है। ऐसा अज्ञानभाव जिसके है वह अज्ञानी होनेसे मिथ्यादृष्टि है।

जिनके आशयमें ऐसा निश्चय हो गया है कि मैं परजीवोंका घात करनेवाला हूँ और परजीव मेरा घात करनेवाले हैं यही उनका अज्ञानभाव है क्योंकि इसके अभ्यन्तरमें कर्तृत्व भावका सद्भाव होनेसे ज्ञानभावकी विकृतावस्था रहती है। इसीसे आचार्योंने इसे बन्धका पात्र बताया है ॥२४७॥

अब यह अध्यवसाय अज्ञान क्यों है इसका उत्तर कहते हैं—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥२४८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥२४९॥

(युग्मम्)

अर्थ—जीवोंका मरण आयु कर्मके क्षयसे होता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा गया है। *जब तुम परकी आयुका हरण करनेमें समर्थ नहीं हो, तब तुमने उन जीवोंका मरण कैसे* किया? आयु कर्मका क्षय होनेसे जीवोंका मरण होता है ऐसा जिनवरदेवोंके द्वारा कहा गया है। तुम्हारी आयुका जब अन्य हरण करनेमें समर्थ नहीं तब अन्यके द्वारा तुम्हारा मरण किस प्रकार किया गया?

विशेषार्थ—जीवोंका जो मरण है वह स्वकीय आयुकर्मके क्षयसे होता है क्योंकि उसके

अभावमें मरणका होना असम्भव है। और अन्यका अपना आयु कर्म अन्यके द्वारा हरण नही किया जा सकता, क्योंकि स्वकीय उपभोगसे ही उसका क्षय होता है। इससे यह निश्चय हुआ कि पुरुष अन्य पुरुषका मरण किसी भी तरह नही कर सकता। जब यह बात है तब मैं परकी हिंसा करता हूँ और परके द्वारा मेरी हिंसा की जाती है, ऐसा अध्यवसाय निश्चय अज्ञान है ॥२४८–२४९॥

फिर पूछते हैं कि मरणके अध्यवसायको अज्ञान कहा, यह तो जान लिया, अब मरणका प्रतिपक्षी जो जीवनका अध्यवसाय हैं उसकी क्या कथा है, इसका उत्तर देते हैं—

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

अर्थ – जो आत्मा ऐसा मानता है कि परजीवोको मै जीवित करता हूँ तथा परजीवोंके द्वारा मैं जीवित किया जाता हूँ वह मूढ है, अज्ञानी है और ज्ञानी इससे विपरीत है।

विशेषार्थ—परजीवोंको जिवाता हूँ और परजीवोंके द्वारा मैं जिवाया जाता हूँ ऐसा जो अध्यवसाय है वह निश्चयसे अज्ञानभाव है। ऐसा अज्ञानभाव जिस जीवके है वह अज्ञानी होनेसे मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह अज्ञानभाव नही है वह ज्ञानी होनेसे सम्यग्दृष्टि है।

बहुतसे जीव अहंबुद्धिके वशीभूत होकर ऐसा मानते है कि हम परप्राणियोकी जीवनक्रियाके कर्ता हैं। यदि हम उन्हे आश्रय न देते तो उनका जीवन रहना कठिन था। ऐसे ही मोहके आवेगमें आकर यह मानने लगते हैं कि परकी सहायतासे हम जीवन-रक्षा कर रहे हैं। यदि अमुक व्यक्ति हमारी रक्षा न करते तो हमारा जीना ही कठिन था। यह सब मानना मिथ्याध्यवसाय है। परन्तु ज्ञानी जीवका विचार इससे विपरीत रहता है। वह ऐसा विचार करता है कि प्राणियोंका जीवन उनके आयु कर्मके आधीन है। परके जीवनमे हम, और हमारे जीवनमे पर, केवल निमित्तकारण हैं, सो भी बाह्य उपकारकी अपेक्षासे हैं। जैसे 'अन्नं वै प्राणा', 'घृतं वै आयु', 'अयं मे गुरुर्दीपक' 'सिंहो माणवक' आदि उपचारसे व्यवहार होता है वैसे ही यहाँ समझना चाहिये। यहाँ निमित्तकारणको गौणकर जीवन-मरणका मूल कारण जो आयु कर्मका सद्भाव और असद्भाव है उसकी प्रधानतासे कथन किया गया है। अज्ञानी जीव मूलकारणकी ओर लक्ष्य न देकर केवल निमित्तकारणकी ओर दृष्टि देते हुए जो कर्तृत्वका अध्यवसाय करते हैं उसका निषेध करना लक्ष्य है ॥२५०॥

अब यह अध्यवसायभाव अज्ञान क्यों है? इसीका समाधान करते हैं—

आउदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं ॥२५१॥
आउदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥२५२॥

(युग्मम्)

अर्थ—आयु कर्मके उदयसे जीव जीता है ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं और तुम परको आयुको देते नहीं फिर कैसे तुम्हारे द्वारा उन जीवों—पुरुषोंका जीवन किया गया ?

आयु कर्मके उदयसे जीवका जीना है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं और परजीव तुम्हारी आयु देते नहीं, तब उनके द्वारा तुम्हारा जीवन कैसे किया गया ?

विशेषार्थ—जीवोंका जीवन अपने आयु कर्मके उदयसे ही होता है क्योंकि उसके अभावमें जीवनका होना असम्भव है और अन्यका आयु कर्म अन्यके द्वारा नहीं दिया जा सकता क्योंकि उसका बन्ध अपने ही परिणामोंसे किया जाता है। इसीसे किसी भी प्रकारसे अन्य पुरुषके द्वारा अन्य पुरुषका जीवन नहीं हो सकता। अतएव जो यह अध्यवसाय है कि मैं किसीको जिवाता हूं और किसीके द्वारा मैं जिवाया जाता हूँ, यह निश्चित ही अज्ञान है ॥२५१-२५२॥

आगे दुःख और सुख करनेके अध्यवसायकी भी यही गति है, यह कहते हैं—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५३॥

अर्थ—जो आत्मा ऐसा मानता है कि मैं अपने आपके द्वारा इन जीवोंको दुःखी और सुखी करता हूँ वह मूढ है अज्ञानी है और ज्ञानी इससे विपरीत है।

विशेषार्थ—परजीवोंको मैं दुःखी करता हूं तथा सुखी करता हूँ और परजीवोंके द्वारा मैं दुःखी तथा सुखी किया जाता हूँ ऐसा जो अध्यवसायभाव है वह निश्चयसे अज्ञान है। यह अज्ञान भाव जिसके है वह अज्ञानी होनेसे मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह अज्ञानभाव नहीं है वह ज्ञानी होनेसे सम्यग्दृष्टि है ॥२५३॥

आगे यह अध्यवसायभाव अज्ञान क्यों है ? इसका समाधान करते हैं—

कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते ॥२५४॥
कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कह दुक्खिदो तेहिं ॥२५५॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं ॥२५६॥
(त्रिकलम्)

अर्थ—सभी जीव अपने-अपने कर्मके उदयसे दुःखी और सुखी होते हैं। तुम उनको कर्म देते नहीं, तब तुम्हारे द्वारा वे दुःखी और सुखी कैसे किये गये ? सम्पूर्ण जीव स्वकीय-स्वकीय कर्मोंके द्वारा दुःखी और सुखी होते हैं अन्य जीव तुम्हें कर्म देते नहीं तब उनके द्वारा तुम दुःखी कैसे किये गये ?

सकल जीव निज निज कर्मोंके उदयसे दुःखी और सुखी होते हैं। अन्य जीव तुम्हें कर्म देते नहीं फिर उनके द्वारा तुम सुखी कैसे किये गये ?

विशेषार्थ—सुख और दु:ख जीवोको अपने कर्मोके विपाकसे ही होते हैं। यदि साता-असाताका उदय और सहकारी कारण रति और अरतिरूप मोहकर्मका उदय न हो, तो सुख और दु:खकी उत्पत्ति नही बन सकती और जिस जीवका सुख-दु:ख देनेवाला जो साता और असाता कर्म है उसे अन्य जीव देनेके लिये असमर्थ है क्योकि वह कर्म अपने ही परिणामोसे उपार्जित होता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि किसी प्रकारसे भी अन्य जीवको अन्य जीव सुख-दु:ख नही दे सकता। अतएव जो ऐसा मानते हैं कि मैं अन्य जीवोको सुखी और दु:खी करता हूँ तथा अन्य जीव मुझे सुखी और दु:खी करते है उनका यह अध्यवसायभाव है जो निश्चयसे अज्ञान है ॥२५४-२५६॥

आगे यही भाव कलशामे दिखाते है—

वसन्ततिलकाछन्द

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदु:खसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर: परस्य
कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदु:खसौख्यम् ॥१६८॥

अर्थ—सभी कालमे प्राणियोके मरण-जीवन-दु:ख-सुख आदि जो कुछ विभावपरिणमन है वह सम्पूर्ण स्वोपार्जित कर्मके उदयसे होता है और जो ऐसा मानता है कि परपुरुष परके मरण, जीवन, दु:ख और सुखको करता है, इस लोकमे यह उसका अज्ञान है।

भावार्थ—संसारमे प्रत्येक प्राणीको जो जीवन, मरण, सुख अथवा दु:ख प्राप्त होता है वह उसके कर्मोदयके अनुसार ही प्राप्त होता है। इसमे अन्तरङ्ग कारण सबका अपना-अपना कर्मोदय है। अन्य पुरुष निमित्तकारण है। उसे यहाँ गौणकर कथन किया गया है ॥१६८॥

वसन्ततिलकाछन्द

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यन्ति ये मरणजीवितदु:खसौख्यम् ।
कर्माण्यहङ्कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥१६९॥

अर्थ—इस अज्ञानभावको प्राप्त होकर जो प्राणी परसे परका मरण, जीवन, दु:ख और सुखका अवलोकन करते है वे अहङ्कारसे मदोन्मत्त होकर कर्म करनेके इच्छुक होते हुए नियमसे मिथ्यादृष्टि आत्मघाती हैं।

भावार्थ—परसे परको सुख-दु:ख करता है, यह अज्ञान है। इस अज्ञानके वशीभूत होकर जो परका घात आदि करने लग जाते हैं वे मिथ्यादृष्टि आत्माके शुद्ध स्वभावके घातक होनेसे आत्मघाती हैं ॥१६९॥

अब यही भाव गाथा द्वारा प्रकट करते हैं—

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥

जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु ।
तम्हा ण मारिदो ण दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥
(जगत्)

अर्थ—जो मरता है और जो दुखी होता है वह सब अपने कर्मके उदयसे होता है इस लिये मैंने इसे मारा अथवा दुखी किया, ऐसा अभिप्राय क्या मिथ्या नही है ? जो नही मरता है तथा दुखी नही होता है वह भी निश्चयकर अपने कर्मोदयसे ही । इससे तुम्हारा जो अभिप्राय है कि हमने नही मारा तथा हमने दुखी नहीं किया वह क्या मिथ्या नही है ?

विशेषार्थ—निश्चयसे जो मरता है, दुखी होता है अथवा सुखी होता है वह अपने कर्मोदयसे ही इन सब अवस्थाओंको प्राप्त होता है। यदि वैसा कर्मका उदय न हो तो ये सब अवस्थाए नही हो सकता हैं। इनसे यह मेरे द्वारा मारा गया अथवा यह हमारे द्वारा जीवित किया अथवा दुखी किया गया या सुखी किया गया ऐसा जिसका श्रद्धान है वह मिथ्यादृष्टि है ॥२५७-२५८॥

अब यही भाव कलशामे प्रकट करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

मिथ्यादृष्टे स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्मास्य दृश्यते ॥१७०॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीवके जो यह अज्ञानात्मक अध्यवसायभाव देखा जाता है वही स्वरूप से विपरीत होनेके कारण बन्धका हेतु है ।

भावार्थ—परजीव, पैरका जिवाता है मारता है सुखी करता है तथा दुखी करता है, ऐसा भाव अज्ञानमयभाव है। ऐसा मिथ्यादृष्टि जीवके होता है तथा बन्धका कारण है ॥१७०॥

आगे यही अध्यवसाय बन्धका कारण है यह कहते हैं—

एसा दु जा मई दे दुक्खिद-सुहिदे करेमि सत्तेति ।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्म ॥२५९॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तुम्हारी जो यह मति है कि मैं प्राणियोको दुखी अथवा सुखी करता हूँ सो तुम्हारी यही मूढमति शुभ-अशुभ कर्मको बाँधती है ।

विशेषार्थ—मैं परजीवोको मारता हूँ अथवा नही मारता हूँ दुखी करता हूँ अथवा सुखी करता हूँ इस प्रकारका मिथ्यादृष्टि जीवके जो अज्ञानमय अध्यवसायभाव है वह स्वय रागादिरूप होनेसे उसके शुभ अशुभ बन्धका कारण होता है ॥२५९॥

अब अध्यवसाय ही बन्धका हेतु है, ऐसा नियम करते हैं—

दुक्खिद-सुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६०॥

मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।
त पाववंधगं वा पुण्णस्स व वंधगं होदि ॥२६१॥
(युग्मम्)

अर्थ—तेरा जो यह अध्यवसाय है कि मैं प्राणियोंको दु खी अथवा सुखी करता हूँ, सो यह
अध्यवसाय ही पाप और पुण्यका वन्ध करनेवाला होता है। इसी प्रकार जो तेरा यह अध्यवसाय
है कि मैं प्राणिको मारता हूँ, अथवा जिवाता हूँ, सो तेरा यह अध्यवसाय ही पाप और पुण्यका
वन्ध करनेवाला है।

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टि जीवके अज्ञानसे जायमान जो यह रागमय अध्यवसायभाव है, यही
वन्धका हेतु है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। पुण्य और पापके भेदसे वन्ध दो प्रकारका है, इस-
लिये वन्धका अन्य कारण खोजने योग्य नही है, क्योकि इस एक ही अध्यवसाय भावसे मै दु खी
करता हूँ, मारता हूँ, सुखी करता हूँ, अथवा जीवित करता हूँ। इस तरह दो प्रकारके शुभ और
अशुभ अहकाररसमे भरे हुए होनेके कारण पुण्य और पाप दोनोंके वन्धहेतुपनमे विरोध नही है।

यह जो अज्ञानमय अध्यवसायभाव है यही वन्धका कारण है। उसमे जहाँ जीवनदान देने
या सुखी करनेका अभिप्राय है वहाँ तो शुभ अध्यवसाय और जहाँ मारनेका या दु खी करनेका
अभिप्राय है, वहाँ अशुभ अध्यवसाय है। ऐसी वस्तुस्थिति होनेसे अहकाररूप अज्ञानभावकी समा-
नता दोनोंमें है। अत यह न जानना कि शुभ वन्धका कारण अन्य है और अशुभ वन्धका कारण
अन्य है। पर अज्ञानकी अपेक्षा दोनो एक ही हैं ॥२६०-२६१॥

इसी प्रकार हिंसाका अध्यवसाय ही हिंसा है, यह सिद्ध हुआ, यह कहते हैं—

अज्झवसिदेण वंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
एसो वंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२६२॥

अर्थ—प्राणियोंको मारो, चाहे मत मारो, अध्यवसायभावसे ही वन्ध होता है, निश्चयनय-
से [illegible] जीवोंके वन्धके विषयमे यह निश्चित सिद्धान्त है। तात्पर्य यह है कि प्राणीका घात
[illegible] मत होवे, यदि मारनेका अभिप्राय है तो नियमसे वन्ध है। यदि कोई जीव किसी
[illegible] मारता है और वह जीव स्वकीय आयुकर्मके निमित्तसे नही मरता तो भी मारनेके
[illegible] होता ही है।

विशेषार्थ—[illegible] स्वकीय कर्मोदयकी विचित्रतासे कदाचित् प्राणका वियोग होवे
[illegible] न होवे, किन्तु 'मैं इसे मारता हूँ' ऐसा जो अहकारसे भरा हुआ हिंसाके विषयमे अध्यव-
[illegible] भाव ही निश्चयसे उस जीवके वन्धका जनक है। परमार्थसे परके प्राणव्यपरोप-
[illegible] है ॥२६२॥

[illegible] ही पुण्य और पापके वन्धका कारण है, यह दिखाते हैं—

[illegible] अदत्ते अवमचेरे परिग्गहे चेव ।
[illegible] तं तेण दु वज्झए पाव ॥२६३॥

तहवि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥२६४॥

(युग्मम्)

अर्थ—जिस प्रकार हिंसाका अध्यवसाय कहा, उसी प्रकार मिथ्याभाषण अदत्तग्रहण, अब्रह्मचर्य और परिग्रहके विषयमें जो अध्यवसान किया जाता है उससे पापबन्ध होता है तथा सत्यभाषण, दत्तग्रहण ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहत्व विषयमें जो अध्यवसान किया जाता है उससे पुण्यबन्ध होता है।

विशेषार्थ—इसप्रकार अज्ञानसे जैसा हिंसाके विषयमें यह अध्यवसायभाव किया जाता है वैसा ही असत्य अदत्त अब्रह्म और परिग्रहके विषयमें जो अध्यवसाय किया जाता है वह सब केवल पापबन्धका हेतु है और अहिंसाके विषयमें जैसा अध्यवसाय किया जाता है वैसा ही सत्य दत्त-ब्रह्म और अपरिग्रहके विषयमें जो अध्यवसाय किया जाता है वह सब केवल पुण्यबन्धका हेतु है।

भाव यह है कि जैसे हिंसामें अहंकाररससे भरे हुए मलिनभावसे पापका बन्ध होता है। वैसे ही झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रहमें भी अहंकाररससे पूरित जो कर्तृत्वभाव है वह भी पापका जनक है। इसीतरह अहिंसामें होने वाला कर्तृत्वभाव जिसप्रकार पुण्यका जनक है उसीतरह सत्यभाषण, दत्तग्रहण ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहमें भी होनेवाला कर्तृत्वभाव पुण्यका जनक है।

आगे अध्यवसानभाव ही बन्धका कारण है, बाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं है यह कहते हैं—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं ।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधो त्थि ॥२६५॥

अर्थ—जीवोंके जो अध्यवसान होता है वह यद्यपि बाह्य वस्तुकी अपेक्षा होता है फिर भी बाह्य वस्तुसे बन्ध नहीं होता अध्यवसानभावके ही द्वारा बन्ध होता है।

विशेषार्थ—अध्यवसानभाव ही बन्धका कारण है बाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं होती। बाह्य वस्तु बन्धका कारण जो अध्यवसानभाव है उसके हेतुपनसे ही चरितार्थ होती है। जिस प्रकार इन्द्रियाँ ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हैं परन्तु अज्ञानकी निवृत्तिमें ज्ञान ही कारण है। इसी प्रकार बाह्य वस्तु अध्यवसानकी उत्पत्तिमें कारण है परन्तु बन्धमें अध्यवसानभाव ही कारण है। यहाँ प्रश्न होता है कि जब बाह्य पदार्थ बन्धमें कारण नहीं तब उनका प्रतिषेध करनेमें क्या लाभ है ? इसका उत्तर यह है कि अध्यवसानके निषेधके अर्थ बाह्य पदार्थोंका निषेध है क्योंकि अध्यवसानभावका आश्रयभूत बाह्य पदार्थ है। बाह्य पदार्थके आश्रयके बिना अध्यवसान अपने [illegible] लाभको नहीं कर सकता है। यदि बाह्य वस्तुके आश्रयके बिना भी अध्यवसान[illegible] हो जावे तो जैसे यह अध्यवसानभाव होता है कि मैं वीरजननीके पुत्रका [illegible] पुत्रको मैं मारूँ ऐसा भी अध्यवसानभाव होने लगेगा। परन्तु ऐसा अध्यवसान[illegible] क्या वीरजननीके पुत्रकी तरह बन्ध्यापुत्रका सद्भाव नहीं। अतः बाह्य[illegible]

जैसे मैं मारूँ, ऐसा अध्यवसानभाव होता है वैसा वन्ध्यापुत्रको मारनेका अध्यवसानभाव नही होता, क्योकि वन्ध्यापुत्र अलीक है और अलीकका अध्यवसान नही होता। इससे यह नियम है कि निराश्रय अध्यवसानभाव नही होता। अत अध्यवसानका आश्रयभूत वाह्य वस्तुका अत्यन्त प्रतिषेध आचार्योंने बताया है, क्योकि हेतुके निषेधसे हेतुमान्‌का भी निषेध हो जाता है। यद्यपि वाह्य वस्तु वन्धके कारणका कारण है तो भी वाह्य वस्तु वन्धका जनक नहीं है। जैसे ईर्यासमितिमे सावधान यतीन्द्रके पदसे कोई कालका प्रेरा सूक्ष्म जीव यदि मरणको भी प्राप्त हो जावे तो भी ईर्यासमितिमे सावधान यतीन्द्रके तन्मरण सम्बन्धी वन्ध नही होता। अत वाह्य वस्तु वन्धके हेतुमे नियमरूपसे हेतु भी नहीं है क्योकि यहाँपर वाह्य क्रिया तो हो गयी परन्तु अध्यवसान नही हुआ। अतएव वाह्य पदार्थ जीवका तद्भाव न होनेसे वन्धका कारण नही है, अध्यवसान ही जीवका तद्भाव है। अत वही वन्धका कारण है ॥२६५॥

इसप्रकार वन्धके कारणपनसे निर्धारित जो अध्यवसानभाव है, उसके स्वार्थक्रियाकारित्व का अभाव होनेसे मिथ्यापनको दिखाते है—

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२६६॥

अर्थ—हे जीव! तेरी जो यह मूढ वुद्धि है कि मैं जीवोको दु खी करता हूँ, सुखी करता हूँ, बाँधता हूँ तथा छोड़ता हूँ, यह सब निरर्थक है, अतएव निश्चयसे मिथ्या है।

विशेषार्थ—परजीवोको मै दु खी करता हूँ, सुखी करता हूँ, वन्धनमे डालता हूँ तथा छोड़ देता हूँ, यह जो अध्यवसानभाव हैं सो वे सभी अध्यवसानभाव परपदार्थमे अपना व्यापार करनेको असमर्थ है। इसीसे उसके स्वार्थक्रियाकारित्वका अभाव है। अतएव इस अध्यवसानभावके 'आकाश-के फूलको चयन करता हूँ' इस अध्यवसानकी तरह मिथ्यारूपता ही है और वह केवल आत्माके अनर्थके लिये ही है ॥२६६॥

यह अध्यवसान स्वार्थक्रियाकारी क्यो नहीं है, यह दिखाते हैं—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करोसि तुमं ॥२६७॥

अर्थ—यदि जीव अध्यवसानके निमित्तसे कर्मोंके द्वारा बन्धको प्राप्त होते है और यदि मोक्षमार्गमे स्थित होकर कर्मोंसे छूट जाते हैं तो तूँ क्या करता है?

विशेषार्थ—निश्चयकर मैं बाँधता हूँ अथवा छुडाता हूँ, ऐसा जो अध्यवसानभाव है, उसी [illegible] बाँधना और छुड़ाना है, परन्तु जीव तो उस अध्यवसानभावका सद्भाव होने-[illegible], सराग, वीतराग परिणामोंके अभावमे न बँधता और न छूटता है अर्थात् किसी [illegible] किया कि यह बन्धको प्राप्त हो जावे अथवा ऐसा भाव किया कि अमुक [illegible], परन्तु उस जीवके उस [illegible] भाव होनेसे न तो वह जीव बँधता है [illegible] और यदि उस जीवके सराग तथा वीतराग परिणाम हो जावे, तो उस अध्यव-

ज्ञानभावका अभाव होनेपर भी वे जीव बँध जाते हैं और छूट जाते हैं, अतएव यह अध्यवसानभाव परम अकिञ्चित्कर होनेसे स्वार्थक्रियाकारी नहीं है, इसलिये मिथ्या है ॥२६७॥

अब इस निष्फल अध्यवसानका भाव बतानेके लिये कलशा कहते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः ।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥१७१॥

अर्थ—इस निष्फल अध्यवसानभावके द्वारा मोहित हुआ आत्मा ऐसा कुछ नहीं है जिस रूप अपनेको न करता हो।

भावार्थ—इस अध्यवसानभावके कारण यह जीव अपने आपमें सबका कर्तृत्व प्रकट करता है ॥१७१॥

आगे इसी अर्थको गाथामें कहते हैं—

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥२६८॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥२६९॥
(जगल)

अर्थ—जीव अध्यवसानभावके द्वारा सम्पूर्ण तिर्यञ्च, नारकी, देव और मनुष्य सभीको अपने रूप करता है और अनेक प्रकारके पुण्य-पापको तथा धर्म, अधर्म, जीव-अजीव और लोक अलोक इन सभीको जीव अध्यवसानके द्वारा आत्मस्वरूप करता है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार यह जीव जब हिंसाका अध्यवसान करता है अर्थात् मैं इसे मारूँ ऐसा अभिप्राय करता है तब अपनेको हिंसक बनाता है उसी प्रकार असत्यभाषण आदिके अध्यवसानसे अपनेको असत्यभाषी आदि करता है। तथा उदयमें आये हुए नारकभावके अध्यवसायसे अपने आपको नारक, उदयमें आये हुए तिर्यञ्चके अध्यवसायसे अपने आपको तिर्यञ्च, उदयागत मनुष्यके अध्यवसायसे अपने आपको मनुष्य, उदयागत देवके अध्यवसायसे अपने आपको देव, उदयागत सुखादि पुण्यके अध्यवसानसे अपने आपको पुण्य और उदयागत दुःखादि पापके अध्यवसानसे अपने आपको पाप करता है। इसी प्रकार ज्ञायमान अर्थात् जाननेमें आये हुए धर्मके अध्यवसानसे अपने आपको धर्म, ज्ञायमान अधर्मके अध्यवसानसे अपने आपको अधर्म, ज्ञायमान अन्य जीवके अध्यवसानसे अपने आपको अन्य जीव, ज्ञायमान पुद्गलके अध्यवसायसे अपने आपको पुद्गल, ज्ञायमान लोकाकाशके अध्यवसानसे अपने आपको लोकाकाश और ज्ञायमान अलोकाकाशके अध्यवसायसे अपने आपको अलोकाकाशरूप करता है ॥२६८-२६९॥

अब इस अध्यवसानभावकी निन्दा करते हुए कलशाकाव्य कहते हैं—

अर्थ—इस रीतिसे व्यवहारनय निश्चयनयके द्वारा प्रतिषेध करने योग्य है, यह जानो। जो मुनि निश्चयनयका आश्रय करनेवाले हैं वे निर्वाणको प्राप्त होते है।

विशेषार्थ—जो आत्मामात्रका आलम्बनकर प्रवृत्ति करता है वह निश्चयनय है और जो पराश्रित है अर्थात् परके आश्रयसे प्रवृत्ति करता है वह व्यवहारनय है। इन दोनो नयोमे पूर्वोक्त प्रकारसे परके आश्रयसे होनेवाला समस्त अध्यवसान बन्धका हेतु है, अत मोक्षाभिलाषी जनको वह छोडने योग्य है, ऐसा उपदेश देनेवाले आचार्यने निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनयका ही प्रतिषेध किया है क्योंकि अध्यवसानकी तरह व्यवहार भी परके ही आश्रयसे होता है। यह व्यवहार प्रतिषेधके योग्य है भी, क्योकि आत्माके आश्रयसे होनेवाले निश्चयनयका आश्रय करनेवाले मुनि ही कर्मबन्धसे मुक्त होते हैं। परके आश्रयसे होनेवाले व्यवहारनयका आश्रय तो नियमसे मुक्त न होनेवाले अभव्य जीवके द्वारा भी किया जाता है।

जिनागममे निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो नय प्ररूपित किये गये है। इनमे जो पर-पदार्थके आश्रयसे रहित आत्माका ही वर्णन करता है वह निश्चनय है और जो परपदार्थके आश्रयसे होने वाली अवस्थाओको आत्माकी अवस्थाएँ बतलाता है वह व्यवहारनय है। अपने-अपने स्थानपर दोनो नय उपयोगिताको प्राप्त हैं। परन्तु यहाँपर बन्धाधिकारके प्रकरणमे अध्यव-सानभावकी समानता रखनेके कारण निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनयको प्रतिपेधके योग्य बतलाया है क्योकि बन्धकी निवृत्ति निश्चयेनयका आश्रय करनेवाले मुनियोके ही होती है, मात्र व्यवहार-नयका आश्रय तो ऐसे अभव्य जीव भी कर लेते हैं जिन्हे एकान्तसे—नियमसे कभी मुक्ति होती ही नही है। यहाँ निर्वाणकी प्राप्ति निश्चयनयका आश्रय करनेवाले मुनियोके कही गई है, सो उसका यह तात्पर्य ग्राह्य नही है कि वे मुनि व्यवहारनयके द्वारा प्रतिपादित व्रत, समिति, गुप्ति आदिका परित्यागकर मात्र निश्चयनयका आश्रय लेते है, क्योकि अपने पदानुसार इन सब क्रियाओको वे करते है। निश्चय और व्यवहार इन दोनो नयोकी उपयोगिता उनकी सापेक्ष अवस्थामे ही होती है, निरपेक्ष अवस्थामे नही। ज्यो-ज्यो यह प्राणी उच्चतम भूमिकामे पहुँचता जाता है त्यो-त्यो उसका पराश्रितपन स्वय छूटता जाता है और स्वाश्रितपन आता जाता है। इस दृष्टिसे [illegible] किया जाता है कि निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है ॥२७२॥

आगे अभव्य द्वारा व्यवहारनयका आश्रय किस प्रकार किया जाता है, यह कहते हैं—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥

अर्थ—व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप श्रीजिनवरदेवने कहे है। उनको करता हुआ भी [illegible] अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

विशेषार्थ—शील और तपसे परिपूर्ण तथा तीन गुप्ति और पाँच समितियोंसे युक्त [illegible] व्यवहारचारित्र है उसे अभव्य भी कर सकता है फिर वह [illegible], अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही रहता है क्योंकि निश्चयचारित्रके हेतुभूत ज्ञान और [illegible] है।

[illegible] होनेसे न तो सम्यग्दर्शन होता है और

चारित्रमोहनीयकर्मका उपशमादि न होनेसे न सम्यक्चारित्र होता है। केवल कषायोंकी मन्दता होनेसे व्यवहारचारित्र होता है, जो मोक्षमार्गका साधक नहीं, मात्र पुण्यका जनक होनेसे स्वर्गादिके ही लाभमें निमित्त रहता है ॥२७३॥

आगे उस अभव्यके तो ग्यारह अङ्गतकका ज्ञान होता है फिर उसे अज्ञानी क्यों कहते इसका उत्तर देते हैं—

> मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
> पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२७४॥

अर्थ—मोक्षकी श्रद्धा नहीं करता हुआ जो अभव्य जीव अध्ययन करता है वह अध्ययन सम्यग्ज्ञानकी श्रद्धा न करनेवाले उस अभव्य जीवके गुण नहीं करता है अर्थात् द्रव्यश्रुत होनेपर भी सम्यग्ज्ञानके बिना अभव्यजीवका पढ़ना तथा ज्ञान मोक्षमार्गमें उपकारी नहीं होता।

विशेषार्थ—अभव्य जीव मोक्षतत्त्वकी श्रद्धा नहीं करता है क्योंकि वह शुद्धज्ञानात्मक आत्मज्ञानसे शून्य है। इसीसे उसके ज्ञानकी श्रद्धा नहीं है क्योंकि वह शुद्धज्ञानमय आत्मज्ञानसे पराङ्मुख है। ग्यारह अङ्गश्रुतका अध्ययन करके भी श्रुताध्ययनके फलस्वरूप आत्मज्ञानगुणका अभाव होनेसे अभव्य ज्ञानी नहीं होता। श्रुताध्ययनका गुण तो यह है कि परवस्तुसे भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्माका जो ज्ञान होता है उस वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मज्ञानकी अभव्यके श्रद्धा नहीं है। इसीसे इस अभव्यके श्रुताध्ययनके द्वारा वह नहीं हो सकता अर्थात् केवल श्रुतके अध्ययनसे उस आत्मज्ञानकी प्राप्ति होना अतिदुर्लभ है। इसीलिये अभव्यके उस गुणका अभाव है। अतएव ज्ञान और श्रद्धानके अभावसे वह अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि है ऐसा नियम किया गया है ॥२७४॥

आगे उस अभव्यके धर्मका श्रद्धान तो है, इसका निषेध करते हैं—

> सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पुणो हि फासेदि ।
> धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२७५॥

अर्थ—वह अभव्य जीव धर्मकी श्रद्धा भी करता है प्रतीति भी करता है रुचि भी करता है और पुनः पुनः स्पर्श भी करता है परन्तु जो धर्म भोगका निमित्त है उसी धर्मकी श्रद्धा आदि करता है कर्मक्षयका निमित्तभूत जो धर्म है उसकी श्रद्धा आदि नहीं करता।

विशेषार्थ—अभव्य जीव नित्य ही कर्म और कर्मफलचेतनारूप वस्तुकी श्रद्धा करता है किन्तु ज्ञानचेतनास्वरूप जो आत्मतत्त्व है उसकी श्रद्धा नहीं करता क्योंकि वह नित्य ही भेदविज्ञानके अयोग्य है। इसीसे वह अभव्यजीव कर्मक्षयमें निमित्तभूत ज्ञानमात्र जो भूतार्थ धर्म है उसकी श्रद्धा नहीं करता किन्तु भोगोंके निमित्तभूत शुभकर्ममात्र जो अभूतार्थ धर्म है उसीकी श्रद्धा करता है इसीलिये यह अभव्यजीव अभूतार्थधर्मके श्रद्धान प्रत्ययन रोचन और स्पर्शनके द्वारा उपरितन ग्रैवेयक तकके भोगमात्रको प्राप्त हो सकता है। परन्तु कर्मबन्धनसे मुक्त कभी नहीं होता। इसलिये भूतार्थधर्मकी श्रद्धाका अभाव होनेसे अभव्यके श्रद्धान भी नहीं है। ऐसा होनेपर निश्चयनयके लिये व्यवहारनयका प्रतिषेध करना युक्त ही है ॥२७५॥

आगे व्यवहारनयको प्रतिषेध्य कहा है और निश्चयनयको प्रतिषेधक, सो ये दोनों नय कैसे हैं, इसका उत्तर कहते हैं—

> आयारादी णाणं जीवादी दंसण च विण्णेय ।
> छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥२७६॥
> आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।
> आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥२७७॥
>
> (युगलम्)

अर्थ—आचाराङ्ग आदि ज्ञान है, जीवादि पदार्थ दर्शन हैं और षट्कायके जीवो की रक्षा चारित्र है, व्यवहारनय कहता है। और मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन तथा चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही सवर है और मेरा आत्मा ही योग—ध्यान है, यह निश्चयनय कहता है।

विशेषार्थ—ज्ञानका आश्रय होनेसे आचाराङ्ग आदि द्रव्यश्रुतज्ञान है, दर्शनका आश्रय होनेसे जीवादि नौ पदार्थ दर्शन है और चारित्रका आश्रय होनेसे छहकायके जीवो की रक्षा करना चारित्र है, यह सब व्यवहारनयका कथन है। और ज्ञानका आधार होनेसे शुद्ध आत्मा ज्ञान है, दर्शनका आधार होनेसे शुद्ध आत्मा दर्शन है तथा चारित्रका आधार होनेसे शुद्ध आत्मा चारित्र है, इसप्रकार निश्चयनयका कहना है।

यहाँपर आचाराङ्गादिको ज्ञानका आश्रय माननेसे अभव्यजीवमे अनैकान्तिकपन आता है, अतः व्यवहारनय प्रतिषेध करने योग्य है। और निश्चयनय ज्ञानादिकका आश्रय शुद्ध आत्माको मानता है, अतः उसमे ऐकान्तिकपन है अर्थात् अनैकान्तिक दोषका अभाव है, इसलिये वह प्रतिषेधक है। यही दिखाते हैं—आचाराङ्गादि जो शब्दश्रुत है वह एकान्तरूपसे ज्ञानका आश्रय नही है क्योंकि आचाराङ्गादि शब्दश्रुतके सद्भावमे भी अभव्यजीवोंके शुद्धात्माका अभाव होनेसे सम्यग्ज्ञानका अभाव है। इसीतरह जीवादि पदार्थ दर्शनके आश्रय नही है क्योंकि उनका सद्भाव होनेपर भी अभव्यजीवोंके शुद्धात्माकी उपलब्धिका अभाव होनेसे सम्यग्दर्शनका अभाव है। और [illegible] षट्कायके जीवोंकी रक्षा भी चारित्रका आश्रय नही है क्योंकि इनका सद्भाव होनेपर भी [illegible] शुद्धात्माका अभाव होनेसे चारित्रका अभाव है। इसके विपरीत निश्चयनयमें [illegible] ऐकान्तिकपन है। जैसे शुद्ध आत्मा ही ज्ञानका आश्रय है क्योंकि आचाराङ्गादि [illegible] चाहे सद्भाव हो, चाहे असद्भाव हो, शुद्ध आत्माका सद्भाव होनेसे [illegible]—नियमरूपसे रहना ही है। इसीप्रकार शुद्ध आत्मा ही दर्शनका [illegible] जीवादि पदार्थोंका चाहे सद्भाव हो, चाहे असद्भाव हो, शुद्ध आत्माका सद्भाव [illegible]—नियमरूपसे रहना ही है। इसीतरह शुद्ध आत्मा ही [illegible] रक्षाका चाहे सद्भाव हो, चाहे असद्भाव हो, [illegible] चारित्रका सद्भाव [illegible]—नियमरूपसे रहना ही [illegible] ॥

आगे रागादिकका निमित्त क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये जो गाथाएं कही जाने वाली हैं उनकी अवतरणिकाके लिये कलशकाव्य कहते हैं—

उपजातिछन्द

रागादयो बन्धनिदानमुक्ता-
स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्त-
मिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥२७४॥

अर्थ—जो रागादिक बन्धके कारण कहे गये हैं वे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतेजसे भिन्न हैं। अब यहाँ प्रश्न होता है कि उन रागादिकका निमित्त क्या है आत्मा है या परद्रव्य ? इस प्रकार प्रेरित हुए आचार्य पुनः इस प्रकार कहते हैं ॥१७४॥

अब दृष्टान्त द्वारा रागादिकका निमित्तकारण आचार्य बताते हैं—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥
(युगलम्)

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है वह लाल आदि रङ्गरूप स्वयं नहीं परिणमता किन्तु लाल आदि अन्य द्रव्योंके द्वारा तद्-तद् रङ्गरूप हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव आप शुद्ध है वह स्वयं रागादिरूप परिणमन नहीं करता किन्तु रागादिक अन्य दोषोंके कारण तद् तद् दोषरूप परिणम जाता है।

विशेषार्थ—जैसे निश्चयकर स्फटिकमणि परिणामस्वभाववाला है और इस परिणमन स्वभावका सद्भाव होनेपर भी अपना जो शुद्ध स्वभाव है वह लाल, पीला, हरा आदिरूप परिणमन करनेमें निमित्त नहीं है। इसीसे वह स्वयं लाल आदि रङ्गरूप परिणमन नहीं करता किन्तु परद्रव्य जो जपापुष्पादि हैं वे स्वयं लाल पीले, हरे आदिरूप हैं, अतः उनकी डाँकका निमित्त पाकर स्फटिकमणि लाल पीला हरा आदिरूप परिणम जाता है। वैसे ही केवल जो शुद्ध आत्मा है वह परिणामस्वभाववाला है और इस स्वभावका सद्भाव होनेपर भी अपना जो शुद्ध स्वभाव है उससे अपने आप रागादिकरूप परिणमन नहीं करता। किन्तु मोहादिक पुद्गलकर्मके विपाकका निमित्त पाकर मोह तथा राग-द्वेषरूप परिणम जाता है। उस समय वह स्वयं रागादि भावको प्राप्त होकर शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ रागादिरूप परिणमन करता है यही वस्तुस्वभाव है।

अर्थ—राग, द्वेष और कषायकर्मोंके होनेपर जो भाव आत्माके होते हैं उन भावोंके द्वारा परिणमन करता हुआ आत्मा फिर उन्ही रागादिकोके कारणभूत द्रव्यकर्मको बाँधता है।

विशेषार्थ—निश्चय कर अज्ञानी जीवके पुद्गलकर्मके निमित्तसे जो राग, द्वेष, मोह, आदि परिणाम होते है वे ही परिणाम फिर भी राग-द्वेष-मोह आदि परिणामोके निमित्तभूत पुद्गलकर्मके बन्धके हेतु है।

अज्ञानी जीव परमार्थसे अपने वास्तविक गुणविकासको तो जानता नही है किन्तु कर्मके विपाकमे जायमान रागादिकोको अपना स्वरूप मानता हुआ तद्रूप परिणमन करता है। इसका फल यह होता है कि वह रागादिककी उत्पत्तिमे निमित्तभूत पुद्गलकर्मका बन्ध करता रहता है। इस तरह द्रव्यकर्मके उदयके निमित्तसे रागादिक भावकर्म और रागादिक भावकर्मके निमित्तमे पुन द्रव्यकर्मका बन्ध यह जीव अनादिकालसे करता चला आ रहा है ॥२८२॥

अब आत्मा रागादिक परिणामोका अकर्ता किस प्रकार है, यह कहते हैं—

अपडिक्कमणं दुविहं अपचक्खाणं तहेव विण्णेयं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८३॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपचक्खाणं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८४॥
जाव अपडिक्कमणं अपचक्खाणं च दव्वभावाणं।
कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो ॥२८५॥

(त्रिकलम्)

अर्थ—अप्रतिक्रमण दो प्रकारका जानना चाहिये और इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका जानना चाहिये। इसी उपदेशसे आत्मा अकारक कहा गया है। अप्रतिक्रमण दो प्रकार है—एक द्रव्यमे और दूसरा भावमे। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार है—एक द्रव्यमे और दूसरा भावमे। इस उपदेशसे आत्मा अकारक कहा गया है। जबतक आत्मा द्रव्य और भावमे अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान करता है तबतक वह कर्ता होता है, ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ—आत्मा स्वयं अनात्मीय रागादिकभावोंका अकारक ही है क्योंकि यदि स्वयं रागादिकभावोंका कारक होता तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान जो दो प्रकारका उपदेश [illegible] दिया है उसकी उपपत्ति नही बनती। निश्चयसे द्रव्य और भावके भेदसे अप्रतिक्रमण और [illegible] का जो दो प्रकारका उपदेश है वह उपदेश द्रव्य और भावमे निमित्त-नैमित्तिकभावको [illegible] आत्माके अकर्तृत्वको जानता है। इससे यह स्थिर हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और आत्माके जो रागादिकभाव है वे नैमित्तिक है। यदि ऐसा नही माना जावे तो द्रव्य अप्रति-[illegible] और द्रव्य [illegible] दोनोंमे जो कर्तृत्वके निमित्तपनका उपदेश है वह अनर्थक हो [illegible] आत्माके ही रागादिभावोंके निमित्तपनकी आपत्ति आ [illegible] आत्माके नित्य कर्तृत्वका अनुषङ्ग होनेसे मोक्षका अभाव हो जावेगा। [illegible] परद्रव्यको ही निमित्त मानना ठीक होगा। ऐसा माननेसे आत्मा

रागादिकभावोंका अकर्ता ही है। किन्तु जब तक रागादिकभावोंके निमित्तभूत द्रव्यका न प्रतिक्रमण करता है और न प्रत्याख्यान करता है तब तक नैमित्तिकभूत भावका न प्रतिक्रमण करता है और न प्रत्याख्यान करता है और जब तक नैमित्तिकभूत भावका न प्रतिक्रमण करता है और न प्रत्याख्यान करता है तब तक वह उनका कर्ता ही होता है। और जिस कालमें निमित्तभूत द्रव्यका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कर देता है उसी कालमें नैमित्तिकभूत भावका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कर देता है। और जब नैमित्तिकभूत भावका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान कर देता है तब आत्मा साक्षात् अकर्ता ही हो जाता है।

भावार्थ—प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान ये दोनों दो दो प्रकारके हैं—एक द्रव्य और दूसरा भाव। इसीसे अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान भी द्रव्य और भावके भेदसे दो-दो प्रकारका है। तात्पर्य यह है कि जो परपदार्थ अतीतकालमें आत्माने ममत्वभावसे ग्रहण किया था उसको जब तक अच्छा समझे तब तक उसका त्याग नहीं हो सकता। अतएव एक प्रकारका संस्कार उसके द्वारा आत्मामें होता है जिससे उसका त्याग नहीं हो सकता इसीका नाम द्रव्य-अप्रतिक्रमण है और उस परद्रव्यके द्वारा जो रागादिक भाव आत्मामें हुए थे उनको अच्छा समझना भाव-अप्रतिक्रमण है तथा भविष्यकालमें परद्रव्यके ग्रहणका ममत्व रखे वह द्रव्य अप्रत्याख्यान है और उससे भविष्य कालमें होनेवाले रागादिकोंकी वाञ्छा रखना यह भाव-अप्रत्याख्यान है। इस पद्धतिसे द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव-अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव-अप्रत्याख्यानसे दो प्रकारका उपदेश है। यही उपदेश रागादिकभावोंकी उत्पत्तिमें परद्रव्यके निमित्तपनेकी व्यवस्था करता है। यदि परद्रव्यको रागादिक परिणामोंके उत्पन्न होनेमें निमित्त न माना जावे तो आत्मा ही इनका निमित्त होगा। इस स्थितिमें नित्यकर्तृपनेका आपत्ति आनेसे आत्माकी संसार-अवस्थाका सर्वदैव सद्भाव रहेगा और संसारका नित्य सद्भाव रहनेसे मोक्षका अभाव हो जावेगा ॥२८३-२८५॥

आगे द्रव्य और भावमें निमित्त-नैमित्तिकभावका उदाहरण कहते हैं—

आधाकम्माइया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्चं ॥२८६॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं ॥२८७॥

(युग्मम्)

अर्थ—अधःकर्मको आदि लेकर जो ये पुद्गलद्रव्यके दोष हैं उन्हें ज्ञानी जीव किस प्रकार कर सकता है क्योंकि ये सब परद्रव्यके गुण हैं। अधःकर्म और उद्देशिक ये जो दोष हैं वे सब पुद्गलद्रव्यमय हैं। ज्ञानी जीव विचारता है कि ये हमारे किस प्रकार हो सकते हैं क्योंकि ये नित्य ही अचेतन कहे गये हैं।[1]

---

[1] अधःकर्म और उद्देश्यसे जो आहार निष्पन्न होता है वह परिणामोंकी मलिनताका निमित्त होता है क्योंकि ऐसा नियम है कि जैसा अन्न खाया जावे वैसा ही उसका परिणाम होता है और उसका प्रभाव मनपर पड़ता है। यही कारण है कि जो अन्यायसे धनोपार्जन करते हैं वे कभी भी निर्मलभाव वाले नहीं होते—अतएव न्यायपूर्वक आजीविका ही गृहस्थावस्थामें हितकारिणी है।

विशेषार्थ—जो पुद्गलद्रव्य अध कर्मसे निष्पन्न हुआ है अथवा जो पुद्गलद्रव्य उद्देश्यसे निष्पन्न हुआ है अर्थात् जो आहार पापकर्मसे उपार्जित द्रव्य द्वारा बनाया गया है अथवा जो आहार व्यक्तिविशेषके निमित्तसे बनाया गया है, मलिनभावकी उत्पत्तिमे निमित्तभूत उस आहार-का जो मुनि प्रत्याख्यान नही करता है—त्याग नही करता है वह उसके निमित्तसे होनेवाले बन्ध-के साधक भावका प्रत्याख्यान नही कर सकता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण परद्रव्यको नही त्यागने वाला मुनि उसके निमित्तसे जायमान भावको नही त्याग सकता है। और जैसे आत्मा अध कर्मा-दिक पुद्गलद्रव्यके दोषोको नही करता है क्योकि ये अध कर्मादिक पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेसे आत्माके कार्य नही है। इसीसे अध कर्म और उद्देश्यसे निष्पन्न जो यह पुद्गलद्रव्य है वह मेरा कार्य नही है क्योकि यह नित्य अचेतन है, अतः इसमे मेरे कार्यपनेका अभाव है अर्थात् मै इसका कर्ता नही हूँ। इसप्रकार तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्यको त्यागता हुआ आत्मा बन्धके साधक जो नैमित्तिकभाव है उन्हे त्यागता है। इसी प्रकार समस्त परद्रव्योको त्यागता हुआ आत्मा उनके निमित्तसे उत्पन्न भावको भी त्यागता है। इसतरह द्रव्य और भावमे निमित्त-नैमित्तिक-भाव है ॥२८७-२८७॥

आगे इसी भावको कलशामे कहते है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बला-
तन्मूलं बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्तुकामः समम्।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१७८॥

अर्थ—इसप्रकार परद्रव्य और अपने भावोमे निमित्त-नैमित्तिकभावका विचारकर नाना-भावोकी उस परिपाटीको बलपूर्वक एक साथ उखाड देनेकी इच्छा करने वाला आत्मा नानाभावो के मूलभूत उस समस्त परद्रव्यका परित्याग करता है और उसके फलस्वरूप अतिशयरूपसे बहने वाले पूर्ण एक संवेदनसे युक्त उस आत्माको प्राप्त होता है जिसके द्वारा समस्त कर्मबन्धका उखाड देने वाला यह भगवान् आत्मा अपने आपमे ही प्रकट होता है।

भावार्थ—समस्त परद्रव्य और रागादिकभावोमे परस्पर निमित्त-नैमित्तिकपन है अर्थात् परद्रव्य निमित्त है और रागादिकभाव नैमित्तिक है। जो आत्मा रागादिकभावोकी इस परम्परा-को [illegible] करनेकी इच्छा रखता है वह उन रागादिकभावोका मूल कारण जो [illegible] परद्रव्य है उसको पृथक् कर निरन्तर उपयोगरूप रहनेवाले पूर्णज्ञान—केवलज्ञानसे युक्त [illegible] होता है अर्थात् अरहन्त अवस्थाको प्राप्त होता है और उसके फलस्वरूप समस्त [illegible] भगवान् आत्मा, आत्मामे ही प्रकट होता है अर्थात् सिद्ध अवस्थाको प्राप्त [illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]

ज्ञानज्योतिः स्फुरति तिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत् प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥१७९॥

अर्थ—बन्धके कारण जो रागादिकभाव हैं उनके उदयको निर्दयतापूर्वक विदारण करनेवाली तथा अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाली जो यह ज्ञानरूपी ज्योति है, वह रागादिकका कार्य जो नानाप्रकारका बन्ध है उसे उसी समय शीघ्र ही नष्ट कर अच्छी तरह इस प्रकार सज्जित होती है—पूर्ण सामर्थ्यके साथ प्रकट होती है कि कोई दूसरा इसके प्रसारको रोक नहीं सकता।

भावार्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे बन्धके चार भेद हैं। इन बन्धोंका कारण रागादिक विकारीभावोंका उदय है। सो आत्मकल्याणका इच्छुक पुरुष (क्षपकश्रेणीमें आरूढ होकर) दशमगुणस्थानके अन्तमें उन रागादिकभावोंका इतनी निर्दयतापूर्वक विदारण करता है कि फिर वे उत्पन्न होनेका नाम ही नहीं लेते। रागादिकभावोंका अभाव हो जाने पर कर्मोंका नानाप्रकारका बन्ध तत्काल ही नष्ट हो जाता है। यद्यपि केवल सातावेदनीयका प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है परन्तु स्थिति और अनुभागबन्धसे रहित होनेके कारण उसकी विवक्षा नहीं की गई है। इसतरह निर्बन्ध अवस्था होने पर बारहवें गुणस्थानके अन्तमें ज्ञानावरण-दर्शनावरणरूपी अन्धकारको नष्ट कर सर्वोत्कृष्ट तथा सदा सन्नद्ध रहनेवाली अर्थात् उपयोगरूप परिणत केवलज्ञानरूप वह ज्योति इसतरह प्रकट होती है कि कोई दूसरा पदार्थ उसके प्रसारको रोकनेमें समर्थ नहीं होता ॥१७९॥

इस प्रकार बन्ध रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया।

इस तरह श्रीकुन्दकुन्दाचार्यद्वारा विरचित समयप्राभृतमें बन्धतत्त्वका प्ररूपण करनेवाले सातवें बन्धाधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ ॥ ७ ॥

•

व्याप्ति नही है। अतएव मैं ही, मेरे ही द्वारा, मेरे ही लिये, मुझसे ही, मुझमे ही, मुझको ही ग्रहण करता हूँ। जो मै निश्चयसे ग्रहण करता हूँ वह आत्माकी ही एक चेतनक्रिया है। अतएव उस क्रियासे मै चेतता ही हूँ, चेतता हुआ ही चेतता हूँ। चेतते हुएके द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुएके लिये ही चेतता हूँ, चेतते हुएसे ही चेतता हूँ, चेतते हुएमे ही चेतता हूँ और चेतते हुएको ही चेतता हूँ अथवा गुण-गुणीकी भिन्न विवक्षा न की जावे तो न चेतता हूँ, न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुएके द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुएके लिये चेतता हूँ, न चेतते हुएसे चेतता हूँ, न चेतते हुएमे चेतता हूँ और न चेतते हुएको चेतता हूँ किन्तु सर्व कर्ता-कर्म आदिकी प्रक्रियासे भिन्न शुद्ध चिन्मात्रभाव हूँ ॥२९७॥

अब यही भाव कलश द्वारा कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥१८२॥

अर्थ—ज्ञानी कहता है कि जिसका भेद किया जा सकता है उस सबको स्वलक्षणके बलसे भिन्नकर चिन्मुद्रासे चिह्नित विभागरहित महिमावाला मै शुद्धचेतन ही हूँ। यदि कर्ता-कर्म आदि कारक, अथवा नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म अथवा ज्ञान-दर्शन आदि गुण भेदको प्राप्त होते हैं तो हों, परन्तु व्यापक तथा विशुद्ध चेतनभावमे तो कुछ भेद नही है।

भावार्थ—ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि मै शुद्ध चेतनद्रव्य हूँ और चैतन्य मेरा लक्षण है। मेरा यह चैतन्यलक्षण मुझसे कभी पृथक् नही हो सकता। मुझमे यद्यपि रागादिक विकारीभाव उत्पन्न हो रहे हैं पर वे मेरे स्वभाव नही है, परके निमित्तसे जायमान होनेके कारण स्पष्ट ही मुझसे पृथक् हैं। प्रज्ञा अर्थात् भेदविज्ञानकी बुद्धिसे वे स्पष्ट ही मुझसे पृथक् अनुभवमे आते हैं। अतः मैं उन्हे अपने चैतन्यस्वभावरूपसे भिन्न मानता हूँ। इसप्रकार रागादिक विकारीभावोसे अपनी भिन्नताका चिन्तनकर ज्ञानी जीव एक चेतनद्रव्यमे कारक, धर्म-धर्मी तथा गुण-गुणीके भेदका चिन्तन करता है। प्रथम तो वह चेतनद्रव्यको सब प्रकारकी भेदकल्पनासे रहित एक अखण्ड द्रव्यरूप अनुभव करता है, फिर उसमे उतरती हुई अवस्थाका चिन्तन करता हुआ विचार करता है कि यदि प्रारम्भिक दशामे कारक, धर्म-धर्मी और गुण-गुणीका भेद रहता है तो रहे, यह सब भेदकल्पनाका ही परिणाम है। उस गुणकी अपेक्षा इनमे भेद नही है क्योंकि विशुद्ध चैतन्यभाव सब समय एकाकार होकर रहता है ॥१८२॥

आगे आत्मा द्रष्टा होता है, ऐसा निश्चय जानना चाहिये, यह कहते हैं—

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयओ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥२९८॥

पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥२९९॥

(युग्मम्)

अर्थ—प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य जो द्रष्टा है वह निश्चयसे मैं हूँ और इससे अतिरिक्त जो भाव हैं वे मुझसे भिन्न जानने योग्य हैं। इसीप्रकार प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य जो ज्ञाता है वह निश्चयसे मैं हूँ और इससे भिन्न जितने भी भाव हैं वे मुझसे भिन्न जानना चाहिये।

विशेषार्थ—चेतना दर्शन और ज्ञानके विकल्पोंका अतिक्रमण नहीं करती अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप जो विकल्प हैं वे चेतनाके साथ तादात्म्यसे रहते हैं अतः चेतनपनकी तरह द्रष्टापन और ज्ञातापन आत्माका स्वलक्षण ही है। इसीसे मैं द्रष्टा जो आत्मा है उसको ग्रहण करता हूँ। निश्चयसे जिसे ग्रहण करता हूँ उसका अवलोकन करता ही हूँ, अवलोकन करनेवाला होकर ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवालेके द्वारा ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवालेके लिये ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवालेसे ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवालेमें ही अवलोकन करता हूँ।

अथवा न अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करता हुआ अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवालेके द्वारा अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवालेके लिये अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवालेसे अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवालेमें अवलोकन करता हूँ किन्तु सब कर्ता-कारकादिसे भिन्न शुद्ध दर्शनमात्र भाव मैं हूँ।

इसी प्रकार ज्ञाता जो आत्मा है उसे ग्रहण करता हूँ, निश्चयसे जिसे ग्रहण करता हूँ उसे जानता ही हूँ, जाननेवाला होकर ही जानता हूँ, जाननेवालेके द्वारा ही जानता हूँ, जाननेवालेके लिये ही जानता हूँ, जाननेवालेसे ही जानता हूँ, जाननेवालेमें ही जानता हूँ, जाननेवालेको ही जानता हूँ। अथवा नहीं जानता हूँ, न जानता हुआ जानता हूँ, न जाननेवालेके द्वारा जानता हूँ, न जाननेवालेके लिये जानता हूँ, न जाननेवालेसे जानता हूँ, न जाननेवालेमें जानता हूँ, न जाननेवालेको जानता हूँ किन्तु सबसे विशुद्ध ज्ञप्तिमात्र भाव मैं हूँ।

अब यहाँ यह आशङ्का होती है कि चेतना ज्ञान-दर्शनरूप विकल्पोंका अतिक्रमण क्यों नहीं करती है जिससे चेतयिता ज्ञाता और द्रष्टा होता है? इसका उत्तर कहते हैं—

आत्माका जो चेतनागुण है वह प्रतिभासरूप है, वह प्रतिभासरूप चेतना सामान्यविशेषात्मक वस्तुको विषय करती है। अतः द्वैरूप्यका अतिक्रमण नहीं कर सकती है। उस चेतनाके सामान्यविशेषात्मक जो दो रूप हैं उन्हींका नाम दर्शन और ज्ञान है, इसीसे चेतना दर्शन और ज्ञानका अतिक्रमण नहीं करती है। यदि चेतना दर्शन और ज्ञानका अतिक्रमण करने लगे तो सामान्यविशेषात्मक स्वरूपका अतिक्रमण करनेसे वह चेतना ही नहीं रह सकती। तथा उसके अभावमें दोषोंकी आपत्ति आवेगी, एक तो स्वकीय गुणका नाश होनेसे चेतनके अचेतनपनकी आपत्ति आवेगी और दूसरा व्यापकके अभावसे व्याप्य जो चेतन है उसका अभाव हो जावेगा। इसलिये उन दोषोंके भयसे दर्शन ज्ञानात्मक ही चेतनाको स्वीकार करना चाहिये ॥२९८-२९९॥

अब इसी भावको कलशके द्वारा प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्ति चित् ॥१८३॥

अर्थ—निश्चयसे संसारमें चेतना अद्वैतरूप होकर भी यदि दर्शन और ज्ञानरूपको छोड देवे, तो सामान्य और विशेषका अभाव होनेसे वह अपने अस्तित्वको ही छोड देगी और चेतनाका अस्तित्व छूट जाने पर चेतन जो आत्मा है उसमें भी जड़पन हो जावेगा तथा व्यापक चेतनाके विना व्याप्य जो आत्मा है वह भी अन्तको प्राप्त हो जावेगा। इसलिये चेतना निश्चित ही दर्शन और ज्ञानरूप है।

भावार्थ—सामान्यकी अपेक्षा यद्यपि चेतनाका एक ही भेद है तथापि सामान्य-विशेषात्मक वस्तुको विषय करनेसे उसका दर्शनचेतना और ज्ञानचेतना इस प्रकार द्विविध परिणमन होता है। जो वस्तुके सामान्य अंशको विषय करती है वह दर्शनचेतना है और जो वस्तुके विशेष अंशको ग्रहण करती है वह ज्ञानचेतना है। जब वस्तु दो प्रकारकी हैं तब उसे विषय करनेवाली चेतना भी दो प्रकारकी माननी आवश्यक है। सामान्य और विशेष परस्परमें सापेक्ष हैं अर्थात् सामान्यके विना विशेष नहीं रह सकता और विशेषके विना सामान्य नहीं रह सकता। इनमेंसे एकका भी अभाव होगा तो दूसरेका भी अभाव अवश्य हो जायगा। इसतरह जब सामान्य और विशेषका अभाव होनेसे चेतना अपना अस्तित्व खो बैठेगी तब उसके अभावमें चेतन जो आत्मा है उसमें अचेतनपन अर्थात् जड़पन आ जावेगा, जो कि किसी तरह संभव नहीं है। दूसरा दोष यह आवेगा कि व्यापक जो चेतना है उसका अभाव होनेपर व्याप्य जो आत्मा है उसका भी अभाव हो जावेगा। इसलिये इन दोषोंसे बचनेके लिये चेतनाको ज्ञानचेतना और दर्शनचेतनाके भेदसे दो प्रकारकी मानना ही उचित है ॥१८३॥

इन्द्रवज्राछन्द

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥१८४॥

इसके अतिरिक्त आत्मामें जो राग-द्वेष मोहभाव उत्पन्न होते हैं वे आत्मामें परके निमित्तसे जायमान होनेके कारण पर हैं। अतः सब प्रकारसे हेय हैं—छोड़ने योग्य हैं ॥१८४॥

आगे इसी भावको गाथामें कहते हैं—

> को णाम भणिज्ज बुहो णाउं सव्वे पराइए भावे।
> मज्झमिणंति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥३००॥

अर्थ—सब परकीय भावोंको जानकर ऐसा कौन ज्ञानी होगा जो यह कहते हैं कि वे मेरे हैं क्योंकि ज्ञानी जीव शुद्ध आत्माका जाननेवाला है।

विशेषार्थ—जो पुरुष निश्चयसे पर और आत्माके निश्चित स्वलक्षणके विभागमें पड़नेवाले प्रज्ञासे ज्ञानी होता है वह निश्चयसे एक चिन्मात्रभावको ही अपना जानता है और शेष सभी भावोंको परके जानता है। इसतरह जानता हुआ ज्ञानी जीव परभावोंको ये मेरे हैं ऐसा कैसे कह सकता है? क्योंकि पर और आत्मामें निश्चयसे स्वस्वामी-सम्बन्धका अभाव है। अतएव सर्वप्रकारसे एक चिद्भाव ही ग्रहण करने योग्य हैं और शेष सभी भाव त्यागनेके योग्य है यह सिद्धान्त है ॥३००॥

यही भाव कलशमें दर्शाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

> सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
> शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
> एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
> स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥

अर्थ—जिनके चित्तकी प्रवृत्ति अत्यन्त उत्कृष्ट है तथा जो मोक्षके अभिलाषी हैं उन महानुभावोंके द्वारा यही सिद्धान्त सेवन करने योग्य है कि मैं निरन्तर शुद्ध चेतनागुणविशिष्ट एक परमज्योतिस्वरूप हूँ तथा परमज्योति—चेतनाके अतिरिक्त पृथक् लक्षणवाले जो ये नाना प्रकारके भाव उल्लसित हो रहे हैं—प्रकट हो रहे हैं वे मैं नहीं हूँ क्योंकि ये सभी इस संसारमें मेरे लिये परद्रव्य हैं।

भावार्थ—परपदार्थसे भिन्न आत्माकी शुद्ध स्वाधीन परिणतिका हो जाना मोक्ष है। इस मोक्षके जो अभिलाषी हैं उन्हें सदा इस सिद्धान्तका मनन करना चाहिये कि मैं तो सदा एक चैतन्य—ज्योतिस्वरूप हूँ, वही मेरी शुद्ध स्वाधीन परिणति है और उसके सिवाय मुझमें जो राग, द्वेष, मोह आदि विकारीभाव उठ रहे हैं वे मेरे नहीं हैं मोहकर्मके उदयमें उत्पन्न होनेवाले विकारीभाव हैं, उनका नष्ट हो जाना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। जो महानुभाव इसप्रकार विचार करते हैं वे अवश्य ही एक दिन उन विकारीभावोंकी सत्ताको आत्मासे बहिष्कार कर देते हैं ॥१८५॥

अनुष्टुप्छन्द

> परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
> बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो मुनिः ॥१८६॥

अब यहाँपर कोई आशङ्का करता है कि इस शुद्ध आत्माकी उपासनाके प्रयाससे क्या लाभ है, क्योंकि प्रतिक्रमणादिकके द्वारा ही आत्मा निरपराध हो जाता है। सापराध जीव यदि प्रतिक्रमण नहीं करता है तो उसकी वह क्रिया अपराधोंको दूर करनेवाली न होनेसे विषकुम्भ कही गई है और यदि प्रतिक्रमणादि करता है तो उसकी वह क्रिया अपराधोंको दूर करनेवाली होनेसे अमृतकुम्भ कही गई है। जैसा कि व्यवहाराचारसूत्रमे कहा गया है—

अप्पडिकमण अपरिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरुहाऽसोहीय विसकुंभो ॥१॥
पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥२॥

अर्थ—अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि इस तरह आठ प्रकारके लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित्त न करना विषकुम्भ है और इनके विपरीत लगे हुए दोषोंका प्रतिक्रमण[1], प्रतिसरण[2], परिहार[3], धारणा[4], निवृत्ति[5], निन्दा[6], गर्हा[7], और शुद्धि[8] इन आठ प्रकारोंसे प्रायश्चित्त करना अमृतकुम्भ है। अर्थात् इन्हींके द्वारा आत्मा निरपराध हो जावेगा। अतः शुद्धात्माकी उपासना करना निष्प्रोजन है, ऐसा व्यवहारनयवालेका तर्क है? इसका उत्तर आचार्य निश्चयनकी मुख्यतासे देते हैं—

पडिक्कमणं पडिमरण परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥३०६॥
अपडिक्कमणं अप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुंभो ॥३०७॥

(युग्मम्)

अर्थ—प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि ये आठ प्रकार विषकुम्भ हैं क्योंकि इनमे आत्माके कर्तापनका अभिप्राय है और जहाँ कर्तापनका अभिप्राय है वहाँ बन्धरूप दोषका सद्भाव ही है। तथा अप्रतिक्रमण, अप्रतिमरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि ये आठ प्रकार अमृतकुम्भ हैं क्योंकि यहाँ कर्तापनका निषेध है। अतएव निरपराध है तथा इसीसे अबन्ध है।

विशेषार्थ—जो अज्ञानीजनसाधारण अप्रतिक्रमणादिक हैं वे शुद्ध आत्माकी सिद्धिके अभावरूप होनेसे स्वयमेव अपराध हैं, इसलिये विषकुम्भ ही हैं। उनके विचारसे क्या लाभ है? वे

सो स्वयं त्यागने योग्य ही हैं। परन्तु जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादिक हैं वह सम्पूर्ण अपराधरूप विषके दोषोंके क्रम करनेमें समर्थ होनेसे यद्यपि अमृतकुम्भ भी हैं तो भी प्रतिक्रमणादि और अप्रतिक्रमणादिसे विलक्षण तृतीय भूमिको न देखनेवाले पुरुषके स्वकीय कार्यके करनेमें असमर्थ होने तथा विपक्षकार्यके करनेके कारण वे विषकुम्भ ही हैं। वह अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीय भूमि स्वयं शुद्धात्माकी सिद्धिस्वरूप होनेके कारण सम्पूर्ण अपराधरूपी विषके दोषोंको समूल नष्ट करनेमें समर्थ है। इसलिये स्वयं साक्षात् अमृतकुम्भ है। इस तरहसे वह व्यवहारसे द्रव्यप्रतिक्रमणादिक भी अमृतकुम्भपनको सिद्ध करती है। इसी तृतीय भूमिके द्वारा आत्मा निरपराध होता है। इस तृतीय भूमिके अभावमें द्रव्यप्रतिक्रमणादिक भी अपराध ही हैं। अतएव तृतीय भूमिके द्वारा ही निरपराधपन होता है यह सिद्ध होता है और उसकी प्राप्तिके लिए ही यह द्रव्यप्रतिक्रमणादिक हैं। इससे यह नहीं मानना कि श्रुति प्रतिक्रमणादिकका त्याग करा रही है किन्तु वह द्रव्यप्रतिक्रमणादिकको छोड़ नहीं रही है। इसके अतिरिक्त प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमणादिक के अगोचर अप्रतिक्रमणादिरूप शुद्धात्माकी सिद्धि ही जिसका लक्षण है, ऐसे अनिर्वचनीय अत्यन्त दुष्कर कार्यको भी कराती है।

भावार्थ—अप्रतिक्रमण तो विषकुम्भ है किन्तु द्रव्यप्रतिक्रमण भी निश्चयनयकी अपेक्षासे विषकुम्भ है क्योंकि उससे शुद्ध आत्मस्वरूपकी सिद्धि नहीं होती। आत्मस्वरूपकी सिद्धि प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमणके विकल्पसे रहित तृतीय भूमिकाके आधीन है। इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिये कि शास्त्रमें प्रतिक्रमणका निषेध किया गया है। शास्त्रमें यह बताया जा रहा है कि जब तक यह जीव अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमणके कर्तृत्वसे नहीं छूटता तब तक शुद्धात्मा की सिद्धिको प्राप्त नहीं होता।

प्रतिक्रमणका स्वरूप इसी ग्रन्थसे आगे सर्वविशुद्धिअधिकारमें इस प्रकार कहा गया है—

> कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
> तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥ इत्यादि

अर्थात् पूर्वकालमें किये हुए जो शुभ-अशुभ अनेक विस्तारविशेषरूप कर्म हैं उनसे जो चेतयिता अपने आत्माको छुड़ाता है वह प्रतिक्रमणस्वरूप है।

[1]इस कथनसे प्रतिक्रमणके विकल्पको छोड़कर प्रमादी बन सुखसे बैठे हुए लोगोंका निराकरण किया गया है उनकी चपलता नष्ट की गई है उनका परद्रव्यसम्बन्धी बाह्य आलम्बन उखाड़ कर दूर किया गया है और जब तक सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वरूप आत्माकी उपलब्धि नहीं हो जाती तब तक चित्तको आत्मामें ही निबद्ध किया गया है ॥३०६-३०७॥

यहाँ निश्चयनयसे प्रतिक्रमणादिकको विषकुम्भ कहा है और अप्रतिक्रमणको अमृतकुम्भ

---

१ आत्मख्यातिकी इस गद्यको प्रचलित प्रकाशनोंमें कलशमें शामिलकर १८८वाँ नम्बर दे दिया गया है। पर वह कलशा नहीं है। आत्मख्यातिका गद्यांश ही है—

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनताम् प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालम्बनम् आत्मन्येवालानितं चित्तमासम्पूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ।

कहा है। इसलिये कोई विपरीतबुद्धि प्रतिक्रमणादिको छोड़ प्रमादी हो जावे तो उसे समझानेके लिये कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

यत्र प्रतिक्रमणमेव विष प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुत स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जन प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥१८८॥

अर्थ—जहाँ प्रतिक्रमणको ही विष कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण ही अमृत कैसे हो सकता है? इसलिये यह मनुष्य नीचे-नीचे पड़ता हुआ प्रमाद क्यों करता है? प्रमादरहित होकर ऊपर-ऊपर क्यों नहीं चढ़ता है?

भावार्थ—शुद्धात्माके अभावमें कृत दोषोंका निवारण करनेके लिये व्यवहारचारित्रमें प्रतिक्रमणादिका करना आवश्यक बताया है। परन्तु निश्चयचारित्रमें उस विकल्पको हेय कह कहा गया है। इसका अर्थ कोई विपरीतबुद्धि यह समझे कि प्रतिक्रमण तो हेय है, विषके कलशके समान है। अत प्रतिक्रमण नहीं करना ही श्रेयस्कर है तो उसे आचार्य महानुभावने समझाया है कि हे भाई! प्रतिक्रमणको छोड़ अप्रतिक्रमणमें आना तो ऊपरसे नीचे उतरना है, निष्प्रमाद-दशासे च्युत होकर प्रमाददशामें आना है। जहाँ प्रतिक्रमणको विषका कलश कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण अमृतका कलश कैसे हो सकता है? अप्रतिक्रमण तो हेय है ही। उसकी चर्चा ही क्या करना है। परन्तु शुद्धात्माकी सिद्धिके अभावमें केवल द्रव्यप्रतिक्रमणसे भी लाभ होनेवाला नहीं है। इसलिये उसका भी विकल्प छोड़ और ऊपर-ऊपरकी ओर चढ़कर निष्प्रमाददशाको प्राप्त होता हुआ उस उच्चभूमिको प्राप्त कर, जहाँ द्रव्यप्रतिक्रमणका भी विकल्प छूट जाता है ॥१८८॥

आगे प्रमादी मनुष्य शुद्धभावका धारक नहीं हो सकता, यह कहते हैं—

पृथ्वीछन्द

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते चाचिरात् ॥१८९॥

अर्थ—प्रमादसे सहित जो आलसी मनुष्य है वह शुद्धभावका धारक कैसे हो सकता है? क्योंकि [illegible] गुरुतासे जो आलस्य होता है वही तो प्रमाद कहलाता है। अतएव स्वरसमें भरे- [illegible] होता हुआ मुनि परम शुद्धताको प्राप्त होता है और शीघ्र ही मुक्त होता है।

कारण है। अतः 'प्रतिक्रमण विषकुम्भ है' निश्चयनयके इस कथनसे यह अभिप्राय लेना चाहिये कि द्रव्यप्रतिक्रमणका विकल्प छोड़ आत्मीयरससे भरे हुए स्वभावमें लीन होना कल्याणकारी है। जो मुनि इस तरह नियमपूर्वक स्वभावमें स्थिर रहता है अर्थात् अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण दोनोंका विकल्प छोड़ उच्चतम भूमिकामें स्थिर होता है वह अशुद्धताका कारण जो मोहकर्म है उसका क्षयकर परम शुद्धताको प्राप्त होता है और कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक देशोन कोटिवर्ष पूर्वमें अवश्य ही मुक्त हो जाता है—

अब मुक्त कौन होता है, यह कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
　　स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
　　च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१९०॥

अर्थ—जो मनुष्य निश्चयसे अशुद्धिको करनेवाले सम्पूर्ण परद्रव्यका स्वयं त्यागकर स्वद्रव्यमें रतिको प्राप्त होता है वह नियमसे सम्पूर्ण अपराधोंसे छूट जाता है और बन्धके ध्वंसको प्राप्त होकर नित्य उदयको प्राप्त स्वकीय ज्ञानज्योतिमें निर्मल उछलते हुए चैतन्यरूप अमृतके प्रवाहसे पूर्ण है महिमा जिसकी, ऐसा शुद्ध होता हुआ मुक्त होता है—बन्धनसे छूट जाता है।

भावार्थ—आत्मा स्वभावसे शुद्ध है। परन्तु अनादि कालसे उसके साथ कर्म-नोकर्मरूप परद्रव्यका जो सम्बन्ध लगा हुआ है उसके कारण यह अशुद्ध हो रहा है। उस अशुद्ध दशामें इसकी स्वरूपकी ओर दृष्टि नहीं जाकर सदा परद्रव्यमें ही लीन रहती है तथा सब प्रकारके अपराधोंसे यह युक्त रहता है। उस सापराध अवस्थामें नये-नये कर्मोंका बन्ध करता है तथा स्वकीय ज्ञान-स्वभावसे च्युत हो संसार भ्रमणका पात्र होता है। परन्तु जब इसे भान होता है कि यह समस्त परद्रव्य ही मेरी अशुद्धताके कारण हैं तब उनका संसर्ग छोड़कर स्वकीय आत्मद्रव्यमें प्रीति करता है। आत्मद्रव्यमें प्रीति होनेसे सब प्रकारके अपराधोंसे च्युत हो जाता है। रागादिक भाव ही वास्तविक अपराध हैं उनसे छूट जानेपर नये-नये कर्मोंका बन्ध स्वयं रुक जाता है तथा ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय होनेपर निरन्तर उदित रहनेवाली केवलज्ञानरूप ज्योति प्रकट हो जाती है। पहले रागादिका सम्मिश्रण रहनेसे ज्ञान-ज्योतिमें निर्मलताका अभाव था पर अब रागादिकके सर्वथा दूर हो जानेसे केवलज्ञानरूप ज्योतिमें अत्यन्त निर्मलता रहती है। इस समय निरन्तर उछलते हुए अर्थात् प्रतिसमय उल्लसित होते हुए चैतन्यरूपी अमृतसे इसकी महिमा पूर्णताको प्राप्त हो जाती है और यह कर्मकलङ्कसे सर्वथा रहित होनेके कारण शुद्ध होता हुआ मुक्त हो जाता है—संसारके बन्धनसे छूट जाता है ॥१९०॥

आगे पूर्णज्ञानकी महिमाका गान करते हुए कलशा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
　　न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।

एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१९१॥

अर्थ—कर्मबन्धके छेदसे जो अतुल तथा अविनाशी मोक्षको प्राप्त हुआ है जिसकी सहज—स्वाभाविक अवस्था नित्य प्रकाशसे प्रकट हुई है, जो अत्यन्त शुद्ध हैं, एकाकार स्वरसके भारसे अत्यन्त गम्भीर है, धीर है अपनी अचल महिमामें लीन है, ऐसा पूर्ण ज्ञान सदा देदीप्यमान रहता है ॥१९१॥

इस प्रकार मोक्ष रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यविरचित समयप्राभृतमें मोक्षका वर्णन
करनेवाले आठवें अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ ॥८॥

९ सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

अब सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है

प्रथम ही ज्ञानपुञ्ज आत्माकी महिमा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥१९२॥

अर्थ—जो कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि समस्त भावोंको अच्छी तरह विनाशको प्राप्त करा कर प्रत्येक पदमें—प्रत्येक पर्यायमें बन्ध और मोक्षकी रचनासे दूरीभूत है द्रव्यकर्म तथा भावकर्मके नष्ट हो जानेसे जो अत्यन्त शुद्ध है जो आत्मिकरसके समूहसे पूर्ण पवित्र तथा स्थिर प्रकाशसे सहित है और जिसकी महिमा टङ्कोत्कीर्णरूपसे—स्थायिरूपसे प्रकट हुई है ऐसा यह ज्ञानका पुञ्ज आत्मा देदीप्यमान है।

भावार्थ—सम्पूर्ण कर्तृत्व आदि भावोंसे उत्तीर्ण सर्वविशुद्ध भावात्मक आत्माका इस सर्वविशुद्ध अधिकारमें वर्णन है। इसलिये सर्वप्रथम उस ज्ञानपुञ्ज आत्माका इसमें स्तवन किया गया है जिसने कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि भावोंका नाश कर दिया है। पहले अज्ञान अवस्थामें यह आत्मा कर्मोंका कर्ता और भोक्ता बनता था परन्तु सम्यग्ज्ञानके प्रकट होने पर अब यह अपने आपको कर्मोंका कर्ता और भोक्ता नहीं मानता। पहले अज्ञानदशामें कर्मोंके बन्ध और मोक्षके विकल्पमें पड़ा हुआ था पर अब निश्चयदृष्टि प्रकट होने पर बन्ध और मोक्षके विकल्पसे दूर हो गया है। पहले द्रव्यकर्म और भावकर्मके साथ सम्बन्ध होनेसे अशुद्ध हो रहा था परन्तु अब उभयविध कर्मोंका सम्बन्ध छूट जानेसे अत्यन्त शुद्धताको प्राप्त हो गया है। पहले इसका क्षायोपशमिक ज्ञानरूपी प्रकाश रागद्वेषसे संपृक्त होनेके कारण अपवित्र तथा अस्थिर था परन्तु अब इसका क्षायिकज्ञानरूपी प्रकाश रागद्वेषसे सर्वथा रहित होनेके कारण पवित्र और स्थिर है। पहले इसका ज्ञानादिरूप वैभव मेघमण्डलमें छिपी विद्युल्लताके समान प्रकट होता और फिर तिरोहित होता रहता था पर अब इसका ज्ञानादिरूप वैभव टांकीसे उकेरे हुएके समान सदाके लिये प्रकट हो चुका है। ऐसा यह ज्ञानपुञ्ज—अनन्तज्ञानकी राशिस्वरूप आत्मा प्रकट हो रहा है ॥१९२॥

अब आत्मामें कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अभाव सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ॥१९३॥

अर्थ—भोक्तापनके सदृश कर्तापन भी आत्माका स्वभाव नहीं है। अज्ञानसे ही आत्मा कर्ता भासमान होता है और अज्ञानके अभावमें अकारक ही है—कर्ता नहीं है।

भावार्थ—जीवत्व गुणके समान कर्तृत्व आत्माका स्वभाव नहीं है क्योंकि कर्तृत्व यदि आत्माका स्वाभाविक गुण होता तो मुक्तावस्थामें भी इसका अस्तित्व पाया जाता। अत यह प्रतीत होता है कि मोहादि विभावभावोंका निमित्त पाकर अज्ञानी आत्मा कर्ता बनता है, परमार्थसे कर्ता नहीं है। जैसे मद्यपायी मद्यके नशामें उन्मत्त बनता है, स्वभावसे उन्मत्त नहीं होता। यहाँ पर इसे स्पष्ट करनेके लिये एक उदाहरण है—

एक बार एक राजा हाथी पर बैठा हुआ मन्त्रीके साथ वनक्रीडाके लिए जा रहा था। मार्गमें एक तन्तुवाय भी मद्यपान कर जा रहा था। राजाको देखकर वह कहता है कि क्यों रे हाथी बेचेगा? क्या मूल्य लेगा? राजा इस वाक्यको श्रवणकर एकदम क्रोधित हो, उसे दण्ड देनेकी आज्ञा देना ही चाहता था कि मन्त्रीने कहा—महाराज! दो घण्टेके अनन्तर ही इसे दण्ड देनेकी आज्ञा दीजिये, अभी यह वशक अपनेमें नहीं है। राजाने मन्त्रीके वाक्यको श्रवणकर 'तथास्तु' कहा। अनन्तर वह राजा वनविहारसे निवृत्त होकर जब राजसभामें सिंहासनारूढ हुआ तब मन्त्रीकी आज्ञासे वह मद्यपायी तन्तुवाय बुलाया गया। महाराजने उससे प्रश्न किया—हाथी खरीदोगे? वह बेचारा महाराजके वाक्य श्रवणकर कम्पित हो गया और कर मुकुलितकर नम्रीभूतमस्तक हो विनयके साथ उत्तर देता है—भो प्रभो! हाथी खरीदनेवाला तो अभी नहीं है, वह भाव तभी तक था जब तक मद्यका नशा था। इसी तरह जब तक यह आत्मा मोह-मदिराके नशामें उन्मत्त रहता है तब तक ही परपदार्थोंका कर्ता बनता है। उस नशामें संसारके पदार्थोंका कर्ता आप तो बनता है सो ठीक ही है परन्तु निर्विकार आनन्दस्वरूप विज्ञानघन [illegible]भूत जो परमात्मा है उसमें भी इस अज्ञानदशामें जायमान कर्तापनका आरोप करता है। अज्ञानदशामें जो-जो विकार न हों, सो थोड़े हैं। इसीसे कल्याणमन्दिरमें कहा है—

> त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।
> किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शङ्खो नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण॥

हे विभो! अज्ञानान्धकारसे रहित आपको ही अन्यवादीजन हरि, हर आदिकी [illegible]—ब्रह्मा, हरि, हर आदि समझकर आपकी उपासना करते हैं। सो ठीक ही [illegible] काचकामल आदि रोगोंसे सहित लोगोंके द्वारा सफेद शङ्ख भी क्या नानाप्रकारके [illegible] नहीं ग्रहण किया जाता? अवश्य किया जाता है॥१२३॥

अब आगे दृष्टान्तपूर्वक आत्माका अकर्तापन सिद्ध करते हैं—

> दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
> जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह॥३०८॥
> जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते।
> तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि॥३०९॥
> ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
> उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि॥३१०॥

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥३११॥

(चतुष्कम्)

अर्थ—जो द्रव्य जिन गुणोंसे उत्पन्न होता है उसे उन गुणोंसे अभिन्न जानो। जैसे कि कटक आदि पर्यायोंसे उत्पन्न होता हुआ सुवर्ण उन पर्यायोंसे अभिन्न होता है[1]। आगममें जीव और अजीवद्रव्यके जो परिणाम—पर्याय कहे गये हैं उस जीव और अजीवद्रव्यको उन परिणामों—पर्यायोंसे अभिन्न जानो, क्योंकि आत्मा किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिये कार्य नहीं है और किसीको उत्पन्न नहीं करता, इसलिये कारण भी नहीं है। कर्मकी अपेक्षा कर्ता और कर्ताकी अपेक्षा कर्म उत्पन्न होते हैं, ऐसा नियम है। इस नियमको उल्लङ्घकर अन्य किसी प्रकार कर्ता और कर्मकी सिद्धि नहीं होती।

विशेषार्थ—निश्चयसे जीव क्रमनियमित अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। इसी प्रकार अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है जीव नहीं क्योंकि सब द्रव्योंका अपने परिणामोंके साथ तादात्म्य है। जिस प्रकार कि कङ्कण आदि पर्यायोंके साथ सुवर्णका तादात्म्य रहता है। इस तरह अपने परिणामोंसे उत्पन्न होनेवाले जीवका अजीवके साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है क्योंकि सभी द्रव्योंका अन्य द्रव्यके साथ उत्पाद्य-उत्पादकभावका अभाव है। उसके अभावमें अजीवके जीवका कर्मपना सिद्ध नहीं होता और उसके सिद्ध न होने पर जीवके अजीवका कर्तापन सिद्ध नहीं होता क्योंकि कर्ता और कर्म अन्यकी अपेक्षा सिद्ध न होकर स्वद्रव्यकी अपेक्षा ही सिद्ध होते हैं। इससे जीव अकर्ता ठहरता है।

ऐसा सिद्धान्त कुन्दकुन्ददेवने कर्तृकर्माधिकारमें भी स्पष्ट रीतिसे कहा है—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥

अर्थात् जो द्रव्य जिस स्वकीय द्रव्यस्वभावमें अथवा स्वकीय गुणमें वर्तता है वह द्रव्य अन्य द्रव्य और अन्य गुणमें संक्रमण नहीं कर सकता। यहाँ पर ऐसा तात्पर्य जानना चाहिये कि निमित्तकारणको पाकर परिणमनशील जो पदार्थ है वह अन्यरूप नहीं होता है। जैसे कुम्भकारके

---

1 यही सिद्धान्त श्रीकुन्दकुन्दस्वामीने प्रवचनसारके ज्ञानाधिकारमें कहा है—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥

जो द्रव्य जिस कालमें जिस परिणामरूप परिणमता है वह उस कालमें उससे तन्मय हो जाता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। इसलिये जब आत्मा धर्मरूप परिणमता है तब उसे धर्म जानना चाहिये। जैसे लोहेका गोला जिस कालमें अग्निमें तपानेसे अग्निरूप परिणम जाता है उस कालमें उसे अग्नि ही कहते हैं वैसे ही आत्मा जिस कालमें सम्पूर्ण रागादिक विभावोंसे विहीन धर्मरूप परिणमता है उस कालमें श्रीजिनेन्द्रने उसे धर्म कहा है।

योग और उपयोगके द्वारा मिट्टीका घटरूप परिणमन हो जाता है। एतावता कुम्भकार घटरूप नही होता, क्योकि घटपर्यायका उपादानकारण मिट्टी है। अत मिट्टीके अनुरूप घट होगा। उसी तरह जीव और पुद्गलमे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी जीवके परिणाममे उपादानकारण जीव और अजीवके परिणमनमे उपादानकारण अजीव है। अत: जीवका परिणमन जीवरूप और अजीवका परिणमन अजीवरूप ही होगा ॥३०८–३११

इसी सिद्धान्तको श्री अमृतचन्द्रस्वामी कलशा द्वारा कहते है—

शिखरिणीछन्द

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्ध स्वरसत
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवन ।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्ध: प्रकृतिभि
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥१९४॥

अर्थ—जो स्वभावसे शुद्ध है तथा देदीप्यमान चैतन्यरूप ज्योतिके द्वारा जिसने ससारके विस्ताररूप भवनको व्याप्त कर लिया है, ऐसा यह आत्मा परद्रव्योका अकर्ता है, यह निश्चित है। फिर भी इस ससारमे कर्मप्रकृतियोके साथ इस जीवका जो बन्ध होता है वह निश्चयसे अज्ञानकी कोई अनिर्वचनीय गहन महिमा है।

भावार्थ—जीव स्वभावसे शुद्ध है और केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा समस्त लोक-अलोकको प्रकाशित करनेवाला है, इसलिये वह कर्मोका कर्ता नही है। फिर भी अनादिसे कर्मप्रकृतियोंके साथ जो इसका बन्ध हो रहा है वह अज्ञानकी ही वडी भारी महिमा है। निश्चयनयमे उत्पाद्योत्पादकभावकी मुख्यतासे कथन होता है और वह उत्पाद्योत्पादकभाव एक द्रव्यमे ही बनता है, अन्य द्रव्यमे नही। इसलिये निश्चयनयसे जीव कर्मोका कर्ता नही है। परन्तु व्यवहारनयमे निमित्त-नैमित्तिकभावकी मुख्यतासे कथन होता है और वह निमित्त-नैमित्तिकभाव अन्य द्रव्योमे बनता है। इसलिये व्यवहारनयसे जीव कर्मोका कर्ता है। इस प्रकार नयविवक्षासे कथन जानना चाहिये ॥१९४॥

अब इस अज्ञानकी महिमाको प्रकट करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

चेया उ पयडियट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥
एवं बंधो उ दुण्हं अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥

(युग्मम्)

अर्थ—[illegible] आत्मा, ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंके निमित्तसे उत्पन्न होता है [illegible] होता है तथा प्रकृति भी उसी रूपसे—आत्मपरिणामभूत [illegible]

ज्ञान होनेसे अज्ञानी है, आत्मा और परमे एकपनके दर्शनसे मिथ्यादृष्टि है तथा आत्मा और परमे एकपनकी परिणतिमे असयत है और तभी तक पर तथा आत्मामे एकपनका निश्चय करनेसे कर्ता होता है। परन्तु जिसकालमे यही आत्मा अपने-अपने प्रतिनियत लक्षणोका ज्ञान होनेसे आत्माके बन्धका निमित्त जो प्रकृतिस्वभाव है उसे छोड़ देता है उस कालमे आत्मा और परपदार्थके भेद-ज्ञानसे ज्ञायक होता है, आत्मा और परको भिन्न-भिन्न देखनेसे दर्शक होता है, आत्मा और परकी भिन्न-भिन्न परिणति होनेसे संयत होता है और उसी समय पर और आत्मामे एकपनका अध्यवसाय न करनेसे अकर्ता होता है ॥३१४-३१५॥

अब कर्तृत्वकी तरह भोक्तृत्व भी आत्माका स्वभाव नही है, यह कलशामे दिखाते हैं—

अनुष्टुप्

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृत कर्तृत्ववच्चित ।
अज्ञानादेव भोक्ताऽयं तदभावादवेदक ॥१९५॥

अर्थ—जैसे कर्तापन आत्माका स्वभाव नही है वैसे भोक्तापन भी आत्माका स्वभाव नही है। अज्ञानसे ही आत्मा भोक्ता होता है और अज्ञानके अभावमे यह अभोक्ता ही है।

भावार्थ—जिस नयसे आत्मा कर्मोका अकर्ता है उस नयसे आत्मा कर्मोका अभोक्ता भी है और जिस नयसे कर्मोका कर्ता है उस नयसे भोक्ता भी है ॥१९५॥

आगे यही भाव गाथामे कहते हैं—

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उदियं ण वेदेइ ॥३१६॥

अर्थ—अज्ञानी जीव प्रकृतिके स्वभावमे स्थित होता हुआ कर्मफलको वेदता है—भोगता है। परन्तु ज्ञानी जीव उदयागत कर्मफलको जानता तो है पर भोगता नही है।

विशेषार्थ—अज्ञानी जीव, शुद्धात्मज्ञानका अभाव होनेके कारण निज और परके एकत्व [illegible], निज और परके एकत्व दर्शनसे तथा निज और परमे एकत्वकी परिणति होनेसे प्रकृति-स्वभावमे—[illegible] स्थित है। अत प्रकृतिस्वभावका अहंभावसे अनुभव करता हुआ [illegible] भोक्ता [illegible] है। परन्तु ज्ञानी जीव शुद्धात्मज्ञानके सद्भावके कारण निज और परके [illegible] भिन्न [illegible], भेददर्शनसे तथा निज और परमे भिन्न परिणति होनेसे प्रकृतिस्वभाव[illegible] है। [illegible] शुद्धात्मस्वभावका ही अहंभावसे अनुभव करता हुआ [illegible] जानता ही है, किन्तु अहंभावसे उसका अनुभव करना [illegible] है।

असंभव है। इसीसे जो कर्मफल उत्पन्न आता है उसका भोक्ता बनता है। किन्तु ज्ञानी जीवके मिथ्यात्वभावके अभावसे सम्यग्ज्ञानता उत्पन्न है। अतः वह भिन्न भिन्न पदार्थोंको जानता है और उनके परिणमनसे अपने परिणमनको भी भिन्न जानता है। अतः उत्पन्न आये कर्मफलको जानता है अर्थात् उनके द्वारा जो सुख-दुःख होता है उसको जानता तो है पर करता नहीं है ॥३१६॥

आगे यही भाव कलशमें कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥१९६॥

अर्थ—अज्ञानी जीव प्रकृतिस्वभावमें रत होनेसे नित्य ही भोक्ता है और ज्ञानी जीव प्रकृतिस्वभावसे विरत होनेसे कदाचित् भी भोक्ता नहीं होता है। इस प्रकारके नियमको जानकर ज्ञानी पुरुष अज्ञानीपनको छोड़ें और शुद्ध एक आत्मस्वरूप तेजमें स्थिर होकर ज्ञानीपनका सेवन करें।

भावार्थ—कर्मविपाकसे जायमान विकारको अज्ञानी जीव आत्माका स्वभाव जानता है, अतः वह उसका भोक्ता बनकर हर्ष विषादका अनुभव करता है। परन्तु ज्ञानी जीव एक ज्ञानरूप चिन्मात्र ज्योतिको ही आत्माका स्वभाव समझता है, इसलिये उसमें लीन रहता है और कर्मविपाकसे जायमान रागादि विकारीभावोंको पर मानता है इसलिये उनमें लीन नहीं रहता। ज्ञानका विषय होनेसे वह उन्हें जानता तो है परन्तु उनका भोक्ता नहीं होता है ॥१९६॥

आगे अज्ञानी भोक्ता ही है ऐसा नियम करते हैं—

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि ।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति ॥३१७॥

अर्थ—अभव्य जीव सम्यक्प्रकारसे शास्त्रोंका अध्ययन करके भी कर्मकी विपाकावस्थामें जायमान विभावभावोंको अपना माननेरूप स्वभावको नहीं छोड़ता सो ठीक ही है क्योंकि साँप गुड़ और दुग्धका पान करते हुए भी निर्विष नहीं होते।

विशेषार्थ—जिसप्रकार विषधर सर्प स्वकीय विषपनको न तो अपने आप छोड़ता है और न विषभाजनमें मधुर शर्करा सहित दुग्धपानसे ही छोड़ता है। इसीप्रकार अभव्य जीव प्रकृतिके निमित्तसे जायमान रागादिक विकारभावोंको न तो स्वयमेव छोड़ता है और न रागादिकके उत्पन्न करनेमें समर्थ द्रव्यश्रुतज्ञानसे भी उन्हें छोड़ता है क्योंकि भावश्रुतज्ञानरूप शुद्धात्मज्ञानके अभावसे वह अज्ञानी ही है। अतः नियम किया जाता है कि प्रकृतिस्वभावमें स्थित होनेसे अज्ञानी भोक्ता ही है ॥३१७॥

आगे ज्ञानी अभोक्ता ही है, ऐसा नियम करते हैं—

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेइ ।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण सो होई ॥३१८॥

अर्थ—वैराग्यभावको प्राप्त जो ज्ञानी आत्मा है वह बहुत प्रकारके मधुर और कटुक भेदरूप कर्मफलको जानता है, इसलिये अभोक्ता है।

विशेषार्थ—ज्ञानी जीव अभेदरूप भावश्रुतज्ञान नामक शुद्धात्मज्ञानका सद्भाव होनेसे परपदार्थमें अत्यन्त विरक्त है, इसलिये वह प्रकृतिस्वभावको स्वयमेव त्याग देता है, ज्ञाता होनेके कारण उदयमें आये हुए अमधुर और मधुर—अनिष्ट और इष्ट कर्मफलको केवल जानता ही है, क्योंकि इसप्रकारका ज्ञान होनेपर परद्रव्यका अहंभावसे अनुभव नही किया जा सकता, इसलिये भोक्ता नहीं है। अतएव प्रकृतिस्वभावसे विरक्त होनेके कारण ज्ञानी अभोक्ता ही है ॥३१८॥

अब यही भाव कलशामें दिखाते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम् ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥१९७॥

अर्थ—ज्ञानी न तो कर्मका कर्ता है और न भोक्ता है, केवल उनके स्वभावको निश्चयसे जानता ही है। परपदार्थको जाननेवाले ज्ञानी जीवके परपदार्थके प्रति कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अभाव होनेसे वह अपने शुद्धस्वभावमें निमग्न है, अतः मुक्त ही है।

भावार्थ—निश्चयनयसे ज्ञानी जीव अपने स्वभावका ही कर्ता और भोक्ता होता है। [illegible] कर्मरूप परद्रव्यका न तो कर्ता है और न भोक्ता है, केवल ज्ञाता ही है, इसीसे वह [illegible] लीन रहता है। शुद्धस्वभावमें लीन रहनेसे वह मुक्त ही कहा जाता है ॥१९७॥

आगे इसी अर्थको फिर भी कहते हैं—

ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं ।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥३१९॥

प्राणियोंको विष्णु करता है और इसी तरह यदि मुनियोंकी श्रद्धा हो कि षट्कायके जीवोंको करनेवाला आत्मा है तो लौकिक मनुष्य और मुनियोंका एक ही सिद्धान्त हुआ, कोई विशेषता नहीं दिखाई देती, क्योंकि लौकिक मनुष्योंके मतमें विष्णु करता है और मुनियोंके मतमें आत्मा करता है। इसप्रकार लौकिक मनुष्य और मुनि इन दोनोंका कोई भी मोक्ष दिखाई नहीं देता, क्योंकि दोनों ही देव, मनुष्य और असुरोंसे सहित लोकोंको नित्य ही करते हुए प्रवर्तते हैं।

विशेषार्थ—जो आत्माको कर्ता ही मानते हैं वे लोकोत्तर (मुनि) होकर भी लौकिकपनका उल्लंघन नहीं करते हैं अर्थात् लौकिक ही हैं, क्योंकि लौकिकजनोंका परमात्मा विष्णु, देव-नारकी आदि कार्योंको करता है और लोकोत्तरजनोंका स्वात्मा देव,नारकी आदि कार्योंको करता है। इसप्रकार यह खोटा सिद्धान्त दोनोंका एक समान है। इसलिये आत्माको नित्य-कर्ता माननेसे लौकिकजनोंके समान उन लोकोत्तरपुरुषोंको भी मोक्ष नहीं हो सकता ॥३२१-३२३॥

अब आत्मा और परद्रव्यमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, यह दिखानेके लिये कलशा कहते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥१९९॥

अर्थ—परद्रव्य और आत्मामें परस्पर समस्त सम्बन्ध नहीं है, अतः कर्तृ-कर्मत्व सम्बन्धका भी अभाव है और उसके अभावमें आत्मा परद्रव्यका कर्ता कैसे हो सकता है ? ॥१९९॥

आगे परद्रव्य मेरा नहीं है, यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं—

ववहारभासिएण उ परदव्वं मम भणंति अविदियत्था ।
जाणंति णिच्छयेण उ ण य मह परमाणुमित्तमवि किंचि ॥३२४॥
जह को वि णरो जंपइ अम्हं गामविसयणयररट्ठं ।
ण य होंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा ॥३२५॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवइ एसो ।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ ॥३२६॥
तम्हा ण मे त्ति णिच्चा दोह्ण वि एयाण कत्तविवसायं ।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं ॥३२७॥

(युग्मम्)

हमारा ग्राम है, देश है, नगर है, तथा राष्ट्र है। पर वे ग्रामादिक उसके नहीं हैं, वह मोहसे उन्हें अपना मानता है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव भी परद्रव्यको जानता हुआ 'यह मेरा है' इस तरह उसे अपना मानने लगे तो वह मिथ्यादृष्टि ही है, इसमें सन्देहके लिये स्थान नहीं है। इसलिये ज्ञानी जीव 'परद्रव्य मेरा नहीं है' ऐसा जानकर लौकिकजन और मुनि इन दोनोंका परद्रव्यके विषयमें जो कर्तृत्वका व्यवसाय है उसे मिथ्यादृष्टियोंका ही व्यवसाय जानता है।

विशेषार्थ—अज्ञानी जीव ही केवल व्यवहारमें विमूढ होकर 'परद्रव्य मेरा है' ऐसा देखते हैं। परन्तु निश्चयनयके द्वारा प्रतिबोधको प्राप्त हुए ज्ञानी जीव परद्रव्यके कणिकामात्रको भी 'यह मेरा है' ऐसा नहीं देखते हैं। इसलिये जिसप्रकार इस लोकमें व्यवहार द्वारा विमुग्ध परकीय ग्रामवासी कोई मनुष्य दूसरेके ग्रामको 'यह हमारा ग्राम है' ऐसा देखता हुआ मिथ्यादृष्टि है उसी प्रकार यदि ज्ञानी जीव भी किसी तरह व्यवहारमें मुग्ध होकर 'यह परद्रव्य हमारा है' ऐसा यदि देखने लगे तो उससमय वह भी निःसन्देह परद्रव्यको अपना करता हुआ मिथ्यादृष्टि ही होगा। इसलिये तत्त्वको जाननेवाले पुरुषको 'सम्पूर्ण परद्रव्य मेरा द्रव्य नहीं है' ऐसा जानकर लौकिकजन और मुनि दोनोंका जो यह परद्रव्यमें कर्तृत्वका व्यवसाय है वह उनके सम्यग्दर्शनसे रहित होनेके कारण ही हो रहा है ऐसा निश्चित जानना चाहिये ॥३२४–३२७॥

अब इसी भावको कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ॥२००॥

अर्थ—यतः इस संसारमें एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सभी सम्बन्ध निषिद्ध किया गया है इसलिये वस्तुभेदके रहते हुए अर्थात् दो पृथक् द्रव्योंमें कर्तृ-कर्मव्यवहारकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव हे मुनियो! और हे लौकिकजनो! तुम तत्त्व अकर्तृरूप देखो।

भावार्थ—संसारके सब पदार्थ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको लिये हुए स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। कोई अपने चतुष्टयको परके चतुष्टयके साथ परिवर्तित करनेके लिए समर्थ नहीं है, इसलिये किसी अन्य पदार्थका किसी अन्य पदार्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तरह दो पृथक् सिद्ध पदार्थोंमें जब सभी प्रकारके सम्बन्धोंका निषेध हो गया तब उनमें कर्तृ-कर्मसम्बन्ध कैसे बन सकता है? निश्चयसे कर्तृ-कर्मसम्बन्ध एक ही वस्तुमें बनता है क्योंकि जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है और जो उसका परिणाम है वह कर्म कहलाता है। इस स्थितिमें आत्मा परपदार्थोंका कर्ता नहीं हो सकता और परपदार्थ आत्माका कर्म नहीं हो सकता। इसलिये आचार्य महानुभावने मुनियों तथा लौकिकजनों—दोनोंको सम्बोधित करते हुए कहा है कि तुम आत्मतत्त्वको परद्रव्यका अकर्ता ही समझो ॥२००॥

अब भावकर्मका कर्ता चेतन ही है, यह दिखानेके लिए कलशा कहते हैं—

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३४६॥
जो चेव कुणइ सो चिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४७॥
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४८॥

(चतुष्कम्)

अर्थ—क्योंकि जीव नामक पदार्थ कितनी ही पर्यायोंके द्वारा विनाशको प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायोंके द्वारा विनाशको प्राप्त नही होता, इसलिये वही जीव करता अथवा अन्य जीव करता है, ऐसा एकान्त नही है। क्योंकि जीव नामक पदार्थ कितनी ही पर्यायोंसे नाशको प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायोंसे नाशको प्राप्त नही होता, इसलिये वही जीव भोगता है या अन्य जीव भोगता है, ऐसा एकान्त नही है। जो जीव करता है वही नहीं भोगता है, ऐसा जिसका सिद्धान्त है, उस जीवको मिथ्यादृष्टि तथा अर्हन्तके मतसे बाह्य जानना चाहिये। अन्य जीव करता है और अन्य जीव भोगता है, यह जिसका सिद्धान्त है, उस जीवको मिथ्यादृष्टि तथा अर्हन्तके मतसे बहिर्भूत जानना चाहिये।

अब इसी अर्थको कलशमें दिखाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः ।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः [1]शुद्धर्जुसूत्रेरितै-
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥२०७॥

अर्थ—सर्वथा शुद्ध आत्माकी इच्छा करनेवाले अज्ञानी बौद्धोंने अतिव्याप्तिको प्राप्त होकर तथा कालकी उपाधिके बलसे उस आत्मामें भी अधिक अशुद्धता आती है ऐसा मान कर शुद्ध ऋजुसूत्रनयसे प्रेरित हो चैतन्य क्षणिक ही है ऐसी कल्पना की है। सो जिस प्रकार सूत्ररहित केवल मोतियोंको देखनेवाले मनुष्य जिसप्रकार हारको छोड़ देते हैं अर्थात् उनकी दृष्टिमें मोती ही आते हैं हार नहीं, उसी प्रकार आश्चर्य है कि उन बौद्धोंने इस आत्माको छोड़ दिया है। अर्थात् उनकी दृष्टिमें आत्माकी शुद्ध ऋजुसूत्रनयकी विषयभूत समयमात्रव्यापी पर्याय ही आती है सब पर्यायोंमें अन्वयरूपसे व्याप्त रहनेवाला आत्मा नहीं आता।

भावार्थ—आत्माको सम्पूर्णरूपसे शुद्ध अर्थात् परनिरपेक्ष माननेके इच्छुक बौद्धोंने विचार किया कि यदि आत्माको नित्य माना जावे तो उसमें कालकी अपेक्षा आती है इसलिये कालकी उपाधिके बलसे उसमें अधिक अशुद्धता आ जावेगी और ऐसी अशुद्धता आत्मातिरिक्त द्रव्योंमें भी पाई जाती है। अतः अतिव्याप्ति दोष आवेगा इस भयसे उन्होंने शुद्ध ऋजुसूत्रनयका विषय जो वर्तमान पर्याय है उतना ही क्षणिक चैतन्य है ऐसी कल्पना की है। इस कल्पनासे उन्होंने मात्र पर्यायोंका तो ग्रहण किया है परन्तु उन पर्यायोंका आधारभूत जो आत्मा है उसे छोड़ दिया है। जिस प्रकार अनेक मोतियोंको एक सूत्रमें गुम्फनकर हार बनाया जाता है वहाँ जो मनुष्य केवल मोतियोंको देखते हैं, सूत्रको नहीं देखते वे हारके लाभसे वञ्चित रहते हैं क्योंकि सूत्रके बिना केवल मोतियोंसे हारकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। इसी प्रकार जो मनुष्य आत्माकी समय-समयव्यापी पर्यायोंको तो देखते हैं परन्तु उन सब पर्यायोंमें अनुस्यूत रहनेवाले द्रव्यको नहीं देखते वे आत्मासे वञ्चित हैं। दृश्यमान पुद्गलद्रव्यके समान आत्मा भी द्रव्य और पर्यायरूप ही प्रत्येक ज्ञानी जीवके अनुभवमें आ रहा है फिर भी बौद्धोंकी दृष्टि इस परमार्थसत्यकी ओर नहीं जाती। अतएव आचार्यने उन्हें अन्धक और पृथुक (बालक-अज्ञानी) जैसे शब्दोंसे निर्दिष्ट किया है। तथा प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुस्वरूपका अपलाप करनेके कारण अहो शब्दके द्वारा आश्चर्य प्रकट किया है ॥ २०७ ॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिन्त्यताम् ।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ॥ २०८ ॥

---

१ शुद्धर्जुसूत्रेरितैः इत्यपि पाठः ।

अर्थ—कर्ता और भोक्तामें युक्तिके वशसे भेद हो अथवा अभेद हो, जो कर्ता है वह भोक्ता होवे अथवा न होवे, मात्र वस्तुका ही विचार किया जावे, चतुर मनुष्योंके द्वारा सूतमें गुम्फित मणियोंकी मालाके समान जो कहीं भेदी नहीं जा सकती, ऐसी ज्ञानी मनुष्योंके द्वारा आत्मामें गुम्फित यह एक चैतन्यरूप चिन्तामणिरत्नोंकी माला ही मेरे सब ओर सुशोभित हो।

भावार्थ—वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप है। आत्मा भी वस्तु है, अतः वह भी द्रव्यपर्यायस्वरूप है। जब द्रव्यकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब जो कर्ता है वही भोक्ता है, यह विकल्प आता है और जब पर्यायकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब जो कर्ता है वह भोक्ता नहीं है, ऐसा विकल्प आता है। आचार्य कहते हैं कि नयविवक्षासे वस्तु जैसी है वैसी रहे, उस विकल्पमें न पड़कर मात्र वस्तुका चिन्तन करना चाहिये। जिस प्रकार चतुर मनुष्योंके द्वारा सूतमें पिरोये हुए मणियोंकी माला भेदरूप न होकर अभेदरूपमें एक माला ही मानी जाती है उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्योंके द्वारा आत्मामें अनुभूत जो चैतन्यगुणरूप चिन्तामणिरत्नोंकी माला है वह भेदरूप न होकर अभेद-रूप एक चेतनद्रव्य ही है। आचार्य इच्छा प्रकट करते हैं कि यह एक अखण्ड चेतनद्रव्य ही मेरे लिये उज्ज्वल हो अर्थात् तथाभूत ही मेरी परिणति हो॥ २०८॥

आगे व्यवहार और निश्चयदृष्टिसे कर्ता-कर्मका प्रतिपादन करनेके लिये कलशा कहते हैं—

रथोद्धताछन्द

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते॥ २०९॥

अर्थ—केवल व्यवहारनयकी दृष्टिसे ही कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। यदि निश्चयनयसे वस्तुका विचार किया जाता है तो कर्ता और कर्म सदा एक ही माने जाते हैं।

भावार्थ—पर्यायाश्रित होनेसे व्यवहारनय भेदको विषय करता है और द्रव्याश्रित होनेसे निश्चयनय अभेदको विषय करता है। इसलिये व्यवहारनयकी दृष्टिसे जब निरूपण होता है तब कर्ता और कर्म पृथक्-पृथक् कहे जाते हैं, जैसे कुम्हार घटका कर्ता है। और निश्चयनयकी दृष्टिसे जब निरूपण होता है तब कर्ता और कर्म एक ही कहे जाते हैं, जैसे मिट्टी घटका कर्ता है॥ २०९॥

आगे इसी बातको गाथाओंमें कहते हैं—

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वइ ण य सो दु तम्मओ होइ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होइ॥३४९॥

जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वइ ण य सो दु तम्मओ होइ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ॥३५०॥

जह सिप्पिओ दु करणाणि गिण्हइ ण य सो दु तम्मओ होइ।
तह जीवो करणाणि दु गिण्हइ ण य तम्मओ होइ॥३५१॥

जह सिप्पिओ उ कम्मफल भुजदि ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो कम्मफल भुजइ ण य तम्मओ होइ ॥३५२॥
एव ववहारस्स उ वत्तव्व दरिसण समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयण परिणामकय तु ज होई ॥३५३॥
जह सिप्पिओ उ चिट्ठ कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से।
तह जीवो वि य कम्म कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ॥३५४॥
जह चिट्ठ कुव्वतो उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठतो दुही जीवो ॥३५५॥
(सप्तकम्)

अर्थ—जैसे सुनार आदि कारीगर कटक, केयूर आदि आभूषणोंको बनाता है परन्तु वह कारीगर उन कटक, केयूरादि आभूषणरूप नही हो जाता वैसे ही जीव भी ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मोंको करता है परन्तु उन कर्मोरूप नही हो जाता।

जिस प्रकार शिल्पकार हथौडा, सडासी आदि करणोके द्वारा आभूषणोंको बनाता है किन्तु उन करणोरूप नही परिणमता है। इसी प्रकार जीव मन-वचन-कायके व्यापाररूप करणोके द्वारा पुद्गलकर्मको करता है किन्तु उन करणोरूप नही हो जाता है।

जिस तरह शिल्पी हथौडा आदि करणोंको ग्रहण करता है किन्तु उन करणो स्वरूप नही हो जाता। उसी तरह जीव भी मन-वचन-कायके व्यापाररूप करणोको ग्रहण करता है, किन्तु तन्मय नही हो जाता है।

जैसे सुनार उन आभूषणोके फलस्वरूप ग्राम, धन आदि फलको भोगता है किन्तु उस फलस्वरूप नही होता है। वैसे ही यह जीव साता-असाता आदि कर्मोके उदयसे प्राप्त सुख-दुःखादिको भोगता है परन्तु तन्मय नही हो जाता है।

इस प्रकार व्यवहारनयका सिद्धान्त सक्षेपसे कहा गया। अब निश्चयनयके सिद्धान्तको सुनो, जो अपने परिणामसे किया जाता है।

जैसे शिल्पी आभूषण बनानेके लिये चेष्टाको करता है और उस चेष्टासे तन्मय हो जाता है। वैसे ही जीव भी अपने परिणामस्वरूप चेष्टाको करता है और उस चेष्टासे तन्मय हो जाता है उससे अन्य नही होता।

और जैसे शिल्पी चेष्टा करता हुआ निरन्तर दुःखी होता है और उस दुःखसे वह अभिन्न रहता है। वैसे ही अपने परिणामस्वरूप चेष्टाको करता हुआ जीव भी दुःखी होता है और उस दुःखसे वह कथचित् अभिन्न रहता है।

भावार्थ—जिस प्रकार सुवर्णकार आदि शिल्पी कुण्डलादि परद्रव्यके परिणामस्वरूप कर्मको करता है, हथौडा आदि परद्रव्यात्मक करणोके द्वारा करता है परद्रव्यात्मक हथौडा आदि करणोको ग्रहण करता है और उन कुण्डलादि आभूषणोंके बनानेसे जो ग्राम धन आदि फल मिलता है उसको भोगता है परन्तु वह अनेक द्रव्यरूप होनेके कारण उन करणादि परद्रव्योंसे भिन्न ही है

स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥२११॥

अर्थ—यद्यपि वस्तुकी स्वयं प्रकट होनेवाली अनन्त शक्तियाँ बाहर लोट रही हैं अर्थात् यह स्वयं अनुभवमें आ रहा है कि वस्तु अनन्त शक्तियोंका भण्डार है तो भी अन्य वस्तु किसी अन्य वस्तुके भीतर प्रवेश नहीं करती है क्योंकि सम्पूर्ण वस्तु अपने-अपने स्वभावमें नियत मानी जाती है। जब सब वस्तुएँ अपने अपने स्वभावमें नियत हैं तब इस संसारमें अज्ञानी जीव वस्तुको उसके स्वभावसे विचलित करनेमें आकुल होता हुआ खेदखिन्न क्यों होता है ?

भावार्थ—वस्तुमें अनन्त शक्तियाँ होती अवश्य हैं। पर उनमें ऐसी एक भी शक्ति नहीं है जिसके आधार पर एक वस्तु दूसरी वस्तुके भीतर प्रवेश कर सके, अर्थात् उस रूप हो सके। जबकि संसारकी समस्त वस्तुएँ अपने-अपने स्वभावमें नियत हैं अर्थात् अपने स्वभावको छोड़कर अन्य वस्तुके स्वभावका ग्रहण नहीं करती तब यह जीव आत्माको अपने स्वभावसे विचलित कर पुद्गलकर्मस्वरूप हो उसके कर्तृत्वका अहंकार क्यों धारण करता है ? जान पड़ता है कि उसके इस क्लेशका कारण अनादिकालसे साथ लगा हुआ मोह ही है ॥२११॥

रथोद्धताछन्द

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥२१२॥

अर्थ—क्योंकि इस संसारमें एक वस्तु अन्य वस्तुकी नहीं है इसलिये वह वस्तु उसी वस्तुरूप रहती है यह निश्चय है फिर बाहर लोटता हुआ भी अन्य पदार्थ अन्य पदार्थका क्या करता है ? अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थ—यहाँ वस्तुका अर्थ द्रव्य है। संसारका प्रत्येक द्रव्य अपना अपना चतुष्टय पृथक् पृथक् लिए हुए है इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप त्रिकालमें नहीं हो सकता। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अत्यन्ताभाव है यह नियम है। निश्चयकी दृष्टिमें कर्ता वही हो सकता है जो कर्मरूप परिणत हो सके। यदि जीवद्रव्यको पुद्गलकर्मका कर्ता माना जाय तो जीवद्रव्यको पुद्गलकर्मरूप परिणमन करना चाहिये पर ऐसा हो नहीं सकता। इसलिये जीव और पुद्गलकर्मका परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप संयोगसम्बन्ध होनेपर भी उनमें कर्तृ-कर्मभाव सिद्ध नहीं होता है। व्यवहारनय निमित्त-नैमित्तिकभावको ग्रहण करता है, इसलिये उस नयकी दृष्टिसे जीव पुद्गल-कार्मणवर्गणाओंमें कर्मरूप परिणमन करानेमें निमित्त होनेसे उनका कर्ता होता है और पुद्गलकर्म उसके कार्य होते हैं ॥२१२॥

रथोद्धताछन्द

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किंचनापि परिणामिनः स्वयम् ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥२१३॥

अर्थ—स्वयं परिणमन करनेवाली अन्य वस्तुका अन्य वस्तु कुछ करती है यह जो मत है, वह व्यावहारिक दृष्टिसे ही सम्पन्न होनेवाला मत है। निश्चयनयसे इस जगतमें अन्य वस्तुका अन्य कुछ भी नहीं है।

भावार्थ—संसारके प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनशील हैं। उनके उस परिणमनमें अन्य पदार्थ निमित्त होते हैं, इसलिये निमित्तप्रधान दृष्टिको अङ्गीकृत कर व्यवहारनय ऐसा कथन करता है कि अमुक वस्तु अमुक वस्तुकी कर्ता है। परन्तु जब निश्चयनयसे विचार होता है तब एक वस्तु दूसरी वस्तुरूप नहीं होती, इसलिये वह उसका कर्ता नहीं है, यह सिद्धान्त प्रकट होता है। निश्चयनय उपादानप्रधान दृष्टिको अङ्गीकृत कर कथन करता है ॥२१३॥

आगे इसी कथनको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं—

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥३५७॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु ॥३५८॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३५९॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सएण भावेण ॥३६१॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सइ जीवो वि सएण भावेण ॥३६२॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहइ णाया वि सएण भावेण ॥३६३॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मादिट्ठी सहावेण ॥३६४॥
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो ॥३६५॥

वैसे ही ज्ञायक जो आत्मा है वह स्वकीय स्वरूपसे भिन्न परपदार्थोंका जाननेसे ज्ञायक नहीं है किन्तु स्वयं ज्ञायक है।

जिस प्रकार सेटिका, भित्ति आदि परद्रव्यकी नहीं है। किन्तु सेटिका स्वयं सेटिका है उसी प्रकार दर्शक जो आत्मा है वह परके अवलोकनसे दर्शक नहीं है किन्तु स्वयं दर्शक है।

जिस तरह सेटिका, भित्ति आदि परद्रव्यकी नहीं है किन्तु सेटिका स्वयं सेटिका है उसी तरह संयत जो आत्मा है सो परपदार्थके त्यागसे संयत नहीं है किन्तु स्वयं ही संयत है—संयमी है।

जैसे सेटिका परवस्तुके सफेद करनेसे सेटिका नहीं है किन्तु सेटिका स्वयं सेटिका है वैसे ही परद्रव्यके श्रद्धानसे दर्शन नहीं है किन्तु दर्शन स्वयं ही दर्शन है।

इस प्रकारसे निश्चयनयका ज्ञान, दर्शन और चारित्रके विषयमें वक्तव्य है। अब इस विषयमें व्यवहारनयका जो वक्तव्य है उसे संक्षेपसे कहते हैं सो सुनो।

जैसे सेटिका अपने स्वभावसे ही भित्ति आदि परद्रव्यको सफेद करती है वैसे ही ज्ञाता आत्मा भी अपने ज्ञायकस्वभावसे परद्रव्यको जानता है।

जिस तरह सेटिका अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है उसी तरह जीव भी अपने स्वभावसे परद्रव्यका अवलोकन करता है।

जिस प्रकार सेटिका अपने स्वभावसे ही परद्रव्यको सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा भी अपने स्वभावसे परद्रव्योंका त्याग करता है अर्थात् परद्रव्योंका त्यागकर संयत होता है।

जिस तरह सेटिका अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है उसी तरह सम्यग्दृष्टि आत्मा भी अपने स्वभावसे परद्रव्यका श्रद्धान करता है।

इस प्रकार ज्ञान दर्शन और चारित्रके विषयमें व्यवहारनयका जो मत है वह कहा गया। इसी पद्धतिमें अन्य पर्यायोंके विषयमें भी व्यवहारनयका निर्णय जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ सेटिका श्वेतगुणसे पूरित स्वभाववाला द्रव्य है और उसके व्यवहारसे सफेद करने योग्य जो भित्ती आदिक हैं वह परद्रव्य हैं। अब यहाँपर इसीका विचार करते हैं—

सफेद करनेवाली जो सेटिका है वह सफेद करनेके योग्य भित्ति आदि परद्रव्यकी है या नहीं है? इस प्रकार श्वैत्य और श्वेतिका इन उभय तत्त्वोंकी मीमांसा की जाती है। यदि सेटिका भित्ति आदिकी है तो ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिसका होता है वह वही होता है अर्थात् उसी रूप होता है जैसे ज्ञान आत्माका है तो वह आत्मा ही होता है। इस सिद्धान्तके रहते हुए सेटिका यदि भित्ति आदिकी है ऐसा माना जाय तो उसे भित्ति आदि रूप ही होना चाहिये और ऐसा होनेपर *सेटिकाके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जावेगा अर्थात् सेटिका भित्ति आदिसे पृथक् कोई द्रव्य नहीं रहेगा* और ऐसा होता नहीं, क्योंकि द्रव्यान्तर संक्रमणका पहले ही निषेध कर चुके हैं। अतएव सेटिका भित्ति आदिकी नहीं है।

अब फिर आशङ्का होती है कि यदि सेटिका भित्ति आदिकी नहीं है तो किसकी है? इस आशङ्काका यह उत्तर है कि सेटिका सेटिकाकी ही है। इसपर पुनः आशङ्का होती है कि वह

अन्य सेटिका कौन-सी है, जिसकी कि यह सेटिका है ? इसका उत्तर यह है कि सेटिकासे अन्य सेटिका नहीं है किन्तु आप ही मे स्व और आप ही मे स्वामित्व अंश मानकर व्यवहारसे उपपत्ति कर लेनी चाहिये। तब कोई पुन पूछता है कि यहाँ स्व और स्वामि अंशके व्यवहारसे साध्य क्या है ? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है ? उसका उत्तर देते हैं कि कुछ भी नहीं। तब यही निश्चय हुआ कि सेटिका किसी अन्यकी नहीं है किन्तु सेटिका सेटिका ही है। जिस प्रकार यह दृष्टान्त है उसी प्रकार इस दृष्टान्तसे प्रतिफलित होनेवाले दार्ष्टान्तिक अर्थको जान लेना चाहिये।

यहाँपर जो चेतयिता है वह ज्ञानगुणसे पूरित स्वभाववाला द्रव्य है और व्यवहारसे पुद्गलादिक परद्रव्य उसके ज्ञेय है। अब यहाँपर ज्ञायक जो चेतयिता है वह ज्ञेयरूप पुद्गलादिक परद्रव्यका है अथवा नहीं है ? इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक इन उभय तत्त्वोंके सम्बन्ध पर विचार किया जाता है—यदि ऐसा माना जावे कि चेतयिता पुद्गलादिक परद्रव्यका है तो 'जो जिसका होता है वह उसी रूप होता है, जैसे ज्ञान आत्माका होता हुआ आत्मरूप ही होता है' इस तत्त्वसम्बन्धके जीवित रहते हुए चेतयिताको यदि पुद्गलादिकका माना जावे तो उसे पुद्गलादि-रूप भी हो जाना चाहिये और ऐसा होनेपर चेतयिताके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायगा अर्थात् चेतयिता अन्यरूप होकर अपने अस्तित्वको ही समाप्त कर देगा, क्योंकि द्रव्यान्तर संक्रमणका [illegible] निषेध कर आये है, अत द्रव्यका उच्छेद हो नहीं सकता। तब यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता पुद्गलादिक परद्रव्यका नहीं है। इस स्थितिमे यहाँ यह आशङ्का होती है कि यदि चेतयिता पुद्गलादिकका नहीं है तो किसका है ? उसका उत्तर यह है कि चेतयिता चेतयिताका ही है। इसपर पुन प्रश्न होता है कि वह अन्य चेतयिता कौन है जिसका कि चेतयिता होता है ? [illegible] उत्तर [illegible] कि चेतयितासे अन्य चेतयिता नहीं है किन्तु आप ही स्व और आप ही स्वामी है। [illegible] प्रकार आप ही मे अंश-अंशीकी कल्पनासे ऐसा व्यवहार होता है। कोई फिर पूछता है कि [illegible] और इस व्यवहारसे क्या साध्य है ? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है ? तो उसका [illegible] कि कुछ भी साध्य नहीं है। तब यही निश्चय हुआ कि ज्ञायक जो चेतयिता है वह [illegible] है किन्तु ज्ञायक ज्ञायकका ही अथवा चेतयिता चेतयिताका ही है अर्थात् ज्ञायक [illegible]—[illegible] स्वरूप ही ज्ञायक अथवा चेतयिता है।

नहीं ? [illegible] स्वस्व और स्वामी दो पदार्थोंके सम्बन्धकी मीमांसा की जाती है। यदि सेटिका भित्ति आदि परद्रव्यकी मानी जावे तो 'जो जिसका होता है वह उसी रूप होकर रहता है, जैसे ज्ञान आत्माका होता हुआ आत्मा रूप ही होता है' इस तत्त्वसम्बन्धके जीवित रहते हुए सेटिका यदि भित्ति आदिकी है तो उसे भित्ति आदि रूप ही होना चाहिये और ऐसा होनेपर सेटिकाके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जावेगा अर्थात् सेटिका भित्ति आदि रूप होकर अपनी सत्ता नष्ट कर देगी। परन्तु द्रव्यका उच्छेद हो नहीं सकता, क्योंकि द्रव्यान्तर संक्रमणका निषेध पहले किया जा चुका है। इससे यह निश्चय हुआ कि सेटिका भित्ति आदिकी नहीं है। तब आशङ्का होती है कि यदि सेटिका भित्ति आदिकी नहीं है तो किसकी है ? इसका उत्तर है कि सेटिकाकी ही सेटिका है। फिर आशङ्का होती है कि वह अन्य सेटिका कौन है जिसकी कि सेटिका होती है ? इसका उत्तर है कि सेटिकासे अन्य सेटिका नहीं है किन्तु स्व-स्वामी अंश ही अन्य है। कोई फिर पूछता है कि यहाँ [illegible] व्यवहारसे क्या साध्य है ? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? उसका उत्तर है कि कुछ भी नहीं। इससे यह निश्चय हुआ कि सेटिका किसी अन्यकी नहीं है, किन्तु सेटिका [illegible] ही है। जिस प्रकार यह दृष्टान्त है उसी प्रकार इससे प्रतिफलित होनेवाला दार्ष्टान्तिक है। जैसे-

[illegible] जो आत्मद्रव्य है सो ज्ञान-दर्शनगुणसे परिपूर्ण और परद्रव्यके अपोहन-[illegible] करनेवाला है तथा उसी आत्मद्रव्यके अपोह्यरूप पुद्गलादि परद्रव्य हैं। [illegible] अर्थात् [illegible] त्याग करनेवाला चेतयिता अपोह्य अर्थात् त्याग करने योग्य [illegible] है अथवा नहीं ? इस प्रकार अपोह्य और अपोहक इन दो तत्त्वोंके सम्बन्ध-[illegible] की जाती है।

निमित्तसे होनेवाले अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होती हुई भित्ति आदि परद्रव्यको, जो सटिकाके निमित्तसे अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है अपने स्वभावसे सफेद करती है ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावसे नहीं परिणमता है और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप नहीं परिणमाता है, किन्तु पुद्गलादि परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होता हुआ पुद्गलादि परद्रव्यको जो कि चेतयिताके निमित्तसे होनेवाले अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है अपने स्वभावसे जानता है, ऐसा व्यवहार होता है।

इसी प्रकार दर्शनगुणके साथ योजना करना चाहिये। जिस प्रकार श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली खटिका स्वयं भित्ति आदि परद्रव्यके स्वभावसे नहीं परिणमती और भित्ति आदि परद्रव्यको अपने स्वभावसे नहीं परिणमाती किन्तु भित्ति आदि परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होती हुई भित्ति आदि परद्रव्यको जो कि खटिकाके निमित्तसे होनेवाले अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है अपने स्वभावसे सफेद करती है ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावसे नहीं परिणमता और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप नहीं परिणमाता, किन्तु पुद्गलादि परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होता हुआ पुद्गलादि परद्रव्यको जो कि चेतयिताके निमित्तसे जायमान अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है अपने स्वभावसे देखता है ऐसा व्यवहार किया जाता है।

इसी प्रकार चारित्रगुणके विषयमें भी यही योजना करना चाहिये। जिस प्रकार श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली वही खटिका स्वयं भित्ति आदि परद्रव्यके स्वभावरूप नहीं परिणमती और भित्ति आदि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप नहीं परिणमाती किन्तु भित्ति आदि परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होती हुई भित्ति आदि परद्रव्यको जो कि खटिकाके निमित्तसे जायमान अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है अपने स्वभावसे सफेद करती है ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार ज्ञानदर्शनगुणसे परिपूर्ण तथा परके अपोहन—त्यागरूप स्वभावसे चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावरूप नहीं परिणमता और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप नहीं परिणमाता। किन्तु पुद्गलादि परद्रव्यके निमित्तसे जायमान अपने ज्ञानदर्शनगुणसे परिपूर्ण तथा परद्रव्यके अपोहन—त्यागरूप स्वभावके परिणामसे उत्पन्न होता हुआ पुद्गलादि परद्रव्यको जो कि चेतयिताके निमित्तसे होनेवाले अपने स्वभावके परिणामसे उत्पन्न हो रहा है अपने स्वभावसे अपोहित करता है—छोड़ता है ऐसा व्यवहार होता है। इस प्रकार यह आत्माके ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप पर्यायोंके निश्चय तथा व्यवहारका प्रकार है। इसी तरह अन्य सभी पर्यायोंके निश्चय और व्यवहारका प्रकार जानना चाहिये।

भावार्थ—जानना, देखना, श्रद्धान करना और त्याग करना ये सब आत्माके चैतन्यगुणके परिणाम हैं। निश्चयनयसे विचार करनेपर आत्मा परद्रव्यका ज्ञायक नहीं है, परद्रव्यका दर्शक नहीं है, परद्रव्यका श्रद्धायक नहीं है और परद्रव्यका अपोहक नहीं है। उसके ये सब भाव आप ही हैं क्योंकि आत्माका परिणमन आत्माश्रित है और परद्रव्यका परिणमन पराश्रित है। नैमित्तिक

चेतनत्व प्रतिफलित होते हैं तो क्या इससे वे उसके स्वभाव हो गये ? चाँदनीका धवल रूप पृथिवी को उज्ज्वल करता है तो क्या इससे पृथिवी चाँदनीरूप हो जाती है ? अर्थात् नहीं । इसी तरह ज्ञान ज्ञेयको जानता है परन्तु ज्ञेय कभी ज्ञानका नहीं होता ।

भावार्थ—यहाँ शुद्धद्रव्यका प्रयोजन आत्मद्रव्यसे है । उसका स्वरस अर्थात् निज स्वभाव चैतन्य है । वह आत्मद्रव्य सदा निज स्वभावरूप परिणमन कर रहा है । इस परिणमनसे शेष क्या बच रहता है जो उस स्वभावका कहा जावे ? यदि अन्य द्रव्य आत्मामें होते भी हैं अर्थात् ज्ञानकी स्वच्छताके कारण उसमें प्रतिफलित होते भी हैं तो इससे वे अन्य द्रव्य आत्माके स्वभाव नहीं हो सकते । जिस प्रकार चाँदनी पृथिवीको सफेद कर देती है तो क्या इससे पृथिवी चाँदनी हो जाती है ? नहीं, इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयको जानता है तो इससे क्या ज्ञेय ज्ञानका हो जाता है ? नहीं, सदा ज्ञान ज्ञान ही रहता है और ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है । यह प्रकरण निश्चयनयसे ज्ञायक और ज्ञेयके सम्बन्धका है । यहाँ आचार्यने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि निश्चयसे ज्ञायक आत्मा स्वयं ही ज्ञायक है परद्रव्यको जाननेके कारण ज्ञायक नहीं है क्योंकि परद्रव्य जो पुद्गलादि द्रव्य हैं वे कभी आत्मद्रव्यरूप नहीं परिणमते । इसमें दृष्टान्त चाँदनीका दिया है । जिस प्रकार चाँदनीद्वारा प्रकाशित होने मात्रसे पृथिवी चाँदनीकी नहीं हो जाती उसी प्रकार ज्ञानद्वारा जाने-जाने मात्रसे ज्ञेय ज्ञानके नहीं हो जाते ॥२१५॥

अब ज्ञानमें राग-द्वेषका उदय कहाँ तक रहता है यह दिखानेके लिये कलशा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

> रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावज्
> ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम् ।
> ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
> भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥२१६॥

अर्थ—राग और द्वेष ये दोनों तब तक उदित होते रहते हैं जब तक कि यह ज्ञान ज्ञान नहीं हो जाता और ज्ञेय ज्ञेयपनको नहीं प्राप्त हो जाता । इसलिये आचार्य आकाङ्क्षा प्रकट करते हैं कि अज्ञानभावको दूर करनेवाला यह ज्ञान ज्ञान ही रहे जिससे कि भाव और अभावको अर्थात् चतुर्गति सम्बन्धी उत्पाद-व्ययको दूर करता हुआ आत्मा पूर्णस्वभावसे युक्त हो जावे ।

भावार्थ—ज्ञान ज्ञेयरूप होता है और ज्ञेय ज्ञानरूप होता है इस प्रकारका सम्मिश्रण मिथ्यात्व दशामें ही होता है । और जब तक यह मिथ्यात्वदशा रहती है तब तक रागद्वेष नियमसे उत्पन्न होते रहते हैं । मिथ्यात्वके कारण यह जीव परपदार्थको सुख-दुःखका कारण मानता है इसलिये उनकी इष्टानिष्ट परिणतिसे रागद्वेषका होना सुलभ है । अतः आचार्य आकाङ्क्षा प्रकट करते हैं कि ज्ञान ज्ञान ही रहे तथा वह ज्ञान ज्ञेयरूप होता है और ज्ञेय ज्ञानरूप होता है इस अज्ञानभावको नष्ट कर दे । जब तक एतादृश ज्ञान प्रकट नहीं होता तब तक आत्मा पूर्णस्वभाव प्राप्त नहीं होता और जब तक पूर्णस्वभावको प्राप्त नहीं होता तब तक इसका चतुर्गति सम्बन्धी उत्पाद-व्यय—जन्म-मरण नष्ट नहीं होता । अतएव आत्माको पूर्णस्वभाव प्राप्त करनेके लिये ज्ञानका ज्ञानरूप होना आचार्यको अभीष्ट है ॥२१६॥

आगे राग-द्वेष-मोह जीवके अभिन्न परिणाम हैं, यह कहते हैं—

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे विसये।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसयेसु ॥३६६॥
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्मि ॥३६७॥
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे काये।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥३६८॥
णाणस्स दंसणस्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स।
ण वि तहिं पुग्गलदव्वस्स को वि घाओ उ णिद्दिट्ठो ॥३६९॥
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्माइट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसएसु ॥३७०॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
एएण कारणेण उ सद्दादिसु णत्थि रागादि ॥३७१॥

वह उसका घात होनेपर नहीं घाता जाता, जैसे घटके भीतर स्थित प्रदीपका घात होनेपर घट नहीं घाता जाता। उसी प्रकार आत्माके धर्म जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं व पुद्गलद्रव्यका घात होनेपर भी नहीं घाते जाते और न दर्शन ज्ञान चारित्रका घात होनेपर भी पुद्गलद्रव्य घाता जाता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि दर्शन-ज्ञान चारित्र पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं क्योंकि यदि ऐसा होता तो दर्शन ज्ञान चारित्रका घात होनेपर पुद्गलद्रव्यका घात और पुद्गलद्रव्यका घात होनेपर दर्शन ज्ञान चारित्रका घात दुर्निवार होता परन्तु ऐसा नहीं है। जिस कारण ऐसा है उस कारण जो जितने कुछ भी जीवके गुण हैं वे सभी परद्रव्योंमें नहीं हैं इस प्रकार हम सम्यक् देखते हैं। अन्यथा यहाँपर भी जीवके गुणोंका घात होनेपर पुद्गलद्रव्यका घात और पुद्गलद्रव्यका घात होनेपर जीवके गुणोंका घात दुर्निवार हो जाता परन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ आशङ्का होती है कि यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टिके विषयोंमें राग किसी कारणसे होता है? इसका उत्तर है कि न किसी कारणसे। तब फिर रागकी खान क्या है? अर्थात् रागकी उत्पत्ति किससे होती है? इसका उत्तर यह है कि राग-द्वेष-मोह जीवके ही अज्ञानमय परिणाम हैं इसलिये वे परद्रव्यादि विषयोंमें नहीं होते। अज्ञानका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि जीवके रागादिक नहीं होते। इस प्रकार वे राग-द्वेष-मोह विषयोंमें न होते हुए सम्यग्दृष्टिके नहीं होते, यह नियम है ॥ ३६६-३७१ ॥

अब यही भाव कलशामें दिखाते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

> रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
> 　　तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित् ।
> सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटन्तौ
> 　　ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चि ॥ २१७ ॥

अर्थ—निश्चयसे इस आत्मामें अज्ञानभावके कारण ज्ञान ही राग-द्वेषरूप परिणत होता है। वस्तुके यथार्थ स्वरूपपर लगाई दृष्टिसे देखे जाने पर वे राग द्वेष कुछ भी नहीं है। इसलिये प्रकट होते हुए उन रागद्वेषोंको सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टिसे—वस्तुके परमार्थस्वरूपका विचार करानेवाली बुद्धिसे नष्ट करे जिससे कि पूर्ण और अविनाशी किरणोंसे युक्त स्वाभाविक ज्ञान ज्योति प्रकाशमान हो।

भावार्थ—राग-द्वेष आत्माकी ही अशुद्ध परिणति है। उसकी उत्पत्तिमें आत्माका अज्ञान भाव कारण है। जब आत्मतत्त्वके शुद्धस्वरूपपर दृष्टि डालते हैं तब उसमें राग-द्वेषकी सत्ता दिखाई नहीं देती अर्थात् परमार्थसे आत्मा राग-द्वेषसे रहित है। इसलिये वर्तमानमें जो राग-द्वेष प्रकट हो रहे हैं उन्हें सम्यग्दृष्टि जीव निजमें परके निमित्त जायमान विकारीभाव समझकर नष्ट करनेका पुरुषार्थ करे क्योंकि राग-द्वेषके नष्ट हो चुकनेपर ही पूर्ण तथा अविनाशी केवलज्ञानरूपी ज्योति प्रकट हो सकती है ॥ २१७ ॥

अब राग-द्वेषका उत्पादक परद्रव्य नहीं है यह भाव कलशामें दिखाते हैं—

शालिनीछन्द

> रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या
> 　　नान्यद् द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि ।

सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति
व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥२१८॥

अर्थ—तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य कुछ भी दिखाई नहीं देता, क्योंकि सब द्रव्योंकी उत्पत्ति अपने ही निज स्वभावसे अपने ही भीतर प्रकट होती हुई अत्यन्त सुशोभित होती है।

भावार्थ—यहां उपादानदृष्टिकी प्रमुखतासे कथन है, इसलिये रागद्वेषकी उत्पत्ति बाह्य पदार्थोंसे न बताकर आत्माके स्वस्वभावसे ही बतलाई है। इसलिये रागद्वेषको नष्ट करनेके लिये उन्हें आत्मामें ही सर्वप्रथम नष्ट करना चाहिये ॥२१८॥

अब सर्व द्रव्य स्वभावसे ही उपजते हैं, यह कहते हैं—

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ ।
तम्हा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अर्थ—अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणोंका उत्पाद नहीं होता, इसलिये सब द्रव्य स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ—परद्रव्य जीवके रागादिकोंको उत्पन्न कराता है, ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये, क्योंकि अन्य द्रव्यको अन्य द्रव्य सम्बन्धी गुणोंके उत्पन्न करनेकी असमर्थता है। सब द्रव्योंका अपने स्वभावसे ही उत्पाद होता है, इसी बातको दिखाते हैं—

उत्पन्न नहीं हैं किन्तु सर्वद्रव्य ही निमित्तभूत द्रव्यान्तरके स्वभावका स्पर्श न करते हुए स्वकीय स्वभावसे अपने अपने परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। इसलिये हम परद्रव्यको जीवके रागादिक भावोंका उत्पादक नहीं देखते हैं जिसके लिये कुपित हों अर्थात् क्रोध प्रकट करें।

यहाँ उपादानकारणकी प्रधानतासे कथन किया गया है इसलिये निमित्तकारणका सर्वथा निषेध नहीं समझना चाहिये ॥३७२॥

अब कहते हैं कि रागादिककी उत्पत्तिमें आत्मा ही अपराधी है अन्य द्रव्य नहीं—

मालिनीछन्द

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र ।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥२१९॥

अर्थ—इस आत्मामें जो रागादिककी उत्पत्ति होती है उसमें परद्रव्यका किञ्चिन्मात्र भी दूषण नहीं है। यह आत्मा स्वयं अपराधी होता है और अपराधके कारण इसका अज्ञान फैलता है यह बात सबको विदित हो। अतः अज्ञान अस्तको प्राप्त हो जावे क्योंकि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ।

भावार्थ—रागादिककी उत्पत्तिका उपादानकारण आत्मा स्वयं है इसलिये परपदार्थको क्या दोष दिया जाय? अज्ञानभावके कारण आत्मामें रागादिकभाव उत्पन्न होते हैं। इसलिये आचार्य आकांक्षा प्रकट करते हैं कि मेरा वह अज्ञानभाव नष्ट हो, क्योंकि मैं ज्ञानरूप हूँ। अज्ञानी जीव रागद्वेषकी उत्पत्तिमें परद्रव्यको ही निमित्त मानकर उनके ऊपर क्रोध करता है। यह व्यर्थ है क्योंकि रागद्वेषका उपादानकारण अज्ञानी जीव स्वयं है। अतः उनके ऊपर क्रोध करना जलता डनके सदृश व्यर्थ है। अपने अज्ञानभावको त्यागो आपसे आप इनका विलय हो जावेगा ॥२१९॥

आगे रागादिककी उत्पत्तिमें परद्रव्यका ही निमित्त माननेका निषेध करते हैं—

रथोद्धताछन्द

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥२२०॥

अर्थ—जो रागकी उत्पत्तिमें परद्रव्यको ही निमित्तपन मानते हैं वे मोहरूपी नदीको नहीं उतर सकते, क्योंकि शुद्धनयका विषयभूत जो आत्मा उसके बोधसे शून्य होनेके कारण वे अन्ध बुद्धिवाले हैं।

भावार्थ—आत्माके अज्ञानरूप रागादिक परिणाम मोहकर्मके उदयमें होते हैं। जो केवल परद्रव्यकी निमित्तताकी मुख्यतासे ही उनका अस्तित्व मानते हैं वे शुद्धवस्तुस्वरूपके ज्ञानसे रहित अन्धे हैं तथा कभी भी मोहनदीके पार नहीं जा सकते ॥२२०॥

आगे शब्द, रस गन्ध आदिक बाह्य पदार्थ रागद्वेषके कारण नहीं हैं यह दिखाते हैं—

णिंदियसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुयाणि ।
ताणि सुणिऊण रूसदि तूसदि य अहं पुणो भणिदो ॥३७३॥

पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ गुणो अण्णो ।
तम्हा ण तुमं भणिओ किंचि वि किं रूससि अबुद्धो ॥३७४॥
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणइ सुणसु मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं सोयविसयमागयं सद्दं ॥३७५॥
असुहं सुहं च रूवं ण तं भणइ पिच्छ मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूवं ॥३७६॥
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घ मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं घाणविसयमागयं गंधं ॥३७७॥
असुहो सुहो व रसो ण तं भणइ रसय मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं रसणविसयमागयं तु रसं ॥३७८॥
असुहो सुहो व फासो ण तं भणइ फुससु मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं कायविसयमागयं फासं ॥३७९॥
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणइ बुज्झ मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं तु गुणं ॥३८०॥
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणइ बुज्झ मं ति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं दव्वं ॥३८१॥
एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥३८२॥

(क्रमशः)

इसी पद्धतिसे अशुभ और शुभ रस तुझसे नहीं कहता है कि तू मुझे चख, और न रसना इन्द्रियके विषयमें प्राप्त रसको ग्रहण करनेके लिये आत्मा ही आता है।

इसी विधिसे अशुभ और शुभ स्पर्श तुझसे नहीं कहता कि तू मुझे स्पर्श कर, और न स्पर्शन इन्द्रियके विषयमें प्राप्त हुए स्पर्शको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है।

इसी प्रकार अशुभ और शुभ गुण तुझसे नहीं कहता कि तू मुझे जान और न बुद्धिके विषयमें प्राप्त हुए गुणको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है।

तथा इसी तरह अशुभ और शुभ द्रव्य तुझसे नहीं कहता कि तू मुझे जान और न बुद्धिके विषयमें प्राप्त हुए द्रव्यको ग्रहण करनेके लिए आत्मा ही आता है।

जो परको ग्रहण करनेका मन करता है तथा स्वयं कल्याणकारी बुद्धिको प्राप्त नहीं हुआ है ऐसा मूढ़ जीव इस प्रकार जानकर भी उपशमभावको प्राप्त नहीं होता है।

विशेषार्थ—इस लोकमें जिस प्रकार देवदत्त यज्ञदत्तका हाथ पकड़कर उसे किसी कार्यमें लगाता है उसी प्रकार ये घटपटादि बाह्य पदार्थ दीपकको हाथमें लेकर मुझे प्रकाशित करो इस तरह कहते हुए अपने आपके प्रकाशनमें उसे प्रेरित नहीं करते और न दीपक भी चुम्बकसे खिंची हुई लोहेकी सुईके समान अपने स्थानसे च्युत होकर उन घटपटादि पदार्थोंको प्रकाशित करनेके लिए आता है क्योंकि वस्तुका स्वभाव परके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता तथा पर भी वस्तुस्वभावके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इसलिये जिस प्रकार दीपक परके सन्निधानमें स्वरूपसे ही प्रकाशित होता है उसी प्रकार परके असन्निधानमें भी स्वरूपसे ही प्रकाशित होता है। वस्तुस्वभावसे ही विचित्र परिणतिको प्राप्त होते हुए सुन्दर या असुन्दर जो घटपटादि पदार्थ हैं वे स्वरूपसे ही प्रकाशित होनेवाले दीपकको किञ्चिन्मात्र भी विक्रिया (विकार) करनेके लिए समर्थ नहीं हैं। उसी प्रकार बाह्य पदार्थ जो शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, गुण और द्रव्य हैं वे यज्ञदत्तको देवदत्तके समान हाथमें पकड़कर मुझे सुनो, मुझे देखो, मुझे सूँघो, मुझे चखो, मुझे स्पर्श करो और मुझे जानो इस तरह अपने जाननेके लिए आत्माको प्रेरित नहीं करते हैं किन्तु वस्तुस्वभाव परके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता और वस्तुस्वभावके द्वारा पर उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इसलिये जिस प्रकार आत्मा उन शब्दादिकके असन्निधानमें उन्हें जानता है उसी प्रकार उनके सन्निधानमें भी स्वरूपसे ही उन्हें जानता है। वस्तुस्वभावसे ही विचित्र परिणतिको प्राप्त होते हुए सुन्दर या असुन्दर जो शब्दादिक बाह्यपदार्थ हैं वे स्वरूपसे ही जाननेवाले आत्मामें किञ्चिन्मात्र भी विक्रिया (विकार) उत्पन्न करनेके लिए समर्थ नहीं हो सकते। इस तरह यह आत्मा दीपकके समान परपदार्थके प्रति नित्य ही उदासीन रहता है। यह वस्तुकी स्थिति है तो भी जो रागद्वेष उत्पन्न होते हैं वह अज्ञान है।

भावार्थ—शुभ अशुभ शब्द आदिका परिणमन उनके स्वाधीन है। वे आत्मामें रागद्वेष उत्पन्न करनेके लिये समर्थ नहीं हैं। फिर भी आत्मामें जो रागद्वेष होता है वह उसका अज्ञान है ॥३७३-३८२॥

आगे यही भाव कलशमें कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ।

तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयीभवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥२२१॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रकाशित करने योग्य घटपटादि पदार्थोंसे दीपक कुछ भी विक्रियाको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार पूर्ण, एक, अच्युत तथा शुद्ध ज्ञानकी महिमासे युक्त यह बोद्धा अर्थात् आत्मा, ज्ञानके विषयभूत शब्दादि पदार्थोंमें कुछ भी विक्रियाको प्राप्त नहीं हो सकता है। फिर भी वस्तुस्थितिके ज्ञानसे शून्य बुद्धिवाले ये अज्ञानी जीव रागद्वेषरूप क्यों हो रहे हैं तथा अपनी सहज उदासीनता—वीतराग परिणतिको क्यों छोड़ रहे हैं ?

भावार्थ—जिस प्रकार बाह्यपदार्थ दीपकमें कुछ भी विकार करनेमें समर्थ नहीं हैं अर्थात् पदार्थ अच्छा या बुरा किसी प्रकारका रहे, दीपक उसे मध्यस्थभावसे प्रकाशित ही करता है, उस पदार्थके निमित्तसे स्वयं हर्ष-विषादका अनुभव नहीं करता। उसी प्रकार ज्ञानी जीव अच्छे या बुरे पदार्थोंको जानता मात्र है, उनके निमित्तसे हर्ष-विषादका अनुभव नहीं करता। इस तरह बाह्यपदार्थ ज्ञानी जीवमें कुछ भी विकार उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं है। फिर भी वस्तुस्वभावके यथार्थ विचारसे रहित ये अज्ञानी प्राणी शुभ-अशुभ शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श आदिका निमित्त पाकर रागद्वेष युक्त होते हैं तथा अपनी सहज जो उदासीनता है उसे छोड़ देते हैं, यह आश्चर्यकी बात है ॥२२१॥

आगे रागद्वेषसे रहित जीव ही ज्ञानचेतनाको प्राप्त होते हैं, यह कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं

इस तरह सात भङ्ग होते हैं। इसी तरह कृत, कारित और अनुमोदना इन तीनके भी सात भङ्ग होते हैं। इन दोनों सात-सात भङ्गोंको परस्पर गुणित करनेसे ४९ भङ्ग होते हैं। इस तरह प्रति-क्रमण ४९ तरहका होता है। उन्हीं भेदोंको स्पष्ट करते हैं—प्रतिक्रमण करनेवाला कहता है कि जो पाप मैंने अतीतकालमें किया था, अन्यके द्वारा कराया था तथा अन्यके द्वारा किये गये पापकी अनुमोदना की थी, वह मन, वचन और कायसे मिथ्या हो १, जो पाप अतीतकालमें मैंने किया अन्यके द्वारा कराया था, तथा अन्यके द्वारा किये गये पापकी अनुमोदना की थी, वह मन और वचनसे मिथ्या हो २, जो पाप मैंने किया था, कराया था और किये हुएकी अनुमोदना की थी, वह मन और कायसे मिथ्या हो ३, जो पाप मैंने किया था, कराया था और किये हुएकी अनु-मोदना की थी, वह वचन और कायसे मिथ्या हो ४, जो पाप मैंने किया था, कराया था और किये हुएकी अनुमोदना की थी, वह मनसे मिथ्या हो ५, जो पाप मैंने किया था, कराया था और किये हुएकी अनुमोदना की थी, वह वचनसे मिथ्या हो ६, जो पाप मैंने किया था, कराया था और किये हुएकी अनुमोदना की थी, वह कायसे मिथ्या हो ७, जो पाप मैंने किया था और कराया था, वह मन, वचन और कायसे मिथ्या हो ८, जो पाप मैंने किया था और किये हुएकी अनुमोदना की था, वह मेरा पाप, मन, वचन, कायसे मिथ्या हो ९, जो पाप मैंने कराया था और दूसरेसे किये हुएकी अनुमोदना की थी, वह मेरा पाप मनसे, वचनसे और कायसे मिथ्या हो १०, जो मैंने किया था और दूसरेसे कराया था, वह मेरा पाप मनसे मिथ्या हो ११, जो मैंने किया था

३१ जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप मनसे तथा वचनसे मिथ्या हो ३२, जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप मन और वचनसे मिथ्या हो ३३ जिस पापको करते हुए अन्य पुरुषको मैंने अनुमोदना दी थी मेरा वह पाप मन और वचनसे मिथ्या हो ३४, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप मन और कायसे मिथ्या हो ३५, जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप मन और कायसे मिथ्या हो ३६ जिस पापको करते हुए अन्यको मैंने अनुमोदना दी थी मेरा वह पाप मन और कायसे मिथ्या हो ३७ जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप वचन और कायसे मिथ्या हो ३८, जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप वचन और कायसे मिथ्या हो ३९, जिस पापको करते हुए अन्यको मैंने अनुमोदना दी थी मेरा वह पाप वचन और कायसे मिथ्या हो ४० जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप मनसे मिथ्या हो ४१ जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप मनसे मिथ्या हो ४२ जिसे करते हुए अन्यको मैंने अनुमोदना दी थी मेरा वह पाप मनसे मिथ्या हो ४३, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप वचनसे मिथ्या हो ४४ जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप वचनसे मिथ्या हो ४५, जिसे करते हुए दूसरेको मैंने अनुमोदना दी थी मेरा वह पाप वचनसे मिथ्या हो ४६, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप कायसे मिथ्या हो ४७ जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप कायसे मिथ्या हो ४८ जिसे करते हुए अन्यको मैंने अनुमोदना दी थी मेरा वह पाप कायसे मिथ्या हो ४९ ।[1]

आर्याछन्द

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२५॥

अर्थ—मैंने मोहसे जो कर्म किये थे उन समस्त कर्मोंका प्रतिक्रमण कर मैं समस्त कर्मोंसे रहित चैतन्यस्वरूप आत्मामें अपने आपके द्वारा निरन्तर वर्त रहा हूं ॥२२५॥

---

१ इन ४९ भंगोंके भीतर पहले भंगमें कृत कारित अनुमोदना ये तीन लिये हैं और उनपर मन वचन काय ये तीन लगाये हैं इसलिये इस भङ्गका सांकेतिक नाम ३३ है। २ से ४ तकके भंगोंमें कृत कारित अनुमोदनाके तीनों लेकर उनपर मन वचन कायमेंसे दो-दो लगाये हैं। इस प्रकार बने हुए इन तीन भंगोंको ३२ की संज्ञा है। ५ से ७ तकके भंगोंमें कृत कारित अनुमोदनाके तीनों लेकर उनपर मन वचन कायमेंसे एक-एक लगाया है। इन तीनों भंगोंको ३१ की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ८ से १० तकके भंगोंमें कृत कारित अनुमोदनामेंसे दो-दो लेकर उनपर मन वचन काय तीनों लगाये हैं। इन तीन भंगोंको २३ की संज्ञा जाना जा सकता है। ११ से १९ तकके भंगोंमें कृत कारित अनुमोदनामें दो-दो लेकर उनपर मन वचन कायमेंसे दो-दो लगाये हैं। इन नौ भंगोंको २२ की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। २० से २८ तकके भंगोंमें कृत कारित अनुमोदनामेंसे दो-दो लेकर उनपर मन वचन कायमेंसे १-१ लगाया है। इन नौ भंगोंको २१ की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। २९ से ३१ तकके भंगोंमें कृत कारित अनुमोदनामेंसे एक-एक लेकर उनपर मन वचन काय तीनों लगाये हैं। [illegible] ३२ से ४० तकके भंगोंमें कृत कारित अनुमोदनामेंसे एक-एक लेकर उनपर मन वचन कायमेंसे दो-दो लगाये हैं। इन नौ भंगोंको १२ की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ४१ से ४९ तकके भंगोंमें कृत कारित अनुमोदनामेंसे एक-एक लेकर उनपर मन वचन कायमेंसे एक-एक लगाया है। इन ९ भंगोंकी संज्ञा ११ है। इस प्रकार सब मिलाकर ४९ भंग हुए।

आर्याछन्द

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२६॥

अर्थ—मोहविलासके विस्तारस्वरूप उदयागत समस्त कर्मसमूहकी आलोचना कर मैं कर्मरहित चैतन्यस्वरूप आत्मामें अपने आप निरन्तर वर्तता हूँ।

भावार्थ—वर्तमान कालमें उदयमें आते हुए कर्मोंके विषयमें ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि यह सब मोहके विलासका विस्तार है अर्थात् अज्ञानसे जायमान है यह मेरा स्वरूप नहीं है मैं तो समस्त कर्मोंसे रहित चैतन्यस्वरूप हूँ, उसीमें मुझे लीन रहना चाहिये ॥२२६॥

इस तरह आलोचनाकल्प समाप्त हुआ।

अब प्रत्याख्यान सम्बन्धी ४९ भङ्ग कहते हैं—

मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे वचनसे, कायसे १ मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे वचनसे २ मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे कायसे ३ मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे कायसे ४ मैं कर्मको न करूँगा न करवाऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे ५ मैं कर्मको न करूँगा न करवाऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे ६ मैं कर्मको न करूँगा न करवाऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा कायसे ७ मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा मनसे वचनसे ८ मैं कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, वचनसे कायसे ९ मैं कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे वचनसे कायसे १० मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा मनसे वचनसे ११ मैं कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे वचनसे १२ मैं कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे वचनसे १३ मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा मनसे कायसे १४ मैं कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे, कायसे १५ मैं कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे कायसे १६ मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा वचनसे, कायसे १७, मैं कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे कायसे १८ मैं कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे, कायसे १९ मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा मनसे २० मैं कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे २१ मैं कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा मनसे २२ मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा वचनसे २३ मैं कर्मको न करूँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे २४ मैं कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा वचनसे २५ मैं कर्मको न करूँगा न कराऊँगा कायसे २६ मैं कर्मको न करते हुए अन्यको भी अनुमति दूँगा कायसे २७ मैं कर्मको न कराऊँगा न करते हुए अन्यको अनुमति दूँगा कायसे २८ मैं कर्मको न करूँगा मनसे, वचनसे कायसे २९ मैं कर्मको न कराऊँगा मनसे वचनसे कायसे ३० मैं करते हुए अन्यको अनुमति नहीं दूँगा मनसे वचनसे कायसे ३१ मैं कर्मको न करूँगा मनसे वचनसे ३२, मैं कर्मको न कराऊँगा मनसे वचनसे ३३ मैं करते हुए अन्यको भी अनुमति नहीं दूँगा मनसे वचनसे, ३४ मैं कर्मको न कराऊँगा मनसे कायसे ३५ मैं कर्मको न कराऊँगा मनसे, कायसे ३६, मैं करते हुए अन्यको अनुमति नहीं दूँगा मनसे कायसे ३७ मैं कर्मको न

अर्थ—कर्मफलचेतनाका त्यागी ज्ञानी जीव विचार करता है कि कर्मरूपी विषवृक्षके फल मेरे भोगे बिना ही खिर जावें, मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्माका ही निश्चल रूपसे अनुभव करता हूँ।

भावार्थ—मैं कर्मफलका केवल जानने-देखनेवाला हूँ, भोगनेवाला नहीं हूँ इसलिये वर्तमानमें जो कर्म अपना फल दे रहे हैं उनके प्रति मेरा कोई ममत्वभाव नहीं है। फल देते हुए भी वे मेरे लिये फल न देते हुएके समान हैं। मेरा स्वकीय द्रव्य तो चैतन्यलक्षणवाला आत्मा है अतः उसीका निरन्तर चिन्तन करता हूँ ॥२२९॥

अब ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्मोंकी जितनी भी उत्तरप्रकृतियाँ हैं उन सबके फलको भोगनेवाला मैं नहीं हूँ, यह क्रमसे प्रकट करते हैं—

मैं मतिज्ञानावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ १, मैं श्रुतज्ञानावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ २ मैं अवधिज्ञानावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ ३ मैं मनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ ४ मैं केवलज्ञानावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ ५ मैं चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ६ मैं अचक्षुर्दर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ७ मैं अवधिदर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ८ मैं केवलदर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ९ मैं निद्रादर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १० मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ११ मैं प्रचलादर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १२ मैं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १३ मैं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरण कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १४ मैं सातावेदनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १५ मैं असातावेदनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १६ मैं सम्यक्त्वमोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप १७ मैं मिथ्यात्वमोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १८ मैं सम्यङ्मिथ्यात्वमोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप १९ मैं अनन्तानुबन्धी क्रोधकषायवेदनीयमोहनीयके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० २० मैं अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोधकषायवेदनीयमोहनीयके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० २१ मैं प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधकषायवेदनीय मोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० २२ मैं संज्वलन क्रोधवेदनीयमोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० २३ मैं अनन्तानुबन्धी मानकषाय वेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० २४ मैं अप्रत्याख्यानावरणीय मानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २५ मैं प्रत्याख्याना वरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० २६ मैं संज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २७,

बन्धननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ६९, मैं कार्मणशरीरबन्धननाम कर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ७०, मैं औदारिकशरीरसंघातनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ७१, मैं वैक्रियिकशरीरसंघातनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ७२ मैं आहारकशरीरसंघातनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ७३ मैं तैजसशरीरसंघातनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ७४, मैं कार्मणशरीरसंघातनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ७५ मैं समचतुरस्र संस्थाननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ७६ मैं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम कर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ७७ मैं स्वातिसंस्थाननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७८ मैं कुब्जकसंस्थाननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्य स्वरूप० ७९, मैं वामनसंस्थाननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ८०, मैं हुण्डक संस्थाननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ८१, मैं वज्रर्षभनाराचसंहनननाम कर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ८२, मैं वज्रनाराचसंहनननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ८३, मैं नाराचसंहनननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप ८४ मैं अर्धनाराचसंहनननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ८५ मैं कीलकसंहनननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ८६ मैं असंप्राप्त सृपाटिकासंहनननामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ८७ मैं स्निग्धस्पर्शनाम कर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ८८ मैं रूक्षस्पर्शनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ८९ मैं शीतस्पर्शनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ९०, मै उष्णस्पर्शनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ९१, मैं गुरुस्पर्शनामकर्मके फलको भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ९२ मैं लघुस्पर्शनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्य स्वरूप० ९ मैं मृदुस्पर्शनामकर्म फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ९४, मैं कर्कश स्पर्शनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ९५ मैं मधुररसनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ९६ मैं अम्लरसनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्य स्वरूप० ९७ मैं तिक्तरसनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ९८ मैं कटुकरस नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ९९ मैं कषायरसनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १०० मैं सुरभिगंधनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्य स्वरूप० १०१ मैं असुरभिगंधनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १०२, मैं शुक्लवर्णनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १०३ मैं रक्तवर्णनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १०४ मैं पीतवर्णनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०५ मैं हरितवर्णनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १०६ मैं कृष्णवर्णनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १०७, मैं नरकगत्यानुपूर्वीनाम कर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १०८ मैं तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० १०९ मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११० मैं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १११ मैं निर्माणनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ११२ मैं अगुरुलघुनाम कर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११३, मैं उपघातनामकर्मके फलको नही भोगता

हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११४, मैं परघातनामकर्मकि फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११५ मैं आतपनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११६, मैं उद्योतनामकर्मकि फलको नही भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ११७, मैं उच्छ्वासनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११८, मैं प्रशस्तविहायोगतिनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११९, मैं अप्रशस्तविहायोगति नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२०, मैं साधारण-शरीरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२१, मैं प्रत्येकशरीरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२२, मैं स्थावरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२३, मै त्रसनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२४, मैं सुभग-नामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२५, मै दुर्भगनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२६, मैं सुस्वरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२७, मैं दुःस्वरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२८, मै शुभनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२९, मै अशुभनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३०, मै सूक्ष्मशरीरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३१, मैं बादरशरीरनामकर्मके फलको नही भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३२, मैं पर्याप्तनामकर्मके

पराय विभावका स्थान नहीं है। निश्चयनय स्वभावका ही वर्णन करता है। अतः उसकी दृष्टिमें आत्मा अपने चैतन्यस्वभावका ही भोक्ता है। परन्तु व्यवहारनयमें आत्मा कर्मोंका कर्त्ता तथा उनके फलका भोक्ता कहलाता है, निश्चयकी दृष्टिमें न कर्ता है न भोक्ता है ॥३८७-३८९॥

आगे निश्चिल कर्मफलोंका त्याग करनेसे आत्मा चैतन्यतत्त्वको प्राप्त होता है यह दिखानेके लिये कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

निःशेषकर्मफलसंन्यसनान्ममैवं
सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥२३०॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त कर्मोंके फलका परित्याग करनेसे जिसकी अन्य समस्त क्रियाओं सम्बन्धी निरागग वृत्ति दूर हट गई है तथा जो स्वरूपमें अचल है ऐसी मेरी यह अनन्तकालकी परम्परा अतिशयरूपसे चैतन्यलक्षणवाले आत्मतत्त्वकी उपासना करते हुए ही व्यतीत हो।

भावार्थ—जब ज्ञानी जीव पूर्वोक्त प्रकारसे समस्त कर्मफलोंका त्याग कर चुकता है तब उसकी कर्मोदयसे जायमान अन्य क्रियाओं सम्बन्धी उपभोगसे वृत्ति स्वयं हट जाती है तथा वह स्वकीय स्वरूपमें निश्चल हो जाता है। उस दशामें उसकी चैतन्य लक्षणवाले आत्मतत्त्वपर ही दृष्टि रहती है। उसीकी उसे बार-बार अनुभूति होती है और उस अनुभूतिमें वह ऐसा अद्भुत आनन्द निमग्न होता है कि उसकी ऐसी भावना होने लगती है कि मेरा अनन्तकाल इसी आत्मतत्त्वकी उपासना करते-करते ही व्यतीत हो, एकक्षणके लिये भी मेरा उपयोग अन्य विषयोंमें न जावे ॥२३०॥

वसन्ततिलकाछन्द

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः ॥२३१॥

अर्थ—जो निश्चयसे आत्मस्वरूपमें तृप्त होता हुआ पूर्वकालके अज्ञानमयभावोंसे किये हुए कर्मरूपी विषवृक्षोंके फलोंको नहीं भोगता है अर्थात् उन फलोंका स्वामी नहीं होता है वह वर्तमानमें रमणीय और भविष्यत्कालमें रमणीय, कर्मोंसे रहित स्वाधीन सुखरूप अन्य अवस्थाको—जो आज तक संसारमें प्राप्त नहीं हुई, ऐसी मोक्ष अवस्थाको प्राप्त होता है।

भावार्थ—ज्ञानी मनुष्य अपने चैतन्यस्वरूपमें ही संतुष्ट रहता है इसलिये पूर्व अवस्थामें अज्ञानमय भावोंसे बाँधे हुए कर्मोंका जो उसे फल प्राप्त होता है उससे वह पूर्ण उदासीन रहता है उस फलके प्रति उसके हृदयमें कुछ भी स्वामित्व नहीं रहता है। इस स्वरूपसंतोषका उसे फल यह प्राप्त होता है कि वह कर्मोंसे रहित स्वाधीन सुखमय ऐसी मुक्त अवस्थाको प्राप्त होता है जो कि तत्कालमें रमणीय है और आगामी अनन्तकालमें भी रमणीय ही रहेगी ॥२३१॥

अब यह ज्ञानावरणका क्षय हो जानेसे सदा देदीप्यमान रहता है। पहले जो ज्ञान ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धके कारण तन्मयताको प्राप्त था, पर अब सब पदार्थ भिन्न भिन्न हैं, ऐसा निश्चय हो जानेके कारण सबसे पृथक् अनुभवमें आता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानचेतनाके फलस्वरूप अन्तमें ऐसा ज्ञान ही अवस्थित रहता है जिससे अन्य ओरसे ज्ञानीका उपयोग हट जाता है ॥२३३॥

आगे शास्त्र आदिमें ज्ञान भिन्न है, यह वर्णन करनेके लिये गाथाएं कहते हैं—

सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥३९०॥
सद्दो णाणं ण हवइ जम्हा सद्दो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥३९१॥
रूवं णाणं ण हवइ जम्हा रूवं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥३९२॥
वण्णो णाणं ण हवइ जम्हा वण्णो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥३९३॥
गंधो णाणं ण हवइ जम्हा गंधो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥३९४॥
ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं रसं दु अण्णं जिणा विंति ॥३९५॥
फासो ण हवइ णाणं जम्हा फासो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥३९६॥
कम्मं णाणं ण हवइ जम्हा कम्मं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥३९७॥
धम्मो णाणं ण हवइ जम्हा धम्मो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥३९८॥
णाणमधम्मो ण हवइ जम्हा धम्मो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥३९९॥
कालो णाणं ण हवइ जम्हा कालो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति ॥४००॥
आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणए किंचि।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा विंति ॥४०१॥

और आत्माकी सर्व अवस्थामें पाया जाता है, इससे अव्याप्ति भी नहीं है। यहाँ पर ज्ञान कहनेसे आत्मा ही जानना चाहिये क्योंकि अभेददृष्टिसे गुणगुणीमें भिन्नदेशता नहीं होती। यहाँ पर ज्ञानको ही मुख्य कहा है, उसका यह तात्पर्य है कि आत्मा अनन्तधर्मात्मक है, उनमें कोई धर्म तो हमारे अनुभवमें ही नहीं आते, अतः उनके द्वारा आत्माको जानना असम्भव है और कोई अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व द्रव्यत्वादि अनुभवगोचर भी हैं। परन्तु वे अजीवादिद्रव्य साधारण होनेसे अतिव्याप्तिरूप हैं उनसे भी आत्माका परिचय होना कठिन है। कोई भाव परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं, जैसे रागादिक। ये भाव अव्याप्तरूप हैं, अतः उनसे भी आत्माका ज्ञान होना असंभव है तथा कोई भाव कर्मोंके क्षयसे होते हैं, जैसे केवलज्ञानादि। यह भाव यद्यपि असाधारण हैं तथापि सर्व अवस्थाओंमें न रहनेसे अव्याप्त हैं। अतएव केवलज्ञानादि पर्यायोंके द्वारा आत्माका निर्णय करना कठिन है। इसी तरह क्षायोपशमिकभाव भी आत्माके निर्णायक नहीं हैं क्योंकि ये भाव भी आत्माकी सर्व अवस्थाओंमें नहीं रहते। अतः सामान्यरूपसे उपयोग ही आत्माका लक्षण है, यही सब अवस्थाओंमें व्याप्त होकर रहता है, अतः यही लक्षण आत्माका इतर पदार्थोंसे भेद कराता है और यह आत्माकी सब अवस्थाओंमें व्यापक है। इस ज्ञानमें अनादि कालसे मिथ्यात्व तथा रागादिक परिणामोंके योगसे शुभाशुभ प्रवृत्तिका सद्भाव चला आ रहा है, उसे निजस्वरूपको [illegible] सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय स्वसमयरूप जो मोक्षमार्ग है उसमें अपनी [illegible] ज्ञानकी शुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है तब आत्मा कृतकृत्य हो जाता है [illegible] विनाश ही नहीं होता, ऐसा साक्षात् समयसाररूप पूर्णज्ञान ही [illegible] है, यही आत्माकी साक्षात् प्राप्ति है, उसीको देखना-जानना और आचरणमें [illegible]।

अब यही भाव कलशामें व्यक्त करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥२३४॥

अर्थ—जो अन्य पदार्थोंसे भिन्न है आत्मस्वरूपमें निश्चल है, पृथक् वस्तुपनको धारण कर रहा है ग्रहण और त्यागके विकल्पसे शून्य है, तथा निर्मल है ऐसा यह ज्ञान उस तरह अवस्थित होता है जिस तरह कि मध्य, आदि और अन्तके विभागसे रहित स्वाभाविक सातिशय प्रभावसे देदीप्यमान, और शुद्ध ज्ञानमें सान्द्र इसकी महिमा नित्य उदित रहती है।

भावार्थ—अन्तमें आत्मा जिस ज्ञानरूप होकर अवस्थित रहता है वह कैसा है ? इसकी चर्चा इस काव्यमें की गई है—वह ज्ञान, शास्त्र, रूप वर्ण रस, गन्ध, स्पर्श तथा धर्मास्तिकाय आदि अन्य पदार्थोंसे भिन्न है, आत्मस्वरूपमें नियत है अर्थात् योग और कषायके कारण पहले जो उसकी चञ्चलता रहती थी वह समाप्त हो जाती है, वह पृथक् वस्तुताको धारण करता है अर्थात् ज्ञेयोंसे मिश्रित होनेपर भी उनसे पृथक् अपना अस्तित्व रखता है। पहले मोहके उदयसे ज्ञानमें ग्रहण और त्यागके विकल्प उठा करते थे परन्तु अब मोहका अभाव हो जानेपर उसमें वे विकल्प अस्तमित हो जाते हैं। पहले रागादिकके सम्पर्कसे ज्ञानमें जो मलिनता थी अथवा क्षायोपशमिक अवस्थाके कारण पूर्ण स्पष्टता नहीं थी अब उसका अभाव हो जानेसे वह ज्ञान पूर्ण निर्मल हो जाता है। पहले यह ज्ञान बाह्य साधन सापेक्ष होनेके कारण उपजता और तिरोहित होता रहता था, इसलिये आदि मध्य और अन्तसे सहित था। परन्तु अब बाह्य साधनसे निरपेक्ष होनेके कारण सर्वदा प्रकाशमान रहता है इसलिये उसमें आदि, मध्य और अन्तका कुछ भी विकल्प नहीं रहता। रागादिकका सर्वथा क्षय हो जानेसे उसकी शुद्धता कभी नष्ट होनेवाली नहीं इसलिये वह शुद्ध ज्ञानसे घन है तथा पहले ज्ञानावरणके क्षयोपशमके अधीन रहनेसे मेघमालाके मध्य स्थित विद्युत्के समान प्रकट होता और फिर तिरोहित हो जाता था। परन्तु अब ज्ञानावरणका सर्वथा क्षय हो जानेसे नित्य उदयरूप रहता है अर्थात् उसका अन्त कभी नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा केवलज्ञानरूपसे अवस्थित रहता है ॥२३४॥

अब आत्माकी कृतकृत्यताका वर्णन करते हुए कलशा कहते हैं—

उपजातिछन्द

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्
तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः
पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह ॥२३५॥

अर्थ—जिसने रागादि विभावरूप परिणमन करनेवाली सब शक्तियोंका संकोच कर लिया है तथा केवलज्ञानादि गुणोंके पूर्ण हो जानेसे जो पूर्णताको प्राप्त हो चुका है ऐसे आत्माको जो

गुणका ऐसा ही सामर्थ्य है। उस सामर्थ्यसे ज्ञानके द्वारा परद्रव्य न ग्रहण किया जा सकता है और न छोड़ा जा सकता है। अमूर्त आत्मप्रत्ययरूप जो ज्ञान है उसका परद्रव्य आहार नहीं हो सकता, क्योंकि आहार मूर्तपुद्गलद्रव्यरूप है। इसलिये ज्ञान आहारक नहीं है अतएव ज्ञानके देह है ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिए ॥४०५-४०७॥

अब आगामी गाथाओंकी अवतरणिकारूप कलशा कहते हैं—

अनुष्टुपछन्द

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ॥२३७॥

अर्थ—इस तरह जब शुद्ध ज्ञानके देह ही नहीं है तब देहरूप जो लिङ्ग है वह आत्माके मोक्षका कारण नहीं हो सकता ॥२३७॥

अब यही भाव गाथाओंमें कहते हैं—

पाखंडीलिंगाणि व गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तु वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥४०८॥
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं ज देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥४०९॥
(युग्मम्)

अर्थ—मुनिलिङ्ग अथवा बहुत प्रकारके गृहस्थलिङ्गोंको ग्रहणकर अज्ञानीजन कहते हैं कि यह लिङ्ग मोक्षमार्ग है परन्तु लिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि शरीरसे ममत्व रहित अरहन्तदेव लिङ्गको छोड़कर दर्शन ज्ञान-चारित्रका सेवन करते हैं।

विशेषार्थ—कितने ही जन अज्ञानसे द्रव्यलिङ्गको ही मोक्षमार्ग मानते हुए मोहसे द्रव्यलिङ्गको ही ग्रहण करते हैं सो यह मानना संगत नहीं है क्योंकि समस्त भगवान् अरहन्तदेवोंने शुद्ध ज्ञानमय होनेके कारण द्रव्यलिङ्गके आश्रयभूत शरीरसे ममकारका त्याग किया है। तथा शरीराश्रित द्रव्यलिङ्ग भिन्न आत्मस्थित दर्शन ज्ञान-चारित्रकी ही मोक्षमार्गरूपसे उपासना देखी जाती है ॥४०८-४०९॥

अनन्तर इसीको सिद्ध करते हैं—

ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥४१०॥

अर्थ—जो मुनि और गृहस्थरूप लिङ्ग हैं वे मोक्षमार्ग नहीं हैं क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् दर्शन ज्ञान और चारित्रको ही मोक्षमार्ग कहते हैं।

विशेषार्थ—निश्चयसे द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि शरीराश्रित होनेसे वह परद्रव्य है। इसलिये दर्शन ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है क्योंकि आत्माश्रित होनेसे वे स्वद्रव्य हैं। यद्यपि

द्रव्यलिङ्गका मोह छुड़ाकर सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमें लगानेका उपदेश है। सो इनका आशय यह है कि द्रव्यलिङ्ग शरीराश्रित है उसीको कोई मोक्षमार्ग मान ले तथा आत्माश्रित जो सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र है उसकी ओर लक्ष्य न दे तो उसे वास्तविक वस्तुस्वरूप बतलानेके लिये आचार्य महाराजका उपदेश है कि द्रव्यलिङ्गके ममकारको त्यागकर आत्माश्रितगुणोंका सेवन करो, यही मोक्षमार्ग है। कुछ देशव्रत और महाव्रतके छुड़ानेका उपदेश नहीं है क्योंकि बिना मुनिलिङ्ग धारण किये मोक्षकी प्राप्ति न्याय नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि यावती प्रवृत्ति है वह बन्धका कारण है इस, ज्ञानी जीव देशव्रत तथा महाव्रत पालते हैं और उनके निर्दोष पालनेका यत्न भी करते हैं। परन्तु इन प्रवृत्तियोंको बन्धमार्ग ही समझते हैं, मोक्षमार्ग नहीं ॥४१०॥

फिर भी इसी कथनको दृढ़ करनेका उपदेश है—

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिए।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४११॥

अर्थ—इसलिये गृहस्थ—प्रतिमाधारियों और गृहत्यागी—मुनियोंके द्वारा गृहीत लिङ्गोंका त्याग कर अपनेको दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्गमें युक्त करो। ऐसा श्रीगुरुओंका उपदेश है।

विशेषार्थ—यतः द्रव्यलिङ्ग मोक्षका मार्ग नहीं है इसलिये सभी द्रव्यलिङ्गोंमें ममताको त्याग कर [illegible] आत्माको लगाना चाहिये, क्योंकि यही मोक्षमार्ग है यह जिनागम-का कथन है।

अब दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्षमार्ग है यह कलशामें दिखाते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२३९॥

दर्शनज्ञानचारित्रका ही अनुभव करो। तथा द्रव्यान्तरके सम्बन्धसे प्रत्येक क्षणमें बढ़ते हुए परिणमनके समय परिणामको छोड़कर दर्शनज्ञानचारित्रमें ही विहार करो। तथा एक निश्चल ज्ञानस्वरूपका ही अवलम्बन करनेवाले ज्ञेयरूप उपाधिके कारण सभी ओरसे दौड़कर आते हुए सभी परद्रव्योंमें किञ्चिन्मात्र भी विहार मत करो ॥४१२॥

आगे यही भाव कलशमें दरसाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥२३९॥

अर्थ—जो यह सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप एक मोक्षमार्ग निश्चित है उसीमें जो पुरुष स्थितिको प्राप्त होता है, उसीका निरन्तर चित्तमें ध्यान करता है, और अन्य द्रव्योंका स्पर्श न करता हुआ उसीमें निरन्तर विहार करता है वह अवश्य ही नित्य उदित रहनेवाले समयसारको— आत्माकी शुद्ध परिणतिरूप मोक्षको शीघ्र ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रयकी जो एकता है वह मोक्षका निश्चित एक ही मार्ग है इसके अतिरिक्त अन्य मार्गोंसे मोक्षकी प्राप्ति अशक्य है। इसलिये जो इसी मोक्षमार्गमें स्थित है, इसीका रातदिन अपने हृदयमें ध्यान करता है तथा अन्य द्रव्योंको अपने उपयोगका विषय न बनाकर इसी रत्नत्रयको तथा उसके आधारभूत जीवद्रव्यको ही अपने उपयोगका विषय बनाता है वह नियमसे शीघ्र ही, जिसका नित्य उदय रहता है ऐसे समयसारको प्राप्त होता है। व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रयका साधक होनेसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। निश्चयसे रहित मात्र व्यवहाररत्नत्रयसे मोक्षकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥२३९॥

अब जो मात्र व्यवहारमार्गका आश्रय करते हैं वे समयसारके दर्शनसे वञ्चित रहते हैं यह भाव कलशमें प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः ।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥२४०॥

अर्थ—और तत्त्वज्ञानसे च्युत हुए जो पुरुष इस निश्चय मोक्षमार्गको छोड़कर व्यवहारमोक्षमार्गमें प्रस्थान करनेवाले अपने आत्माके द्वारा मात्र द्रव्यलिङ्गमें ममताको धारण करते हैं अर्थात् उसे ही मोक्षमार्ग मानते हैं वे उस निर्मल समयसारका आज भी अवलोकन नहीं कर रहे हैं जो नित्य उदयरूप है, अखण्ड है, एक है, अनुपम प्रकाशसे युक्त है तथा स्वभावकी प्रभाका प्राग्भार है।

और आत्मा अनादिकालसे साथ-साथ रहनेसे यद्यपि एक दिखते हैं तो भी शरीर अलग है और आत्मा अलग है। शरीर रूप रस गन्ध और स्पर्शको लिये हुए पुद्गलद्रव्यकी परिणति है और आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वभावको लिये हुए स्वतन्त्र जीवद्रव्य है। मुनिलिङ्ग अथवा गृहस्थलिङ्ग शरीरके परिणमन हैं और समयसार आत्माकी परिणति है। इस भेदविज्ञानको न समझकर जो केवल शरीरकी परिणतिसे समयसारको प्राप्त करना चाहते हैं वे समयसारके लाभसे वञ्चित रहते हैं। जैसे कोई तुषको ही सर्वस्व समझ मात्र उसीकी सम्हालमें संलग्न रहे और उसके भीतर रहनेवाले चावलकी ओर लक्ष्य न दे, तो वह तुषको ही प्राप्त करता है चावलको नहीं वैसे ही जो शरीरको ही सर्वस्व समझ उसीकी सम्हालमें संलग्न रहे तथा ज्ञान-दर्शनस्वभावकी ओर लक्ष्य न दे तो उसे शरीरकी ही प्राप्ति होगी आत्मा की नहीं, अर्थात् वह इसी संसारमें बार-बार जन्म मरणका पात्र होता रहेगा ॥२४१॥

स्वागताछन्द

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥२४२॥

अर्थ—द्रव्यलिङ्गके ममकारसे जिनके आभ्यन्तर नेत्र मुद्रित हो गये हैं उनके द्वारा समयसार नहीं देखा जाता है क्योंकि इस लोकमें जो द्रव्यलिङ्ग है वह निश्चयसे अन्याश्रित है और यह जो एक ज्ञान है वह निश्चयसे स्वतः है अर्थात् स्वाश्रित है।

भावार्थ—जो मात्र द्रव्यलिङ्गसे मोक्ष मानते हैं वे अन्धे हैं। जैसे कोई चश्मा ही को देखनेका उपकरण समझ आँखकी परवाह न करे तो उसे नेत्रशक्तिके बिना पदार्थ अवलोकन नहीं होता वैसे ही कोई द्रव्यलिङ्गको ही मोक्षप्राप्तिका साधक मान निश्चयरत्नत्रयकी परवाह न करे तो उस आभ्यन्तरकी निर्मलताके बिना केवल द्रव्यलिङ्गसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥२४२॥

आगे व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोंसे मोक्षमार्गका प्रतिपादन करते हैं—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

अर्थ—व्यवहारनय मुनिलिङ्ग और गृहस्थलिङ्ग—दोनों लिङ्गोंको मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय सभी लिङ्गोंको मोक्षमार्गमें नहीं चाहता है।

विशेषार्थ—निश्चयसे श्रमण और श्रमणोपासक अर्थात् मुनि और श्रावकके भेदसे दो प्रकारके द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग हैं यह जो कथन करनेका प्रकार है वह केवल व्यवहार ही है परमार्थ नहीं है क्योंकि व्यवहारनय स्वयं अशुद्ध द्रव्यके अनुभवनरूप है अतः उसमें परमार्थपनेका अभाव है। और श्रमण तथा श्रमणोपासकके विकल्पसे रहित दर्शनज्ञानचारित्रकी प्रवृत्तिमात्र शुद्ध ज्ञान ही एक है इस प्रकारका निस्तुष अर्थात् परद्रव्यसे रहित जो अनुभव है वह निश्चयनय है क्योंकि निश्चयनय ही स्वयं शुद्ध द्रव्यके अनुभवनरूप होनेसे परमार्थ है। इसलिये जो व्यवहारको ही परमार्थ बुद्धिसे अनुभव करते हैं वे समयसारका अनुभव ही नहीं करते और जो परमार्थको—निश्चयको ही परमार्थबुद्धिसे अनुभव करते हैं वे ही समयसारका अनुभव करते हैं।

चैतन्यप्रकाशस्वरूप परमात्माका निश्चय करता हुआ अर्थ और तत्त्वसे इसे जानकर इसीके अर्थभूत एक पूर्ण तथा विज्ञानघन परमब्रह्ममें सम्पूर्ण आरम्भके साथ अर्थात् पूर्ण प्रयत्न द्वारा स्थित होगा वह साक्षात् तथा उसी समय विकसित एक चैतन्यरससे परिपूर्ण स्वभावमें अच्छी तरह स्थित तथा निराकुल आत्मस्वरूप होनेसे परमानन्द शब्दके वाच्य उत्तम तथा अनाकुलता लक्षणसे युक्त सुखस्वरूप स्वयं हो जावेगा।

भावार्थ—यह समयप्राभृतनामक शास्त्र समय अर्थात् आत्माकी सारभूत अवस्था जो परमात्मपद है उसका प्रतिपादन करता है इसलिये शब्दब्रह्मके समान है। इसको जो महानुभाव अच्छी तरह अध्ययन कर समस्त पदार्थोंके प्रकाशन करनेमें समर्थ परमार्थभूत चैतन्यप्रकाशमय परमात्मा है ऐसा निश्चय करता हुआ इसी समयप्राभृत शास्त्रके प्रतिपाद्य विषयभूत विज्ञानघन एक परमब्रह्ममें अर्थात् शुद्धात्म परिणतिमें पूर्ण उद्यमके साथ स्थित होता है अर्थात् उसीमें अपना उपयोग स्थिर करेगा वह स्वयं निराकुल सुखस्वरूप होगा। इस तरह निराकुल सुखकी प्राप्ति ही इस समयप्राभृत शास्त्रके अध्ययनका फल है। अतएव हे भव्यात्माओ! अपने कल्याणके अर्थ इस शास्त्रका अध्ययन करो कराओ, सुनो, सुनाओ, मनन करो। इसी पद्धतिसे अविनाशी सुखके पात्र होओगे, ऐसा श्रीगुरुका उपदेश है ॥४१५॥

अब ज्ञान ही आत्माका तत्त्व है यह बतलानेके लिये कलश कहते हैं—

अनुष्टुपछन्द

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ॥२४५॥

अर्थ—इस प्रकार यह आत्माका तत्त्व ज्ञानमात्र निश्चित हुआ। यह ज्ञान अखण्ड है एक है अचल है, स्वसंवेदनके योग्य है तथा अविनाशी है।

भावार्थ—आत्माका निजरूप ज्ञानमात्र ही कहा है। आत्मा अनन्तधर्मोंका पिण्ड है उनमें कई धर्म तो साधारण और कितने ही असाधारण हैं। उन असाधारण धर्मोंमें भी कई ऐसे हैं जो सर्वसाधारणके गोचर नहीं हैं। चैतन्यसामान्य भी दर्शनज्ञानपर्यायोंके बिना अनुभवमें नहीं आता। इन दर्शन ज्ञानमें भी जो ज्ञानगुण है वह साकार है और इसीकी महिमा है क्योंकि यही सब पदार्थोंकी व्यवस्था योग्य रीतिसे करता है। इसी कारण मुख्यतासे ज्ञानमात्र आत्माको कहा है सो यही परमार्थ है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि अन्य गुण मिथ्या हैं। यदि कोई ज्ञानको ही माने अन्यको कुछ भी नहीं माने जो कुछ है सो ज्ञान ही का विकार है ऐसे विज्ञानाद्वैतवादी अथवा ब्रह्मवादीकी तरह श्रद्धा कर लेवे तो वह मुनिव्रत पालन करके भी मोक्षका पात्र नहीं हो सकता है। मन्दकषायसे स्वर्ग चला जावे तो चला जावे कुछ यथार्थ लाभ नहीं हुआ। इसलिये स्याद्वादके द्वारा वस्तुतत्त्वको यथार्थ जानना चाहिये ॥२४५॥

इस प्रकार कुन्दकुन्दस्वामी विरचित समयप्राभृतमें सर्वविशुद्धज्ञान
नामक नौवें अधिकारका प्रवचन पूर्ण हुआ।

●

द्वैतपनका निषेध नहीं किया जा सकता, इसलिये समस्त वस्तुएँ स्वभावसे प्रवृत्ति और परभावसे व्यावृत्तिरूप होनेके कारण दो भावोंसे युक्त हैं ऐसा नियम है। उन सब वस्तुओंमें जब यह ज्ञानमात्रभाव अर्थात् आत्मा शेषभावोंके साथ निजरसके भारसे प्रवर्तित ज्ञाता-ज्ञेयसम्बन्धके कारण अनादिकालसे ज्ञेयरूप परिणमन होनेसे ज्ञानतत्त्वको पररूप मानकर अज्ञानी होता हुआ नाशको प्राप्त होता है तब स्वरूपसे तत्त्व अर्थात् ज्ञानरूपताको प्रकट करके ज्ञातारूपसे परिणमनके कारण उसे ज्ञानी करता हुआ अनेकान्त ही उसका उद्धार करता है—उसे उज्जीवित करता है—नष्ट होनेसे बचाता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी दर्पणमें सम्मुख स्थित मयूरका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है और उस प्रतिबिम्बके कारण दर्पण मयूररूप ही दिख रहा है। यहाँ प्रतिबिम्बकी अपेक्षा कोई दर्पणको यह मयूर है ऐसा कहता है सो इसके इस कथनमें दर्पणका अभाव प्रकट होता है। उसी प्रकार स्वच्छताके कारण ज्ञानमात्र आत्मामें अनादिकालसे ज्ञेयोंके आकार प्रतिबिम्बित हो रहे हैं और उन प्रतिबिम्बोंके कारण ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञेयाकार जान पड़ता है। यहाँ ज्ञेयाकार परिणतिके कारण कोई ज्ञानमात्र आत्माको यह अमुक ज्ञेय है ऐसा कहता है तो इस कथनमें आत्माका अभाव प्रकट होता है। परन्तु अनेकान्त आकर कहता है—नहीं भाई! यह मयूर नहीं है किन्तु दर्पण है स्वच्छताके कारण इसमें मयूरका प्रतिबिम्बमात्र पड़ रहा है इस प्रतिबिम्बकी अपेक्षा इसे मयूर भले ही कहते रहो, परन्तु दर्पणपनका नाश नहीं हो सकता दर्पण दर्पण ही है। इसी तरह ज्ञानका ज्ञेयाकार परिणमन होनेपर भी अनेकान्त कहता है—नहीं भाई! यह ज्ञेय नहीं है किन्तु ज्ञान है स्वच्छताके कारण इसमें ज्ञेयका प्रतिबिम्बमात्र पड़ रहा है इस प्रतिबिम्बकी अपेक्षा इसे ज्ञेय भले ही कहते रहो परन्तु ज्ञानपनका नाश नहीं हो सकता ज्ञान ज्ञान ही है ॥१॥

जब यह ज्ञानमात्रभाव 'निश्चयसे यह सब आत्मा है' इस प्रकार अज्ञानतत्त्वको ज्ञानस्वरूपसे स्वीकार कर विश्वके ग्रहण द्वारा अपना नाश करता है अर्थात् अपने आपको विश्वरूप मानकर अपनी ज्ञानरूपताको नष्ट करता है तब अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता क्योंकि वह दिखलाता है कि ज्ञानमें जो तद्रूपता है वह पररूपकी अपेक्षा है अर्थात् विश्वाकार परिणमनकी अपेक्षा है। स्वरूपकी अपेक्षा जो ज्ञान विश्वसे भिन्न ही है उसकी ज्ञानरूपताको कौन नष्ट कर सकता है? ॥२॥

जब यह ज्ञानमात्रभाव अनेक ज्ञेयोंके आकारसे सकल एक ज्ञानाकारको खण्डित करता हुआ नाशको प्राप्त होता है तब द्रव्यकी अपेक्षा एकपनको प्रकट करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सामने रखे हुए दर्पणमें सेनाका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है उस प्रतिबिम्बसे दर्पण हाथी घोड़ा, रथ आदि पदार्थरूप दिखता है उन पदार्थोंको देखकर एक ही दर्पणको हाथी घोड़ा रथ आदि नानारूप कहा जाता है उसी प्रकार एक ही ज्ञानमें अनेक पदार्थोंके आनेसे ज्ञानको अनेकरूप कहा जाता है। तब अनेकान्त कहता है कि जिस प्रकार दर्पणमें हाथी घोड़ा रथ आदिके प्रतिबिम्बके कारण अनेकरूपता है दर्पणकी अपेक्षा नहीं, दर्पण तो एक ही है। इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मामें अनेक ज्ञेयाकार परिणमन होनेसे अनेकरूपता है द्रव्यकी अपेक्षा नहीं द्रव्य तो एक ही है। इस तरह अनेकान्त ही आत्माकी एकरूपताको जीवित रखता है ॥३॥

जब यह ज्ञानमात्र भाव, एक ज्ञानका आकार ग्रहण करनेके लिये अनेक ज्ञेयोंके आकारके त्यागसे अपने आपको नष्ट करता है तब पर्यायोंकी अपेक्षा अनेकपनको प्रकाशित करता हुआ

ज्ञेयोंके आकाररूप परिणमन करता है क्योंकि ऐसा उसका स्वभाव है। अतः परक्षेत्रकी अपेक्षा ही ज्ञानमें नास्तित्वका व्यवहार होता है ॥८॥

जब यह ज्ञानमात्रभाव, पूर्वालम्बित पदार्थोंके विनाशकालमें ज्ञानका असत्त्व स्वीकार कर नाशको प्राप्त होता है तब स्वकालकी अपेक्षा सत्त्वको बतलाता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित रखता है। तात्पर्य यह है कि जब ज्ञान पूर्वमें आलम्बित पदार्थोंको छोड़कर नवीन पदार्थोंका आलम्बन करता है तब पूर्वालम्बित पदार्थोंके आकारका विनाश हो जाता है। इस दशामें कोई यह मानता है कि ज्ञान असद्भावको प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है उसके लिये अनेकान्त यह कहता हुआ उसे जीवित रखता है कि पूर्वालम्बित पदार्थके नष्ट हो जाने पर भी ज्ञान स्वकालकी अपेक्षा अस्तित्वरूप ही रहता है ॥९॥

जब वह ज्ञानमात्रभाव, पदार्थोंके आलम्बनकालमें ही ज्ञानका सत्त्व रहता है अन्य कालमें नहीं ऐसा स्वीकार कर अपने आपको नष्ट करता है तब परकालकी अपेक्षा ज्ञानके असत्त्वको प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता। तात्पर्य यह है—किसीका कहना है कि जिस समय ज्ञान पदार्थोंको जानता है उसी समय सत्त्व रहता है अन्य समयमें नहीं। इस तरह जाननेके अतिरिक्त समयमें ज्ञानका नाश हो जाता है इस स्थितिमें अनेकान्त ही यह प्रकट करता हुआ उसे नष्ट होनेसे बचाता है कि परकालकी अपेक्षा ही ज्ञानका असत्त्व हो सकता है स्वकालकी अपेक्षा नहीं।

जब वह ज्ञानमात्रभाव, ज्ञानके विषयभूत परभावरूप परिणमन करनेसे ज्ञायकभावको परभावरूपसे स्वीकारकर नाशको प्राप्त होता है तब स्वभावसे सत्त्वको प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है—जब ज्ञानमें परभावका विचार आता है तब परभावरूप उसका परिणमन होता है, एतावता ज्ञान परभाव होकर नाशको प्राप्त होने लगता है। उस समय अनेकान्त यह कहता हुआ उसे जीवित रखता है कि स्वभावसे ज्ञानका सदा सत्त्व ही रहता। जाननेकी अपेक्षा परभावरूप होनेपर भी ज्ञानका स्वभावकी अपेक्षा कभी नाश नहीं हो सकता ॥११॥

जब वह ज्ञानमात्रभाव, सब भाव मैं ही हूँ इस प्रकार परभावको ज्ञायकभावरूपसे मानकर अपने आपको नष्ट करने लगता है तब परभावकी अपेक्षा असत्त्वको बतलाता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता है। तात्पर्य यह है कि जिस समय परभाव ज्ञानमें आते हैं उस समय उन भावोंका ज्ञानरूप परिणमन होता है। एतावता ज्ञानका परभावरूप परिणाम स्वीकार करनेसे ज्ञानके नाशका प्रसङ्ग आता है तब अनेकान्त यह कहकर उसे नष्ट होनेसे बचाता है कि ज्ञानका असत्त्व परभावकी अपेक्षा है स्वभावकी अपेक्षा नहीं ॥१२॥

जब वह ज्ञानमात्रभाव, अनित्य ज्ञानविशेषोंके द्वारा खण्डित हो गया है नित्य सामान्यभाव जिसका, ऐसा होता हुआ नाशको प्राप्त होता है तब ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा नित्यपनेको प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है—एक तो सामान्यज्ञान है जो सदा विद्यमान रहनेसे नित्य कहलाता है और एक घटपटादिकका विशेषज्ञान है जो उत्पन्न होता और विनशता रहता है इसलिये अनित्य कहलाता है। जिस समय ज्ञानका अनित्य ज्ञानविशेषरूप परिणमन होता है उस समय नित्य ज्ञानसामान्य खण्डित हो जाता है एतावता ज्ञानके नाशका

ऐसा मानते हैं कि जो तत् है वह स्वरूपसे ही तत् है अर्थात् ज्ञान स्वकीय स्वभावसे नयाधीन नहीं है। इसलिये वह अतिशयरूपसे प्रकट अपने घनस्वभावसे परिपूर्ण होता हुआ सदा उदित रहता है। यह प्रथम तत्स्वरूप भङ्ग है ॥२४७॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुनः
विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥२४८॥

अर्थ—विश्व ज्ञान है अर्थात् समस्त ज्ञेय ज्ञानमय हैं ऐसा विचारकर समस्त जगत्को निजतत्त्वकी आशासे देखकर विश्वरूप हुआ अज्ञानी एकान्तवादी पशुके समान स्वच्छन्द चेष्टा करता है। परन्तु स्याद्वादको देखनेवाला ज्ञानी पुरुष जो तत् है वह पररूपसे तत् नहीं है अर्थात् ज्ञान पररूपसे ज्ञान नहीं है किन्तु स्वरूपसे ज्ञान है, वह ज्ञान विश्वसे भिन्न है और समस्त विश्वसे घटित नहीं है अर्थात् समस्त ज्ञेयवस्तुओंसे घटित होनेपर ज्ञेयस्वरूप नहीं है, इस तरह ज्ञानके स्वतत्त्व—निजस्वरूपका अनुभव करता है।

भावार्थ—संसारके समस्त पदार्थ ज्ञानके विषय हैं इसलिये समस्त विश्व ज्ञान है ऐसा समझ एकान्तवादी अपने आपको विश्वमय मानता है, समस्त संसारको स्वतत्त्व मानकर पशुकी तरह स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है। परन्तु स्याद्वादी उस ज्ञानतत्त्वके निजस्वरूपको अच्छी तरह समझता है, वह जानता है कि ज्ञान स्वरूपकी अपेक्षा तद्रूप है पररूपकी अपेक्षा तद्रूप नहीं है। इसीलिये ज्ञान ज्ञेयोंके आकार परिणमन हुआ भी उनसे भिन्न है। यह अतत्स्वरूपका द्वितीय भङ्ग है ॥२४८॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लसज्-
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन् पशुर्नश्यति।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसयन्
एकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित् ॥२४९॥

अर्थ—बाह्य पदार्थोंके ग्रहणरूप स्वभावके भारसे सब ओरसे उल्लसित होनेवाले नाना ज्ञेयोंके आकारसे जिसकी शक्ति खण्ड-खण्ड हो गई है तथा इसी कारण जो सब ओरसे टूट रहा है ऐसा अज्ञानी एकान्तवादी नाशको प्राप्त होता है और सदा उदित रहनेवाले एक द्रव्यस्वभावसे भेदके भ्रमको नष्ट करनेवाला अनेकान्तको जाननेवाला, जिसका निर्बाध अनुभव हो रहा है ऐसे ज्ञानको एक देखता है।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥२५२॥

अर्थ—मिथ्यावासनासे वासित अज्ञानी एकान्तवादी आत्माको सर्व द्रव्यमय स्वीकार कर स्वद्रव्यके भ्रमसे परद्रव्योंमें विश्राम करता है। परन्तु निर्मल शुद्धज्ञानकी महिमाका धारक स्याद्वादी समस्त वस्तुओंमें परद्रव्यरूपसे नास्तिताको जानता हुआ स्वद्रव्यका ही आश्रय करता है।

भावार्थ—ज्ञानकी स्वच्छताके कारण ज्ञेयरूपसे उसमें सब द्रव्योंका प्रतिबिम्ब पड़ता है। एतावता उन प्रतिबिम्बित परद्रव्योंको स्वद्रव्य समझ कर अज्ञानी जीव उन्हींमें लीन रहता है अर्थात् वह ज्ञानको परद्रव्यरूप मानता है परन्तु जिनागमके अध्ययनसे जिसके ज्ञानकी महिमा निर्मल है ऐसा स्याद्वादी ज्ञानी पुरुष समस्त वस्तुओंमें परद्रव्यके नास्तित्वको स्वीकृत करता हुआ सदा स्वद्रव्यमें ही लीन रहता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जीव समस्त पदार्थोंको स्वद्रव्यकी अपेक्षा अस्तिरूप और परद्रव्यकी अपेक्षा नास्तिरूप श्रद्धान करता है। यह परद्रव्यकी अपेक्षा नास्तित्वका षष्ठ भङ्ग है ॥२५२॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतन्तमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ॥२५३॥

अर्थ—जो भिन्न क्षेत्रमें स्थित ज्ञेय पदार्थोंके निश्चित व्यापारमें स्थित है अर्थात् जो ऐसा मानता है कि ज्ञानरूप पुरुष (आत्मा) परक्षेत्रमें स्थित पदार्थोंको जानता है ऐसा अज्ञानी एकान्तवादी पुरुष (आत्मा) को सब ओरसे बाह्य पदार्थोंमें ही पड़ता हुआ देख निरन्तर दुःखी होता है—नष्ट होता है। परन्तु स्याद्वादको जाननेवाला ज्ञानी स्वक्षेत्रके अस्तित्वमें जिसका वेग रुक गया है तथा जिसके ज्ञानरूप व्यापारकी शक्ति स्वक्षेत्रमें स्थित ज्ञेय पदार्थोंमें नियत है ऐसा होता हुआ विद्यमान रहता है—नष्ट नहीं होने पाता।

भावार्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, भिन्न क्षेत्रमें स्थित ज्ञेय पदार्थोंके जाननेरूप व्यापारमें प्रवृत्त पुरुषको सब ओरसे बाह्य पदार्थोंमें पड़ता हुआ देख नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादका ज्ञाता मानता है कि पुरुष (आत्मा) स्वक्षेत्रमें स्थित रहकर अन्य क्षेत्रमें स्थित ज्ञेयोंको जानता है। अज्ञानीके मतमें जिस प्रकार पुरुष बाह्य पदार्थोंमें वेगसे पड़ता है वैसा स्याद्वादीके मतमें नहीं पड़ता, स्वक्षेत्रके अस्तित्वमें उसका वेग रुक जाता है वह अपने आपमें प्रतिबिम्बित जो ज्ञेय हैं उन्हींको जानता है। ऐसा जानता हुआ स्याद्वादी नाशको प्राप्त नहीं होता। यह स्वक्षेत्रमें अस्तित्वका सप्तम भङ्ग है ॥२५३॥

भावार्थ—एकान्तवादी कहता है कि जिस प्रकार ज्ञेय पदार्थ उत्पाद और व्ययसे सहित हैं अर्थात् उपजते और विनशते हैं उसी प्रकार प्रवर्तमान जो नाना ज्ञानके अंश हैं वे भी उत्पाद व्ययसे युक्त हैं अर्थात् उपजते और विनशते हैं। इस तरह ज्ञानको क्षणभङ्गुर मानता हुआ अज्ञानी नाशको प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी कहता है कि ज्ञान क्षणभङ्गुर होनेपर भी अपने चैतन्य स्वरूपसे चिद्वस्तुका स्पर्श करता हुआ नित्य उदयरूप रहता है तथा टङ्कोत्कीर्ण घनस्वभावकी महिमासे युक्त होता है। इस तरह इस ज्ञानरूप होता हुआ स्याद्वादी जीवित रहता है। यह नित्यपनका तेरहवाँ भङ्ग है ॥२५९॥

शार्दूलविक्रीडितछन्द

टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन ।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥२६०॥

अर्थ—एकान्तवादी अज्ञानी टङ्कोत्कीर्ण निर्मल ज्ञानके प्रवाहरूप आत्मतत्त्वकी आशासे ज्ञानको उछलती हुई निर्मल चैतन्यपरिणतिसे भिन्न कुछ अन्य ही नित्यद्रव्य मानता है। परन्तु स्याद्वादी, चिद्वस्तु (आत्माकी) परिणतियोंके क्रमसे उस ज्ञानकी अनित्यताका अनुभव करता हुआ ऐसे ज्ञानको प्राप्त होता है जो अनित्यतासे युक्त होनेपर भी उज्ज्वल—निर्मल रहता है।

भावार्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, ज्ञानको द्रव्यरूप मानकर नित्य ही स्वीकार करता है। परन्तु स्याद्वादी उपजते और विनशते हुए पर्यायरूप पर्यायोंकी अपेक्षा उसे अनित्य स्वीकार करता है, ऐसा ज्ञान पर्यायोंके उपजने और विनशनेकी अपेक्षा अनित्य होनेपर भी उज्ज्वल रहता है क्योंकि पर्यायोंका उपजना और विनशना वस्तुका स्वभाव है। यह अनित्यपनका चौदहवाँ भङ्ग है ॥२६०॥

अनुष्टुप्

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ॥२६१॥

अर्थ—इस प्रकार अज्ञानसे विमूढ प्राणियोंके लिये ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको सिद्ध करता हुआ अनेकान्त स्वयं ही अनुभवमें आता है ॥२६१॥

अनुष्टुप्

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम् ।
अलङ्घ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥२६२॥

अर्थ—इस प्रकार तत्त्वकी व्यवस्थाके द्वारा जो स्वयं अपने आपको व्यवस्थित कर रहा है ऐसा यह व्यवस्थित अनेकान्त जिनेन्द्र भगवान्का अलङ्घ्य शासन है।

भावार्थ—यह अनेकान्त स्वयं व्यवस्थित है तथा तत्त्वकी उत्तम व्यवस्था करनेवाला है। इसलिये यह जिनेन्द्र भगवान्का अलङ्घनीय शासन माना गया है ॥२६२॥

यदि कोई कहता है कि जब आत्मा अनेक धर्ममय है तब उसका ज्ञानमात्रपना क्यों कहा

(१०) समस्त विश्वके विशेषभावरूप परिणत आत्मज्ञानसे तन्मय दसवीं सर्वज्ञत्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा केवलज्ञानसे सहित होता है।

(११) अरूपी आत्मप्रदेशोंमें प्रकाशमान लोक-अलोकके आकारसे चित्रित उपयोग जिसका लक्षण है ऐसी ग्यारहवीं स्वच्छत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मप्रदेशोंमें लोक-अलोकका आकार प्रतिबिम्बित होता है।

(१२) स्वयं प्रकाशमान निर्मल स्व-संवेदनसे तन्मय बारहवीं प्रकाशशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा सदा स्व-संवेदनशील रहता है।

(१३) क्षेत्र और कालसे अमर्यादित चैतन्यके विलासरूप तेरहवीं असंकुचित विकासत्वशक्ति है। इस शक्तिकी महिमासे आत्माका चिद्विलास सर्वक्षेत्र और सर्वकालमें व्याप्त रहता है।

(१४) अन्यके द्वारा न किये जानेवाले तथा अन्यको न करनेवाले एक द्रव्यस्वरूप चौदहवीं अकार्यकारणशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मा न किसी अन्य द्रव्यके द्वारा की जाती है और न किसी अन्य द्रव्यको करती है।

(१५) पर और आपके निमित्तसे होनेवाले ज्ञेयाकार और ज्ञानाकारोंके ग्रहण करने-करानेके स्वभावरूप पन्द्रहवीं परिणम्य-परिणामकत्व शक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मा ज्ञेय तथा ज्ञानरूप परिणमता है।

(१६) हीनाधिकतासे रहित स्वरूपमें नियत रहना जिसका लक्षण है ऐसी सोलहवीं त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मस्वरूपमें न किसी अतिरिक्त तत्त्वका त्याग होता है और न किसी न्यून तत्त्वका ग्रहण होता है।

(१७) षट्स्थानपतित वृद्धि-हानिरूप परिणत स्वरूपकी प्रतिष्ठाका कारण जो विशिष्ट गुण है तद्रूप सत्रहवीं अगुरुलघुत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्माके गुणोंमें न सर्वथा वृद्धि होती है और न सर्वथा हानि ही है।

(१८) क्रमवृत्तिपन तथा अक्रमवृत्तिपन जिसका लक्षण है ऐसी अठारहवीं उत्पाद-व्यय ध्रुवत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मामें क्रमसे प्रवृत्त होनेवाले उत्पाद-व्यय तथा अक्रमसे प्रवृत्त होनेवाला ध्रौव्य विद्यमान रहता है।

(१९) द्रव्यके स्वभावभूत ध्रौव्य, व्यय और उत्पादसे आलिङ्गित समान तथा असमान परिणामरूप एक अस्तित्वमात्रसे तन्मय उन्नीसवीं परिणामशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मामें उत्पाद-व्यय ध्रौव्यरूप परिणमन होता रहता है और वह परिणमन समान तथा असमानके भेदसे दो प्रकारका होता है।

(२०) कर्मबन्धके अभावसे प्रकट, सहज तथा स्पर्शादिशून्य आत्मप्रदेशस्वरूप बीसवीं अमूर्तत्वशक्ति है। इस शक्तिकी महिमासे आत्माके प्रदेश स्पर्श रस गन्ध और वर्णसे शून्य रहते हैं। आत्मप्रदेशोंकी अमूर्तावस्था कर्मबन्धके नष्ट हो जाने पर व्यक्त होती है।

(२१) सकल कर्मोंसे किये गये ज्ञातापनमात्रसे अतिरिक्त-अन्य परिणामोंके कर्तृत्वसे विरत होना जिसका लक्षण है ऐसी इक्कीसवीं अकर्तृत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण ज्ञातारूप परिणामके सिवाय आत्मामें जो कर्मनिमित्तक रागादिक परिणाम होते हैं उनका आत्मा कर्ता नहीं होता है।

(२२) सकल कर्मोंसे किये गये, ज्ञातापनमात्रसे अतिरिक्त अन्य परिणामोंके अनुभवसे विरत होना

ऐसी बत्तीसवीं अनेकत्वशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मा, द्रव्यकी अपेक्षा एक होकर भी अनेक पर्यायोंमें व्याप्त रहनेसे अनेकरूप होता है।

(३३) भूतावस्थपन जिसका स्वरूप है ऐसी तेतीसवीं भावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्माकी कोई न कोई अवस्था विद्यमान रहती ही है।

(३४) शून्यावस्थपन जिसका स्वरूप है ऐसी चौंतीसवीं अभावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामें वर्तमान पर्यायके सिवाय अन्य अतीत और अनागत पर्यायोंका अभाव रहता है।

(३५) वर्तमान पर्यायका व्यय जिसका स्वरूप है ऐसी पैंतीसवीं भावाभावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामें वर्तमान पर्यायका नाश होता है।

(३६) जो पर्याय वर्तमानमें नहीं है उसका उदय होनेरूप छत्तीसवीं अभावभावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामें अभावरूप अनागत पर्यायका उदय होता है।

(३७) वर्तमान पर्यायके होनेरूप सैंतीसवीं भावभावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा अपनी वर्तमान पर्यायमें वर्तता है।

(३८) न होनेवाली पर्यायके न होनेरूप अड़तीसवीं अभावाभावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामें अविद्यमान पर्यायका अभाव रहता है।

(३९) कर्ता-कर्म आदि कारकोंसे अनुगत क्रियासे रहित होकर होना ही जिसका स्वरूप है ऐसी उनतालीसवीं भावशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा कर्ता-कर्म आदि कारकोंसे रहित होकर ही प्रवर्तता है।

(४०) कारकोंसे अनुगत होकर होना जिसका स्वरूप है ऐसी चालीसवीं क्रियाशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा कारकोंका विकल्प साथमें लेकर प्रवर्तता है।

(४१) प्राप्त होते हुए सिद्धरूप भावसे तन्मय इकतालीसवीं कर्मशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा स्वयं सिद्ध (प्रकट) होता हुआ कर्मरूप होता है।

(४२) होनेरूप जो सिद्धरूप भाव उसके भावकपनसे तन्मय ब्यालीसवीं कर्तृत्वशक्ति है। इस शक्तिसे आत्माकी जो सिद्धरूप दशा है उसका करनेवाला वह स्वयं होता है।

(४३) होते हुए भावके होनेमें जो साधकतमपन है उससे तन्मय तेतालीसवीं करणशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मामें जो भाव हो रहा है उसका अतिशय साधक वह स्वयं होता है।

(४४) स्वयं दिये जानेवाले भावके उपेयपनसे तन्मय चवालीसवीं सम्प्रदानशक्ति है। इस शक्तिसे आत्माके द्वारा जो भाव दिया जा रहा है उसके द्वारा उपेय—प्राप्त करने योग्य आत्मा स्वयं होता है।

(४५) उत्पाद-व्ययसे आलिंगित भावके अपायसे जो हानिसे रहित ध्रुवपन (अवधिपन) है उससे तन्मय पैंतालीसवीं अपादानशक्ति है। इस शक्तिके कारण आत्मासे जब उत्पाद-व्ययसे युक्त भावका अपाय होने लगता है अर्थात् ऐसा भाव जब आत्मासे पृथक् होने लगता है तब उसका अवधिभूत—अपादान आत्मा स्वयं होता है।

(४६) भाव्यमान भावके आधारपनसे तन्मय छयालीसवीं अधिकरणशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा भावने योग्य भावोंका आधार स्वयं होता है।

(४७) अपने भावमात्रके स्वस्वामीपनसे तन्मय सैंतालीसवीं सम्बन्धशक्ति है। इस शक्तिसे आत्मा

प्रकारका परिणाम देखा जाता है अर्थात् आत्मा ही साधक है और आत्मा ही सिद्ध है। उन दोनों परिणामोंमें जो साधकरूप है वह उपाय कहलाता है और जो सिद्धरूप है वह उपेय कहा जाता है। इसलिये अनादिकालसे साथ लगे हुए मिथ्यादर्शन अज्ञान और अचारित्रके कारण स्वरूपसे च्युत होनेसे जो चतुर्गति संसारमें परिभ्रमण कर रहा है ऐसा यह आत्मा जब अत्यन्त निश्चल भावसे ग्रहण किये हुए व्यवहारसम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके पाकप्रकर्षकी परम्पराके द्वारा क्रमसे स्वरूपको प्राप्त होता है तब अन्तर्मग्न निश्चयसम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी विशेषतासे उसका साधकरूप परिणमन होता है। तथा परमप्रकर्षकी उत्कृष्ट दशाको प्राप्त रत्नत्रयके अतिशयसे प्रवृत्त होनेवाले जो समस्त कर्मोंका क्षय उससे प्रज्वलित तथा कभी नष्ट नहीं होनेवाला जो स्वभावभाव उसकी अपेक्षा सिद्धरूप परिणमन होता है। इस तरह साधक और सिद्धरूप परिणमन करनेवाले आत्माका जो ज्ञानमात्रभाव है वह एक ही उपायोपेयभावको सिद्ध करता है अर्थात् आत्माका ज्ञानमात्रभाव ही उपाय है और वही उपेय है।

तात्पर्य ऐसा है—यह आत्मा अनादिकालसे मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रके कारण संसारमें भ्रमण करता है। जब तक व्यवहाररत्नत्रयको निश्चलरूपसे अङ्गीकृत कर अनुक्रमसे अपने स्वरूपके अनुभवकी वृद्धि करता हुआ निश्चयरत्नत्रयकी पूर्णताको प्राप्त होता है तबतक तो साधकरूप भाव है और निश्चयरत्नत्रयकी पूर्णतासे समस्त कर्मोंका क्षय होकर जो मोक्ष प्राप्त होता है वह सिद्धरूप भाव है। इन दोनों भावरूप परिणमन ज्ञानका ही परिणमन है, इसलिये वही उपाय है और वही उपेय है।

इस प्रकार साधक और सिद्ध दोनों प्रकारके परिणमनोंमें ज्ञानमात्रकी अनन्यता—अभिन्नतासे निरन्तर अस्खलित जो आत्मारूप एक वस्तु उसके निश्चल ग्रहणसे उन मुमुक्षुजनोंको जिन्हें अनादि संसारसे लेकर अभी तक संसारसागरसे संतरण करानेवाली ज्ञानमात्र भूमिकाका लाभ नहीं हुआ, भी उस भूमिकाका लाभ हो जाता है। तदनन्तर उस भूमिकामें निरन्तर लीन रहनेवाले वे सत्पुरुष, स्वयं ही क्रम तथा अक्रमसे प्रवृत्त होनेवाले अनेक धर्मोंकी मूर्तिरूप होते हुए साधकभावसे उत्पन्न होनेवाले परमप्रकर्षकी उच्चतम अवस्थास्वरूप सिद्धभावके पात्र होते हैं। परन्तु जो पुरुष, अन्तर्लीन अर्थात् भीतर समाये हैं अनन्त धर्म जिसमें ऐसी ज्ञानमात्र एकभावरूप इस भूमिको नहीं प्राप्त करते हैं वे निरन्तर अज्ञानी रहते हुए ज्ञानमात्र भावके स्वरूपसे नहीं होने तथा पररूप होनेको देखते जानते तथा अनुचरण करते हुए मिथ्यादृष्टि मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्रके धारक होते हैं तथा उपायोपेयभावसे सर्वथा भ्रष्ट होकर निरन्तर भटकते ही रहते हैं।

आगे यही भाव कलशामें कहते हैं—

वसन्ततिलका

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥२६५॥

अर्थ—जिनका किसी तरह मोह (मिथ्यात्व) नष्ट हो गया है ऐसे जो सत्पुरुष, ज्ञानमात्र

निजस्वभावरूप निश्चल भूमिका आश्रय करते हैं वे साधकपनेको प्राप्त कर सिद्ध होते हैं। परन्तु जो मूढ—मिथ्यादृष्टि हैं वे इस भूमिको न पाकर परिभ्रमण करते हैं।

भावार्थ—स्वभावसे अथवा परके उपदेश आदिसे जिनका मिथ्यात्व दूर हो जाता है ऐसे जो जीव इस ज्ञानमात्र भूमिको प्राप्त करते हैं वे साधक अवस्थाको प्राप्त होकर क्रमसे सिद्ध होते हैं और इनके विपरीत मिथ्यादृष्टि जीव इस भूमिको न पाकर चतुर्गति संसारमें जन्म मरण करते हुए निरन्तर घूमते रहते हैं ॥२६५॥

आगे इस भूमिकी प्राप्ति कैसे होती है, यह कहते हैं—

वसन्ततिलका

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥२६६॥

अर्थ—जो स्याद्वादकी कुशलता तथा अत्यन्त निश्चल संयमके द्वारा निरन्तर इसी ओर उपयोग लगाता हुआ अपने ज्ञानरूप आत्माकी भावना करता है—आत्माका चिन्तन करता है वही एक ज्ञाननय और क्रियानयकी परस्पर तीव्र मित्रताका पात्र हुआ इस ज्ञानमयी भूमिको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो पुरुष, मात्र ज्ञाननयको स्वीकार कर क्रियानयको छोड देता है अर्थात् चरणानुयोगकी पद्धतिसे चारित्रका पालन नही करता वह स्वच्छन्द हुआ इस ज्ञानमयी भूमिको नही पाता और जो क्रियानयको ही स्वीकार कर मात्र बाह्य आचरणमे लीन रहता है तथा आस्रव और बन्ध आदिके योग्य भावोंके परिज्ञानसे रहित होता है वह भी इस भूमिको नही प्राप्त करता। किन्तु जो इन दोनो नयोको अंगीकार कर ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्रका पालन करता है वही इस भूमिको प्राप्त होता है ॥२६६॥

अब ज्ञानमयी भूमिको प्राप्त करनेवालेको ही आत्माका उदय होता है, यह कहनेके लिये कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहास
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभात ।
आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥२६७॥

अर्थ—जिसका विकासरूपी हास चैतन्यपिण्डके तेजसे विलसित है—शोभायमान है, जो शुद्धप्रकाशके समूहसे अच्छी तरह सुशोभित है, जो अनन्त सुखमे अच्छी तरह स्थित और निरन्तर न खिरनेवाले एक—अद्वितीयरूपमे युक्त है तथा जिसकी ज्ञानरूपी ज्योति अचल है ऐसा यह आत्मा उसी ज्ञानमात्र भूमिकाको प्राप्त करनेवाले महानुभावके उदयको प्राप्त होता है।

भावार्थ—यहाँ चित्पिण्ड आदि विशेषणसे अनन्तदर्शनका प्रकट होना बतलाया है, शुद्धप्रकाश आदि विशेषणसे अनन्तज्ञानका प्रकट होना बतलाया है, आनन्दसुस्थित आदि विशेषणसे अनन्तसुखका प्रकट होना सूचित किया है और अचलार्चि इस विशेषणसे अनन्तवीर्यका सद्भाव जताया है। इस तरह अनन्तचतुष्टयसे तन्मय आत्मा उसी महानुभावके उदयरूप होता है जो ज्ञानमात्र भूमिको प्राप्त हो चुकता है ॥२६७॥

आगे आचार्य स्वभावके प्रकट होनेकी आकांक्षा दिखलाते हुए कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलका

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥२६८॥

अर्थ—जिसका लहलहाट करता तेज स्याद्वादसे देदीप्यमान है तथा जिसमें शुद्धस्वभावकी महिमा विद्यमान है ऐसा ज्ञानरूप प्रकाश जब मुझमें उदयको प्राप्त हो चुका है तब मुझे बन्ध और मोक्षके मार्गमें गिरानेवाले अन्यभावोंसे क्या प्रयोजन है ? मैं तो चाहता हूँ कि मेरा नित्य ही उदयरूप रहनेवाला यह स्वभाव ही अतिशयरूपसे स्फुरायमान हो।

भावार्थ—शुद्धस्वभावकी महिमासे युक्त यथार्थ ज्ञानके प्रकट होने पर बन्ध और मोक्षके विकल्प उठानेवाले अन्य भावोंसे ज्ञानी जीवका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता इसलिये वह सदा यही चाहता है कि मेरा जो ज्ञानमात्र स्वभाव है वही सदा उदित रहे ॥२६८॥

आगे ज्ञानी एक अखण्ड आत्माकी भावना करता है, यह दिखानेके लिये कलशा कहते हैं—

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥२६९॥

अर्थ—अनेक प्रकारकी आत्मशक्तियोंका समुदायरूप यह आत्मा नयोंकी दृष्टिसे खण्ड-खण्ड होता हुआ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है इसलिये मैं अपने आत्माका ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं तो वह चैतन्यरूप तेज हूँ जो अखण्ड है अर्थात् प्रदेशभेद न होनेसे जो सदा अखण्ड रहता है फिर भी शक्तियोंकी विभिन्नताके कारण जिसके खण्ड दूर नहीं किये जा सकते, जो एक है अत्यन्त शान्त है तथा अचल है अर्थात् अपने स्वभावसे कभी चिगता नहीं है।

भावार्थ—आत्मा नाना प्रकारकी जिन आत्मशक्तियोंका समुदाय है वे शक्तियाँ नयों पर अवलम्बित हैं। इसलिये जब नयदृष्टिसे आत्माका चिन्तन किया जाता है तब एक आत्मा खण्ड खण्डरूप अनुभवमें आता है केवल खण्ड ही सामने आता है, अखण्डरूपसे उसका नाश हो जाता है। अतएव ज्ञानी पुरुष नयचक्रसे परे रहनेवाले एक अखण्ड आत्माका ही चिन्तन करता है। यद्यपि प्रारम्भमें, ज्ञानमें नय प्रमाण और निक्षेपके विकल्प आते हैं परन्तु आगे चलकर वे विकल्प स्वयं शान्त हो जाते हैं ॥२६९॥

ज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है कि मैं न तो द्रव्यके द्वारा आत्माको खण्डित करता हूँ, न क्षेत्रके द्वारा खण्डित करता हूँ, न कालके द्वारा खण्डित करता हूँ और न भावके द्वारा खण्डित करता हूं। मैं तो अत्यन्त विशुद्ध एक ज्ञानमात्र हूँ। यद्यपि व्यवहारनयके विकल्पमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका विकल्प आता है, परन्तु अभेदनयसे विचार करनेपर उन भागोंका प्रवेश नहीं है। अत. उक्त विकल्प स्वयं शान्त हो जाते हैं और वस्तु एकरूप अनुभवमें आने लगती है।

शालिनीछन्द

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्र. ॥२७०॥

अर्थ—जो यह मैं ज्ञानमात्र भाव हूँ उसे ज्ञेयका ज्ञानमात्र नहीं जानना, किन्तु ज्ञेयोंके आकाररूप ज्ञानकी कल्लोलोंसे चञ्चल, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ऐसे तीन भेदोंसे युक्त वस्तुमात्र जानना।

भावार्थ—ऊपर आत्माको ज्ञानमात्र भाव कहा है, सो उसका यह अभिप्राय नहीं है कि आत्मा केवल ज्ञेयोंके ज्ञानमात्र ही है, किन्तु ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता इस प्रकार तीन भेदोंको लिये हुए वस्तुमात्र है अर्थात् आत्मा ज्ञान भी है, ज्ञेय भी है और ज्ञाता भी है। उस आत्मामें ज्ञेयोंके आकार प्रतिफलित होते हैं, वे आकार ही ज्ञानके कल्लोल कहलाते हैं। उन ज्ञानकी कल्लोलोंके द्वारा वह आत्मा चञ्चल रहता है अर्थात् उसमें ज्ञेयाकाररूप ज्ञानके विकल्प सदा उठते रहते हैं ॥२७०॥

अब आत्माकी अनेकरूपता ज्ञानियोंके मनमें भ्रम उत्पन्न नहीं करती, यह दिखलानेके लिये कलशा कहते हैं—

पृथ्वीछन्द

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचक
क्वचित्पुनरमेचक सहजमेव तत्त्व मम।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसा तन्मन.
परस्परसुसहतप्रकटशक्तिचक्र स्फुरत् ॥२७१॥

अर्थ—ज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है कि मेरा जो सहज आत्मतत्त्व है, वह यद्यपि कहीं तो मेचक—अशुद्ध, कहीं मेचकामेचक—शुद्धाशुद्ध और कहीं अमेचक—शुद्ध ही सुशोभित होता है। तथपि वह निर्मल बुद्धिके धारक पुरुषोंके मनको भ्रान्तियुक्त नहीं करता, क्योंकि वह परस्पर अच्छी तरह मिलकर प्रकट हुई शक्तियोंके समूहसे युक्त तथा स्फुरायमान—अनुभवगोचर है।

भावार्थ—जिस प्रकार नाटकमें एक ही पात्र नानारूपोंको धारण करनेके कारण नानारूप दिखाई देता है, परन्तु परमार्थसे वह एक ही होता है, इसलिये ज्ञानी पुरुषोंको भ्रम नहीं होता वे स्पष्ट समझ लेते हैं कि नाना वेषोंको धारण करनेवाला एक ही पात्र है। उसी प्रकार यह आत्मा भी नानारूप धारण करनेके कारण नानारूप दिखाई देता है। जैसे कर्मोदयकी तीव्रतामें

यह आत्मा रागादिक विकारोंसे अशुद्ध दिखाई देता है, फिर कुछ कर्मोंके दूर होनेपर रागादिक विकारोंमें न्यूनता होनेपर शुद्धाशुद्ध अनुभवमें आता है और तदनन्तर कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जानेपर रागादिक विकारोंसे सर्वथा रहित होता हुआ शुद्ध दिखाई देता है। इस तरह आत्मा यद्यपि नानारूपोंमें अनुभवगोचर होता है परन्तु निर्मल भेदज्ञानको धारण करनेवाले पुरुषोंको इससे आत्मामें अनेकरूपताका भ्रम नहीं होता। वे समझते हैं कि एक ही आत्माकी ये नाना अवस्थाएँ हैं। भ्रम उत्पन्न न होनेका कारण यह है कि आत्मा परस्पर मिली हुई अनेक शक्तियोंके समूहसे युक्त एक ही अनुभवमें आती है। उन शक्तियोंके कारण आत्मामें अशुद्धता, शुद्धताशुद्धता और शुद्धतारूप परिणमन करनेकी योग्यता विद्यमान है ॥२७१॥

आगे आत्माके आश्चर्यकारी सहज वैभवको दिखलानेके लिए कलशा कहते हैं—

पृथ्वीछन्द

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभङ्गुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात् ।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम् ॥२७२॥

अर्थ—अहा ! आत्माका यह सहज वैभव बड़ा आश्चर्यकारी है क्योंकि इस ओर अनेकताको प्राप्त है तो इस ओर सदा एकताको धारण कर रहा है, इस ओर क्षणभङ्गुर है तो इस ओर निरन्तर उदयरूप रहनेसे ध्रुव है, इस ओर परम विस्तृत है तो इस ओर स्वकीय प्रदेशोंसे धारण किया हुआ है।

भावार्थ—यहाँपर अनेक दृष्टियोंको हृदयमें रखकर अमृतचन्द्रस्वामी आत्माके विभवका वर्णन कर रहे हैं। पर्यायदृष्टिसे आत्मा अनेकताको प्राप्त है, द्रव्यदृष्टिसे एकताको प्राप्त है, क्रमभावी पर्यायकी दृष्टिसे आत्मा क्षणभङ्गुर है, सहभावी गुणकी दृष्टिसे ध्रुवरूप है, ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगत दृष्टिसे आत्मा परम विस्तारको प्राप्त है और स्वकीय प्रदेशोंकी अपेक्षा आत्मप्रदेशोंके परिमाण है। इन विविध शक्तियोंके कारण आत्मामें परस्पर विरुद्ध धर्मोंका समावेश भी सिद्ध हो जाता है ॥२७२॥

आगे आत्माकी उसी आश्चर्यकारक महिमाका वर्णन फिर भी करते हैं—

पृथ्वीछन्द

कषायकलिरेकतः स्खलति शान्तिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः ।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ॥२७३॥

अर्थ—एक ओर कषायसे उत्पन्न कलह स्खलित हो रहा है—स्वरूपसे भ्रष्ट हो रहा है तो एक ओर शान्ति विद्यमान है। एक ओर संसारकी बाधा है तो एक ओर मुक्ति स्पर्श कर रहा है। एक ओर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं तो एक ओर चैतन्यमात्र ही सुशोभित होता

है। आचार्य कहते हैं कि अहो! आत्माके स्वभावकी महिमा अद्भुतसे अद्भुत—अत्यन्त आश्चर्य-कारी विजयरूप प्रवर्त रही है—सर्वोत्कृष्टरूपसे विद्यमान है।

भावार्थ—जब विभावशक्तिकी अपेक्षा विचार करते हैं तब आत्मामें कषायका उदय दिखाई देता है, और जब शान्त दशाका विचार करते हैं तो शान्तिका प्रसार अनुभवमें आता है। कर्मबन्धकी अपेक्षा जन्म-मरणरूप संसारकी बाधा दिखाई देती है और शुद्धस्वरूपका विचार करने पर मुक्तिस्पर्श अनुभवमें आता है। स्व-परज्ञायकभावकी अपेक्षा विचार करनेपर आत्मा लोकत्रय-का ज्ञाता है और स्वज्ञायकभावकी अपेक्षा एक चैतन्यमात्र अनुभवमें आता है। इस तरह अनेक विरुद्ध धर्मोंके समावेशके कारण आत्मस्वभावकी महिमा अद्भुतोंमें भी अद्भुत—अत्यन्त आश्चर्य-कारी जान पडती है ॥२७३॥

आगे चिच्चमत्कारका स्तवन करते हैं—

मालिनीछन्द

जयति सहजतेजःपुञ्जमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भः
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥२७४॥

अर्थ—अपने स्वभावरूप तेजके पुञ्जमें निमग्न होते हुए तीन लोक सम्बन्धी पदार्थोंसे जिसमें अनेक विकल्प दिखाई देते हैं तो भी जो स्वरूपकी अपेक्षा एक है, जिसे निजरसके समूहसे पूर्ण अबाधित तत्त्वकी उपलब्धि हुई है तथा जिसकी दीप्ति बलपूर्वक नियमित की गई है अर्थात् जो अपने स्वरूपमें निष्कम्प है ऐसा यह चैतन्यचमत्कार जयवंत प्रवर्तता है—सर्वोत्कृष्टरूपसे प्रवर्तमान है।

भावार्थ—यहाँ अन्तमङ्गलरूपसे आचार्य चैतन्यचमत्कारका विजय-गान कर रहे हैं। जिस चैतन्यचमत्कारमें स्वच्छताके कारण प्रतिभासित तीन लोक सम्बन्धी पदार्थोंके निमित्तसे अनेक विकल्प स्खलित हो रहे हैं—रुकते हुए अनुभवमें आ रहे हैं और उन विकल्पोंके कारण जो अनेक-रूप दिखाई देता है तो भी स्वरूपकी अपेक्षा एक ही है, जिसे निजरसके प्रसारसे भरे अखण्ड आत्मतत्त्वकी उपलब्धि हुई है और अनन्तवीर्यके कारण जिसकी दीप्ति स्वकीय स्वभावमें बलात् नियमित की गई है, ऐसा चैतन्यचमत्कार सदा जयवंत प्रवर्ते ॥२७४॥

अब अमृतचन्द्रस्वामी श्लेषालंकारसे अपना नाम प्रकट करते हुए आत्मज्योतिके देदीप्यमान रहनेकी आकांक्षा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम्।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ताज्-
ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ॥२७५॥

अर्थ—जो निश्चल चैतन्यस्वरूपसे युक्त आत्मामें निरन्तर निमग्न आत्माको आत्माके

द्वारा धारण कर रही है जिसने मोहको नष्ट कर दिया है, जो सब ओरसे उदयको प्राप्त है विमल है, पूर्ण है तथा जिसका स्वभाव प्रतिपक्षी कर्मोंसे रहित है ऐसी यह कभी नष्ट न होनेवाली अमृतमय चन्द्रमाकी ज्योतिके समान आह्लाददायक आत्मज्योति सदा देदीप्यमान रहे।

भावार्थ—यहाँ लुप्तोपमालंकारसे आत्माको अमृतचन्द्रज्योति कहा है क्योंकि 'अमृतचन्द्रवत् ज्योतिः' ऐसा समास करनेसे 'वत्' शब्दका लोप हो जाता है तब अमृतचन्द्रज्योति बनता है। यदि अमृतचन्द्ररूपज्योति ऐसा विग्रह किया जाय तो भेदरूपक अलंकार होता है। अथवा अमृतचन्द्रज्योति ऐसा ही कहा जाय आत्माका नाम न कहा जाय तब अभेदरूपक अलंकार होता है। इसके विशेषणोंके द्वारा चन्द्रमासे व्यतिरेक भी है क्योंकि 'ध्वस्तमोह' विशेषण अज्ञानान्धकारका दूर होना बतलाता है 'विमलपूर्ण' विशेषण लाञ्छनरहितपन तथा पूर्णता बतलाता है, 'निःसपत्नस्वभाव' विशेषण राहुबिम्ब तथा मेघ आदिसे आच्छादित न होना बतलाता है तथा 'समन्तात् ज्वलतु'—विशेषण सब क्षेत्र और सब कालमें प्रकाश करना बतलाता है। चन्द्रमा ऐसा नहीं है। यहाँ टीकाकारने अमृतचन्द्र ऐसा श्लेषसे अपना नाम भी सूचित किया है ॥२७६॥

अनुष्टुप

मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिभिः ।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमाम्यहम् ॥१॥

अर्थ—जो कर्मोंसे मुक्त है तथा ज्ञानादिगुणोंसे अमुक्त है उस अविनाशी ज्ञानमूर्ति परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ।

अब द्रव्यकी अपेक्षा सप्तभङ्गीका अवतार करते हैं—

(१) स्यादस्ति द्रव्यम्। (२) स्यान्नास्ति द्रव्यम्। (३) स्यादस्ति नास्ति च द्रव्यम्। (४) स्यादवक्तव्यं द्रव्यम्। (५) स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्। (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्। स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्।

इनमें सर्वथापनका निषेध करनेवाला अनेकान्त अथवा द्योतक, कथञ्चित् अर्थवाला निपातरूप स्यात् शब्दका प्रयोग किया गया है। इन सातों भंगोंका सार इस प्रकार है—

(१) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल भावकी अपेक्षासे द्रव्य है।
(२) परद्रव्य-क्षेत्र-काल भावकी अपेक्षासे द्रव्य नहीं है। परद्रव्य परक्षेत्र, परकाल और परभावका द्रव्यमें अभाव है।
(३) क्रमसे स्व परद्रव्य-क्षेत्र-काल भावकी अपेक्षासे द्रव्य है और नहीं है।
(४) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल भाव तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल भावसे युगपत् कहे जानेकी अशक्यताकी अपेक्षासे द्रव्य अवक्तव्य है।
(५) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल भाव और युगपत् स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल भावकी अपेक्षासे द्रव्य है तथा अवक्तव्य है।
(६) परद्रव्य-क्षेत्र-काल भाव तथा युगपत् स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल भावकी अपेक्षासे द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है।

परिशिष्ट १

तात्पर्यवृत्तिमें व्याख्यात और आत्मख्यातिमें अव्याख्यात अतिरिक्त गाथाओंका अर्थ—

(१० वीं और ११ वीं गाथाके बीच)

णाणम्हि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।
ते पुण तिण्णि वि आदा तम्हा कुण भावणं आदे ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोमे भावना करना चाहिये और वे तीनो चूँकि आत्मा हैं इसलिए आत्मामें करना चाहिये।

भावार्थ—पूर्वार्धमे गुण और गुणीका भेद स्वीकृत कर सम्यग्दर्शनादि तीन गुणोका पृथक् निर्देश किया है और उत्तरार्धमे गुण-गुणीका अभेद स्वीकृत कर कहा गया है कि जिस कारण सम्यग्दर्शनादि तीनो गुण आत्मा ही हैं इसलिये आत्माकी ही भावना करना चाहिये।

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थ—जो मुनि निरन्तर उसी ओर उपयोग लगाकर इस आत्म-भावनाको करता है वह थोड़े ही समयमे समस्त दु खोंसे छुटकारा पा जाता है।

भावार्थ—आत्मध्यानकी अपूर्व महिमा है। निरन्तर तन्मयीभावसे जो आत्मध्यान करता है—सब ओरसे विकल्प-जालको हटाकर आत्मस्वरूपमे स्थिर होता है वह शीघ्र ही मोक्षका पात्र होता है।

(१५ वीं और १६ वीं गाथाके बीचमे)

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥

अर्थ—निश्चयसे मेरा आत्मा ज्ञानमे है, दर्शनमे है, चारित्रमे है, प्रत्याख्यानमे है, सवरमे है और योग—निर्विकल्पक समाधिमे है।

भावार्थ—गुण-गुणीमे अभेद-विवक्षासे कथन है कि मेरा आत्मा ही ज्ञानदर्शनादिरूप है।

(१९ वीं और २० वीं गाथाके बीच)

जीवे व अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो ।
तत्थेव बंधमोक्खो हवदि समासेण णिद्दिट्ठो ॥

अर्थ—आत्मा वर्तमान समयमे जिस जीव अथवा अजीवमे उपयुक्त होता है—तन्मयीभावसे उन्हे उपादेय मानता है उसीमे बन्ध और मोक्ष होता है, ऐसा सक्षेपसे कहा गया है।

भावार्थ—जब रागादिक अजीव परिणाममें तन्मय होकर उन्हें ही उपादेय मानता है, तब बन्ध होता है और जब जीव—शुद्ध आत्मस्वरूपमें तन्मय होकर उसे ही उपादेय मानता है तब मोक्ष होता है ॥

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥

अर्थ—आत्मा निश्चयनयसे जिस भावको करता है वह उसी भावका कर्ता होता है और व्यवहारसे पुद्गलकर्मोंका कर्ता है।

भावार्थ—शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा अपने ज्ञानादिभावोंका कर्ता है, अशुद्धनिश्चयनयसे रागादिक अशुद्धभावोंका कर्ता है और अनुपचरित असद्भूत-व्यवहारनयसे पुद्गलरूप द्रव्यकर्मादिकका कर्ता है।

(७५ और ७६ वीं गाथाके बीच)

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥

अर्थ—आत्मा कर्ता कहा गया है और कर्ता नहीं कहा गया है सो किस उपायसे ? इसे जो जानता है तथा धर्म-अधर्मरूप परिणामोंको जो जानता है वह ज्ञानी है।

भावार्थ—निश्चयनयसे आत्मा कर्ता नहीं है और व्यवहारनयसे कर्ता है ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी है। इसी तरह जो पुण्य-पापरूप परिणामोंको समझता है वह ज्ञानी है।

(८६ और ८७ वीं गाथाके बीच)

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ॥

अर्थ—आत्मा उदयागत द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर जिस प्रकार अपने भावको करता है उसी प्रकार द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर अपने भावका वेदन करता है।

भावार्थ—निश्चयनयसे आत्मा अपने ही भावका कर्ता है और अपने ही भावका भोक्ता है।

(१२५ और १२६ वीं गाथाके बीच)

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं णिस्संगं साहु परमट्ठवियाणया विंति ॥

मणसाए दुक्खावेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वा वि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदि कुणसि ।
सव्वा वि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
कायेण च वाया वा मणेण सुहिदे करेमि सत्ते ति ।
एवं पि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥

अर्थ—मै शरीरके द्वारा जीवोको दु खी करता हूँ, यदि ऐसी तू बुद्धि करता है तो तेरी यह सब बुद्धि मिथ्या है क्योकि कर्मके द्वारा ही जीव दु खी होते है।

मैं वचनके द्वारा जीवोको दु खी करता हूँ, यदि ऐसी बुद्धि करता है तो तेरी यह सब बुद्धि मिथ्या है क्योकि कर्मके द्वारा ही जीव दु खी होते है।

मै मनके द्वारा जीवोको दु खी करता हूँ, यदि ऐसी तेरी बुद्धि है तो तेरी यह सब बुद्धि मिथ्या है क्योकि कर्मोके द्वारा जीव दु खी होते है।

मै शास्त्रके द्वारा जीवोको दु खी करता हूँ, ऐसी यदि तेरी बुद्धि है तो यह सब मिथ्या है क्योकि जीव कर्मसे ही दु खी होते है।

मै शरीर, वचन और मनके द्वारा जीवोको सुखी करता हू, ऐसी यदि तेरी बुद्धि है तो यह सब मिथ्या है क्योकि कर्मसे ही जीव सुखी होते है।

(२७० और २७१ वीं गाथाके बीच)

जा संकप्पवियप्पो ता कम्म कुणदि असुहसुहजणय ।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ ॥

अर्थ—जब तक बाह्य पदार्थोमे सकल्प और विकल्प करता है तथा जब तक हृदयमे आत्मस्वरूप ऋद्धि प्रस्फुरित नही होती है तब तक शुभ-अशुभको उत्पन्न करनेवाले कर्मको करता है।

भावार्थ—स्त्री, पुत्र तथा शरीर आदि पदार्थोमे 'ये मेरे है' इस प्रकारके भावको सकल्प कहते हैं, और अन्तरङ्गमे हर्ष-विषादरूप परिणतिको विकल्प कहते है। जब तक ये दोनो विद्यमान रहते है तब तक पुण्य-पाप कर्मोका बन्ध होता है। परन्तु जब हृदयमे शुद्धात्मस्वरूपका ध्यान जागृत होता है और उपर्युक्त सकल्प-विकल्प दूर हो जाते है तब सब प्रकारका बन्ध रुक जाता है।

(२८५ और २८६ के बीच)

आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।
कहमणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा ॥

आधाकम्म उद्देसिय च पोग्गलमय इम दव्व ।
कह त मम कारविद ज णिच्चमचेदण वुत्त ॥

अर्थ—अध कर्म आदिक जो ये पुद्गलद्रव्यके दोष हैं उन्हें तू आत्माके कैसे मानता है क्योंकि ये दूसरके द्वारा—गृहस्थके द्वारा किये हुए परके आहारस्प पुद्गलके गुण हे।

अध कर्म और उद्देश्यसे बनाया गया जो आहार है वह पुद्गलद्रव्यमय है वह मेरा कराया हुआ कैसे हो सकता है क्योंकि वह तो नित्य अचेतन कहा गया है।

(३१६ और ३१७ वीं गाथाके बीच)

जो पुण णिरावराहो चेदा णिस्सकिदो दु सो होदि ।
आराहणाए णिच्च वट्टदि अहमिदि वियाणतो ॥

अर्थ—जो अज्ञानी जीव सापराध है वह तो सशङ्कित होता हुआ कर्मफलको तन्मय होकर भोगता है। परन्तु जो निरपराध ज्ञानी पुरुष है वह कर्मोदय होनेपर क्या करता है, यह इस गाथामें बतलाते हुए कहा है कि—

जो ज्ञानी पुरुष निरपराध है वह निःशङ्कित रहता है और मैं ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा जानता हुआ निरन्तर उसकी आराधनामें तत्पर रहता है।

(३३१ और ३३२ वीं गाथाके बीच)

सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाण ।
तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥

अर्थ—यदि सम्यक्त्वप्रकृति आत्माको सम्यग्दृष्टि करती है ऐसा माना जाय तो तेरे मतमें अचेतन प्रकृति सम्यक्त्वको करनेवाली हुई।

•

परिशिष्ट २

समयप्राभृतकी अकारादि क्रमसे गाथानुक्रमणी

०

परिशिष्ट ३

कलश-काव्योंकी अनुक्रमणी

उद्धृत श्लोक और गाथाओंकी अनुक्रमणी

शब्द-कोष

गा०

अतिव्याप्ति दोष ६८

जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोंमें रहे ऐसा लक्षण जैसे जीव अमूर्तिक है।

अधर्म ३७

जीव और पुद्गलके ठहरनेमें सहायक द्रव्य।

अध्यवसान ३०

आत्माकी रागादिरूप परिणतिको अध्यवसान कहते हैं।

अध्यात्मस्थान ५२

स्व और परमें एकत्वका भाव होना।

अनुभागस्थान ५२

कर्मप्रकृतियोंके फलदानकी तरतमता।

अनुमोदना (अनुमनन)

किसी कार्यकी अनुमोदना करना।

अनेकान्त १

वस्तुमें रहनेवाले परस्पर विरोधी अनेक धर्मोंका सद्भाव।

अपर्याप्त ६७

अपर्याप्तकके दो भेद हैं—१ निर्वृत्त्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक। जिनकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण तो नहीं हुई है परन्तु नियमसे पूर्ण हो जायगी वे निर्वृत्त्यपर्याप्तक कहलाते हैं। गर्भ और उपपाद जन्म वालोंको प्रथम अन्तर्मुहूर्तमें यह अवस्था होती है। उसके बाद वे नियमसे पर्याप्तक हो जाते हैं। जिनकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है और न होगी वे लब्ध्यपर्याप्तक हैं। यह अवस्था सम्मूर्च्छन जन्मवाले मनुष्य और तिर्यञ्चोंके ही होती है।

अप्रतिबुद्ध १९

कर्म नोकर्मको आत्मरूप और आत्माको कर्म-नोकर्म रूप माननेवाला जीव अप्रतिबुद्ध है—अज्ञानी है।

अप्रमत्त ६

सप्तमगुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके जीवोंको अप्रमत्त कहते हैं।

अभव्य २७३

जिसे रत्नत्रय प्राप्त होनेकी योग्यता न हो उसे अभव्य कहते हैं। इसके विपरीत जिसे रत्नत्रय प्राप्त करनेकी योग्यता है उसे भव्य कहते हैं।

अमूढदृष्टि अंग २३२

समस्त भावोंमें मूढता नहीं करना।

अमेचक १६

आत्माकी शुद्ध अवस्थाको अमेचक कहते हैं।

अवधिज्ञान २०४

जो इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना रूपी द्रव्योंको अवधि—सीमा लिये हुए जानता है वह अवधिज्ञान है। इसके २ भेद हैं—*भवप्रत्यय और क्षयोपशम निमित्तक*।

अविरतिभाव ८९

असंयमरूप भावको अविरतिभाव कहते हैं। यह प्राणि-असंयम और इन्द्रिय-असंयमके भेदसे दो प्रकारका है। प्राणि-असंयमके ६ और इन्द्रिय-असंयमके ६ भेद हैं।

अज्ञान २३

मिथ्यात्वसे दूषित ज्ञान अज्ञान है। इसके कुमति कुश्रुत और कुअवधिके भेदसे तीन भेद हैं।

गाथा

अव्याप्तिदोष ६८

लक्ष्यके एक देशमें रहनेवाला लक्षण, जैसे जीव रागादिसे रहित है।

असभव ५८

जिसका लक्ष्यमें रहना सम्भव न हो, जैसे जीवका लक्षण अज्ञान

आधःकर्म २८७

जो आहार पापकर्मसे उपार्जितद्रव्यके द्वारा बनाया गया है उसे आध कर्म कहते हैं।

आभिनिबोधिक ज्ञान २०४

यह मतिज्ञानका दूसरा नाम है। इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। इसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा भेदसे चार भेद हैं।

आलोचना ३८५

वर्तमानके दोषोपर पश्चात्ताप करना।

आस्रव ६९

आत्मामें कर्मप्रदेशोका आगमन आस्रव कहलाता है। इसके द्रव्यास्रव और भावास्रवके भेदसे दो भेद हैं।

उदयस्थान ५३

अपना फल प्रदान करनेमें समर्थ कर्मोकी उदयावस्था।

उद्देशिक २८६

जो आहार किसीके निमित्तसे बनाया जाता है उसे उद्देशिक कहते हैं।

उपगूहन अग २३३

परनिन्दाका भाव नहीं होना। इस अगका दूसरा नाम उपबृंहण भी है, जिसका अर्थ आत्मगुणोकी वृद्धि करना है।

उपयोग ३६

आत्माकी चैतन्यगुणसे सम्बन्ध रखने वाली परिणतिको उपयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं—१ ज्ञानोपयोग और २ दर्शनोपयोग।

गाथा

उपादान कारण ८२

जो स्वयं कार्यरूप परिणमता है वह उपादान कारण है, जैसे घटका उपादान मिट्टी।

उपादानोपादेयभाव ११

जो स्वय कार्यरूप परिणमन करता है वह उपादान है, और उससे जो कार्य होता है वह उपादेय है। यह उपादानोपादेयभाव एक द्रव्यमें ही होता है, भिन्न द्रव्योमें नही।

कर्तृकर्मभाव ७०

जो कार्यरूप परिणमन करता है उसे कर्ता और जो परिणमन है उसे कर्म कहते हैं। जैसे 'मिट्टीसे घट बना', यहां मिट्टी कर्ता है और घट कर्म है।

कर्म १९

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म आत्माके प्रत्येक प्रदेशोके साथ कार्मणवर्गणाके कर्मरूप होनेके उम्मेदवार पुद्गल परमाणु लगे हुए हैं। आत्माके रागादि भावोका निमित्त पाकर वे कर्मरूप परिणम जाते हैं।

कर्मबन्धनके चार पाये २२९

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग।

कषाय १६३

जो आत्माके चारित्रगुणका घात करे उसे कषाय कहते हैं। इसके अनन्तानुबन्धी आदि १६ भेद हैं।

केवलज्ञान २०४

जो सर्वद्रव्य और उनकी सब पर्यायोको युगपत् जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं।

कारित २२४ (क०)

किसी कार्यको दूसरोसे कराना।

कृत २२४ (क०)

किसी कार्यको स्वय करना।

क्रियानय २६६ (क०)

चारित्रके आचरणपर बल देना।

गर्हा ३०६

गुरुकी साक्षीपूर्वक दोशोका प्रकट करना गर्हा है।

गाथा

गुण ७१

जो द्रव्यके आश्रय रहें परन्तु दूसरे गुणसे रहित हों उसे गुण कहते हैं। ये गुण सामान्य और विशेषकी अपेक्षा दो प्रकारके हैं।

गुणस्थान ५५

मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले आत्मपरिणामोंके तारतम्यको गुणस्थान कहते हैं। इसके १४ भेद हैं—१ मिथ्यात्व २ सासादन ३ मिश्र ४ असंयत सम्यग्दृष्टि ५ देशसंयत ६ प्रमत्तसंयत ७ अप्रमत्तसंयत ८ अपूर्वकरण ९ अनिवृत्तिकरण १० सूक्ष्म साम्पराय ११ उपशान्तमोह १२ क्षीणमोह १३ सयोगकेवली और १४ अयोगकेवली।

विशेष ज्ञानके लिये जीवकाण्डका गुणस्थानाधिकार द्रष्टव्य है।

गुप्ति २७३

मन वचन कायरूप योगोंका अच्छी तरह निग्रह करनेको गुप्ति कहते हैं। इसके ३ भेद हैं—१ मनोगुप्ति २ वचनगुप्ति और ३ कायगुप्ति।

चारित्र २

निश्चयसे आत्मस्वरूपमें स्थिरताको चारित्र कहते हैं। व्यवहारसे आत्मस्वरूपमें स्थिरता प्राप्त करानेमें सहायक व्रत समिति गुप्ति आदिको चारित्र कहते हैं।

चिदात्मा २७५ (क)

चैतन्यस्वरूप आत्मा

जितेन्द्रिय ३१

जो स्पर्शन, रसन घ्राण चक्षु और कर्ण इन पाँच इन्द्रियोंको अपने नियन्त्रणमें रखता है वह जितेन्द्रिय है।

जीवस्थान ५५

जीवोंके समस्त भेदोंको संगृहीत करना जीवसमास है। उसके १४ भेद हैं। यथा—एकेन्द्रियके बादर और सूक्ष्मकी अपेक्षा दो भेद द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय इन सात समासोंके पर्याप्त और अपर्याप्तकी अपेक्षा दो-दो भेद करनेसे १४ जीवसमास होते हैं। जीवसमासके ५७ तथा ९८ भी भेद होते हैं। विस्तारके लिये जीवकाण्डका जीवसमास प्रकरण द्रष्टव्य है।

ज्ञान २

निश्चयसे आत्मतत्त्वका संशय विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। व्यवहारसे जीवादि प्रयोजनभूत पदार्थोंमें यथार्थज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यही ज्ञान जब मिथ्यात्वके उदयसे दूषित होता है तब मिथ्याज्ञान कहलाता है।

ज्ञायकभाव ६

जीवादि पदार्थोंको जाननेवाला आत्माका भाव ज्ञायकभाव कहलाता है।

ज्ञेय-ज्ञायकभाव १५

जिसे जाना जावे उसे ज्ञेय कहते हैं और जो जाननेवाला है उसे ज्ञायक कहते हैं।

ज्ञाननय २६६ (क)

जाननेपर बल देना।

तप २७३

इच्छाओंके निरोधको तप कहते हैं। इसके बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो भेद हैं। बाह्य तप अनशन ऊनोदर वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग विविक्तशय्यासन और कायक्लेशके भेदसे छह प्रकारका है। और आभ्यन्तर तप प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यानके भेदसे छह प्रकारका है।

तीर्थंकर २६

धर्मकी आम्नायको चलानेवाले तीर्थंकर कहलाते हैं। ये प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीमें चौबीस चौबीस होते हैं।

त्रिविध उपयोग ९५

मिथ्यादर्शन अज्ञान और अविरति।

दर्शन

निश्चयसे परद्रव्योंसे भिन्न और

गाथा

मनःपर्ययज्ञान २०४

जो इन्द्रियोंकी सहायताके विना दूसरेके मनमें स्थित रूपी पदार्थोंको जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। इसके २ भेद हैं—१ ऋजुमति और २ विपुलमति।

मार्गणास्थान ५३

जिनमें जीवकी खोज की जाये उसे मार्गणा कहते हैं। इसके गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारके भेदसे चौदह भेद हैं।

मिथ्यात्व ८७

परपदार्थसे भिन्न आत्माकी प्रतीति नही होना मिथ्यात्व है। अथवा जीवादि सात तत्वों या नौ पदार्थोका यथार्थ श्रद्धान नही होना मिथ्यात्व है।

मुक्ति २७३ (क)

जीवकी समस्त कर्मरहित शुद्ध अवस्था।

मेचक १६

आत्माकी कर्मोदयसे कलुषित अवस्थाको मेचक कहते हैं।

मोक्षपथ १५५

जीवादि पदार्थोंका श्रद्धानरूप सम्यक्त्व, उनके ज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान और रागादिक परित्यागरूप चारित्र ये तीनों ही मोक्षके पथ हैं।

योगस्थान ५३

काय, वचन और मनके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंमें होनेवाले परिस्पन्दको योगस्थान कहते हैं।

राग ५१

प्रीतिरूप परिणाम

लवणखिल्यलीला १५

जिस प्रकार नमकडली सब ओरसे खारी है

गाथा

उसी प्रकार आत्मा सब ओरसे ज्ञायक स्वभाव है।

वर्ग ५२

अविभागप्रतिच्छेदोंके धारक कर्मपरमाणुओंको वर्ग कहते है।

गाथा

वर्गणा ५२

वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं।

वात्सल्य अंग २३५

साधुओंके मोक्षमार्गमें स्नेहभाव होना।

विकल्प १३

चारित्रमोहके उदयसे परपदार्थोंमें जो ममत्वभाव होता है उसे विकल्प कहते हैं।

विशुद्धिस्थान ५४

कषायके उदयकी मन्दतारूप स्थान।

वेद्य-वेदकभाव २१६

आत्मा जिस भावका वेदन करता है वह वेद्य है और वेदन करनेवाला आत्मा वेदक है।

व्यवहारनय ११

जो किसी अखण्डद्रव्यमें गुण-गुणीका भेद करता है। अथवा दूसरे द्रव्यके सयोगसे होनेवाले भावोंको दूसरे द्रव्यका जानता है वह व्यवहारनय है।

व्रत २७३

हिंसादि पांच पापोंके त्यागको व्रत कहते हैं। यह त्याग एकदेश और सर्वदेशकी अपेक्षा दो प्रकारका है। एकदेशत्यागको अणुव्रत और सर्वदेशत्यागको महाव्रत कहते हैं।

व्याप्य-व्यापकभाव ७५

जिसमें व्याप्त हुआ जावे उसे व्याप्य और जो व्याप्त हो उसे व्यापक कहते हैं। जैसे मिट्टीका घडा। यहाँ घडा व्याप्य है और मिट्टी व्यापक है। यह व्याप्य-व्यापकभाव एक ही द्रव्यमें बनता है।

शील २७३

इन्द्रियदमनको शील कहते हैं।

शुद्धनय ११

जो द्रव्यको अभेदरूपसे जानता है तथा परद्रव्यके सयोगसे होनेवाले भावको उस द्रव्यका स्वभाव नही समझता वह शुद्धनय है। इसीका नाम निश्चय नय है।

गाथा

शुद्धि ३०६

गुरुके द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्तको धारण करना शुद्धि है।

श्रुतज्ञान २०४

मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थको विशेषतासे जानना श्रुतज्ञान है। इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मकके भेदसे २ भेद हैं।

श्रुतकेवली १

द्वादशाङ्गके ज्ञाता मुनि। ये मुनि छठवें गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। श्रुतकेवलीका लक्षण ९ १० गाथामें देखें।

समय १

आत्मा, अथवा जीवाजीवादि समस्त पदार्थ।

समयप्राभृत १

जीवका निरूपण करनेवाला शास्त्र अथवा समस्त पदार्थोंका सार—जीवतत्त्व।

समिति २७३

प्रमादरहित प्रवृत्तिको समिति कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—१ ईर्या २ भाषा ३ एषणा ४ आदान निक्षेपण और ५ प्रतिष्ठापन।

सर्वज्ञ २४

समस्त द्रव्य तथा उनकी अनन्तानन्त पर्यायोंको जाननेवाला सर्वज्ञ कहलाता है।

संकल्प १३

दर्शनमोहके उदयसे परपदार्थोंमें जो आत्मबुद्धि होती है उसे संकल्प कहते हैं।

संक्लेशस्थान ५४

कषायके उदयकी तीव्रताके स्थान।

संयमलब्धिस्थान ५४

चारित्रमोहके विपाककी क्रमसे निवृत्ति होनेके स्थान।

गाथा

संवर १८१

नवीन कर्मोंका नहीं आना संवर है।

संस्थान ५०

आकृति। इसके समचतुरस्रसंस्थान आदि ६ भेद हैं।

संहनन ५०

शरीरगत हड्डियोंका विन्यास। इसके वज्रवृषभनाराचसंहनन आदि ६ भेद हैं।

सिद्ध १

जिनकी आत्मासे समस्त कर्मोंका सम्बन्ध सदाके लिये छूट जाता है वे सिद्ध कहलाते हैं। ये सिद्ध लोकके अग्रभागमें तनुवातवलयसम्बन्धी उपरितन ५२५ धनुष क्षेत्रमें रहते हैं।

स्थितिबन्धस्थान ५४

भिन्न भिन्न स्वभाववाली कर्मप्रकृतियोंका कालान्तरमें स्थित रह सकना।

स्थितीकरण २३४

उन्मार्गमें जाते हुए अपने आपको तथा परको स्थिर करना।

स्पर्धक ५२

वर्गणाओंके समूहको स्पर्धक कहते हैं।

संयम २६६ (क)

इन्द्रिय-मनोनिग्रह और प्राणिरक्षण।

स्याद्वाद २४६ २६६ २६८ (क)

स्यात् (कथंचित्) की अपेक्षासे कथन करना। इसे अपेक्षावाद भी कहते हैं।

स्याद्वादशुद्धि २६४ (क)

एकान्तका निरास करके अनेकान्तका प्रतिपादन करना।

स्वसमय २

जो अपने दर्शन ज्ञान और चारित्र स्वभावमें स्थित हैं उसे स्वसमय कहते हैं।

६ निर्जराधिकार

अनन्तर निर्जराका प्रवेश होता है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः ।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ॥१३३॥

अर्थ—उधर रागादिक आस्रवोंके रुकनेसे निजधुराको धारणकर उत्कृष्ट संवर, आगामी सभी कर्मोंको अपने अतिशयसे दूरसे ही रोकता हुआ स्थित था, इधर अब पहलेके बँधे हुए कर्मोंको जलानेके लिये निर्जरारूप अग्नि विस्तारको प्राप्त हो रही है। इस तरह संवर और निर्जराके द्वारा ज्ञानज्योति इस प्रकार प्रकट होती है कि जिससे वह रागादिकके द्वारा फिरसे मूर्च्छित नहीं होती ।

भावार्थ—राग-द्वेष आदिक आस्रवको रोककर जब संवर अपनी पूर्ण शक्तिके साथ प्रकट होता है तब वह अपनी सामर्थ्यसे आगामी कर्मोंको दूरसे रोक देता है अर्थात् संवरके होनेपर आगामी कर्मोंका आगमन रुक जाता है। और पहलेके बँधे हुए जो कर्म सत्तामें रहते हैं उन्हें नष्ट करनेके लिये निर्जरा आगे आती है। इस तरह संवरपूर्वक निर्जराके होनेपर इस जीवके वह ज्ञानज्योति—वह वीतराग विज्ञानता प्रकट होती है कि जो फिरसे रागादिकमें मूर्च्छित नहीं होती ॥१३३॥

आगे सम्यग्दृष्टिकी सभी प्रवृत्तियाँ निर्जराका निमित्त हैं, यह कहते हैं—

उपभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१९३॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि चेतन और अचेतन पदार्थोंका इन्द्रियोंके द्वारा जो उपभोग करता है वह सब निर्जराका ही कारण होता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि मनुष्यका उपभोग निर्जराके लिये ही होता है, और रागादिकभावोंके सद्भावमें मिथ्यादृष्टिजीवके जो चेतन-अचेतन द्रव्योंका उपभोग है वह बन्धका ही निमित्त है। वही उपभोग रागादिकभावोंका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि जीवके निर्जराका ही निमित्त होता है। इस प्रकार यहाँ द्रव्यनिर्जराका स्वरूप कहा गया है।

सम्यग्दर्शनकी महिमा वचनोंके अगम्य है, सम्यग्दर्शन होते ही गुणश्रेणी निर्जराका प्रारम्भ हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियोंके द्वारा जो चेतन-अचेतन द्रव्योंका उपभोग करता है उसमें उसकी अन्तरंग विरक्ति रहती है। चारित्रमोहके उदयकी बलवत्तासे वह विषयोंके उपभोगमें प्रवृत्त होता है। पर अन्तरंग उसका उस ओरसे विरक्त ही रहता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीवके कर्म, विपाकावस्था आनेपर अपना फल देकर खिर तो जाते हैं पर नवीन बन्धके कारण नहीं बनते ॥१९३॥

अब भावनिर्जराका स्वरूप कहते हैं—

> दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं व दुक्खं वा।
> तं सुह-दुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥१९४॥

अर्थ—परद्रव्यके उपभुक्त होनेपर नियमसे सुख और दुःख उत्पन्न होता है उदयमें आये हुए उस सुख और दुःखको यह जीव अनुभवता है फिर आस्वाद देकर वह कर्मद्रव्यनिर्जराको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—जिस कालमें परद्रव्यका उपभोग होता है उस कालमें उसके निमित्तसे साता अथवा असाताका अतिक्रमण न कर जीवके या तो सुखरूप वेदन होता है अथवा दुःखरूप वेदन होता है यह नियम है। जिस समय उसका वेदन होता है उस समय मिथ्यादृष्टि जीवके रागादि भावोंका सद्भाव होनेसे बन्धका निमित्त होकर निर्जीर्यमाण होकर भी अनिर्जीर्यमाण होता हुआ बन्ध ही होता है और वही वेदन सम्यग्दृष्टि जीवके रागादिक भावोंका अभाव होनेसे बन्धका निमित्त न होकर निर्जीर्यमाण होता हुआ निर्जराको प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि परद्रव्यके उपभोगके समय सुख अथवा दुःखका होना अवश्यभावी है। मिथ्यादृष्टि जीव रागादिक विकारीभावोंके कारण उस सुख अथवा दुःखरूप परिणमनको आत्माका स्वभाव जानकर आगामी नवीन बन्ध करता है। इसलिये उसका कर्म निर्जीर्यमाण होनेपर भी अनिर्जीर्यमाण जैसा रहता है। परन्तु सम्यग्दृष्टिजीव अनन्त संसारके कारणभूत रागादिक विकारीभावोंका अभाव होनेसे उस सुख अथवा दुःखरूप परिणमनको आत्माका स्वभाव नहीं समझता है इसलिये उसका कर्म निर्जीर्यमाण होकर निर्जराको ही प्राप्त होता है, आगामी बन्धका कारण नहीं होता है। ज्ञानकी इस महिमाका वर्णन कलशा द्वारा करते हैं—

> तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
> यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥१३४॥

अर्थ—यह ज्ञानकी ही सामर्थ्य है अथवा निश्चयकर वीतरागभावकी महिमा है कि कोई जीव (सम्यग्दृष्टिजीव) कर्मका उपभोग करता हुआ भी कर्मोंके द्वारा नहीं बँधता है ॥१३४॥

इसके अनन्तर ज्ञानकी सामर्थ्य दिखाते हैं—

> जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
> पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी ॥१९५॥